"A CRITICAL AND COMPERATIVE STUDY OF THE ETHICAL DOCTRINES OF DHAMMPAD AND SRIMADBHAGWADGEETA."

श्रीमद्भगवद्गीता और धम्मपद के नैतिक उपदेशों का तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन
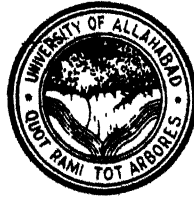
डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (दर्शनशास्त्र) की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

अनुसंधाता

प्रवीण कुमार शुक्ल

शोध छात्र

दर्शन-विभाग

विश्वविद्यालय इलाहाबाद

निर्देशक

डॉ० सी०एल० त्रिपाठी

पूर्व रीडर

दर्शन-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

दर्शन विभाग, कला संकाय

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

2001

स्वतंत्र एवं उच्च विचारों से परिपूर्ण श्रद्धेय पिता जी श्री छोटे लाल शुक्ल

तथा

ममता एवं त्याग की देवी पूज्यनीया माता जी श्रीमती सीता देवी

के

कमलवत चरणों

में

सादर समर्पित

जिनका असीम साहस एवं धैर्य मेरे जीवन की
कठिनतम परिस्थितियों में भी आशा की
एक किरण है।

प्रवीण कुमार शुक्ल

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में संसार के दो व्यापक और महत्त्वपूर्ण धर्मो के धर्म ग्रन्थो मे उल्लिखित नैतिक उपदेशो का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। मिशनरी प्रयत्नो से बौद्ध धर्म का विश्व भर मे प्रचार-प्रसार किया गया और पश्चिम मे हिन्दू धर्म के सम्बन्ध मे अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न की गई। जैसे— वर्ण सकीर्णता और धार्मिक कर्मकाण्डो को ही हिन्दू धर्म का आधार मानकर उसका उपहास किया गया। हिन्दू धर्म संसार के प्रमुख धर्मो मे से एक है। हिन्दू होने के नाते लेखक ने हिन्दू धर्म की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है किन्तु वह किसी भी धर्म के लिए पूर्व ग्राही नही है। यथासभव उसने अपना दृष्टिकोण निष्पक्ष और वैज्ञानिक रखा है।

हिन्दू और बौद्ध धर्म के मूल स्रोतो मे भौगोलिक दूरी रही है फिर भी दोनो मे अनेक समानताएँ है। दोनो ही धर्म नैतिकता (धर्म) पर जोर देते हैं। दोनों ही मनुष्य के सर्वोच्च कल्याण की चिन्ता करते है।

सनातन् सभ्यता और भारतीय वाड्मय का एक अभूतपूर्व चमत्कारिक शब्द है नैतिक आदर्श, संसार की अन्य भाषा में इसके तुल्य शब्द नही है। नैतिकता का अर्थ है धर्म जो कि वह तत्व है जिससे किसी वस्तु का अस्तित्व सभव होता है। इस अर्थ मे धर्म वह है जिससे हम है जैसे प्रेम धर्म है, शान्ति धर्म है, सेवा धर्म है, इन्द्रिय संयम धर्म है, धर्म का एक अर्थ वर्णाश्रम मे विशिष्ट कर्त्तव्य है। धर्म का लक्ष्य जगत् मे व्यवस्था की स्थापना तो है ही, साथ ही पारलौकिक स्वार्गादि की प्राप्ति तथा मोक्ष रूपी परम पुरुषार्थ की प्राप्ति भी इसका गन्तव्य है। अत: निश्चित ही धर्म का विषय अत्यन्त् गम्भीर एवं गहन है।[1]

नैतिकता के विषय में जानकारी का एक मात्र स्रोत अनादि वेद है। धर्म रूपी प्रवृत्ति मार्ग तथा मोक्ष रूपी निवृत्ति मार्ग का ज्ञान श्रुतियो के बिना संभव नहीं है। वेद मे कहे गये विषयो का उपबृंहण करने के लिए इतिहास एवं पुराण ग्रन्थों की रचना हुई है। इस दृष्टि से महाभारत धर्म की व्याख्या करने वाला एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक ग्रन्थ है। कर्त्तव्या कर्त्तव्य की विकट परिस्थिति में पड़े मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का निश्चय किस निकष पर करना चाहिए इसका सोदाहरण जीवन्त वर्णन श्रीमद्‌भगवद्‌गीता मे हुआ है। गीता मे शाश्वत धर्म के अतिरिक्त वर्णाश्रम के विशिष्ट एवं आपत्ति कालीन धर्म, राजधर्म, नारी-धर्म इत्यादि की सांगोपांग चर्चा है। भगवद्‌गीता को धर्मशास्त्र की एक जीवित पुस्तक कहा जाय तो अनुचित न होगा।

भगवद्‌गीता के रचयिता श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास न केवल वेदो के विस्तारक एवं अठारह पुराणो के रचयिता थे वरन् संक्षेप में उपनिषदों का तत्व समझाने के लिए 'ब्रह्मसूत्र' नामक ग्रन्थ के निर्माता भी। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम

एव मोक्ष के विषय मे जो कुछ भी कथनीय था वह सब गीता मे कह दिया है। उपक्रम एव उपसहार की दृष्टि से देखा जाय तो भी गीता का मुख्य विषय नैतिक उपदेश का निश्चय ही है अत· गीता और धम्मपद मे नैतिक उपदेशो की अवधारणा विषय पर शोध की दृष्टि अत्यन्त उपयुक्त है। इन्ही सब समस्याओ को आधार मानकर शोध प्रबन्ध की रूप रेखा इस प्रकार बनायी गई है—

सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध को एकादश अध्यायों मे विभक्त किया गया है—

प्रथम अध्याय में भगवद्गीता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को दो विभाग मे विभाजित किया गया है। जिसमे प्रथम भाग (क) मे श्रीमद्भगवद्गीता के रचयिता और रचना का काल निर्धारण प्रामाणिक मतो द्वारा किया गया है। द्वितीय भाग (ख) मे श्रीमद्भगवद्गीता की सामाजिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत लोकमान्य तिलक, महात्मा गॉधी, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन जैसे आदि विद्वानो पर गीता के उपदेशो की प्रभाविता का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय मे (श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षाएँ) के अन्तर्गत गीता के उपदेशों की व्याख्या की गई है। जिसमे इन उपदेशों का निस्सरण वेद, उपनिषद् और पुराण से ही दिखाया गया है। ग्रन्थ परिचय के साथ-साथ भगवद्गीता पर विभिन्न भाष्यकारों के विवाद की भी विवेचना की गई है। जर्मन दार्शनिक इमैन्युवल काण्ट के कर्त्तव्य के लिए कर्तव्य सिद्धान्त, ब्रेडले के मेरा स्थान और उसके कर्त्तव्य तथा ग्रीन के सदिच्छा सिद्धान्त से तुलना करके इसके उपदेशो की सार्वभौमिकता को सिद्ध किया गया है।

तृतीय अध्याय में आत्मा की अमरता का उल्लेख है जिसको तीन विभागो मे विभक्त किया गया है। प्रथम भाग-क मे परमतत्व आत्मा या ब्रह्म का विषद विवेचन है। जिसमे यह दिखाया गया है कि भगवद्गीता मे परमतत्व (ब्रह्म) की अवधारणा उपनिषदो पर ही आधारित है। द्वितीय भाग (ख) मे ईश्वर की विवेचना की गई है जिसमे ईश्वर के सगुण और निर्गुण स्वरूप की व्याख्या की गई है और यह दिखाया गया है कि सगुण ईश्वर के रूप मे वह सृष्टि कर्त्ता, पालन कर्त्ता और सहारक है। तृतीय भाग (ग) मे जगत् की व्याख्या की गई है जिसमें २५ मूल तत्त्वो का वर्णन्न किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में अनासक्ति योग के अन्तर्गत लोक सग्रह, स्थित प्रज्ञ, पुनर्जन्म, सन्यास, कर्म और भक्ति की व्याख्या की गई है।

पंचम अध्याय में स्वधर्म और सामान्य धर्म की विवेचना की गई है। जिसमे स्वधर्म के अन्तर्गत नियम और कर्त्तव्यो के पालन तथा कर्म के प्रकार की चर्चा की गई है। सामान्य धर्म, विशेष धर्म, काम्य धर्म, आपद धर्म के सामान्य अन्तर को स्पष्ट करते हुए वर्ण व्यवस्था और स्वधर्म के सम्बन्ध को भी स्पष्ट किया गया है। सामान्य धर्म के अन्तर्गत सत्य, दया, संयम, क्षमा, दान आदि की विशद् चर्चा की गई है।

षष्ठम अध्याय मे मोक्ष की विवेचना की गई है जिसमे विभिन्न हिन्दू दार्शनिको चार्वाक, जैन, बौद्ध साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त की मोक्ष सम्बन्धी अवधारणा की व्याख्या की गई है। इसके साथ ही साथ हिन्दू धर्मशास्त्रो

के अनुसार मोक्ष के भेद (जीवनमुक्त और विदेहमुक्त) और मोक्ष के मार्ग की विशद् विवेचना की गई है और अध्याय के अन्त मे हिन्दू धर्म के अन्तर्गत मोक्ष प्राप्ति हेतु सुगम मार्ग की चर्चा की गई है।

सप्तम अध्याय मे धम्मपद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत धम्मपद के विभिन्न सस्करणो का काल निर्धारण किया गया है। इसके विषय वस्तु को स्पष्ट करते हुए इसे एक नैतिक दर्शन के रूप मे चित्रित किया गया है। धम्मपद के २६ वग्गो के अन्तर्गत ४२३ उपदेशो की सरल एव सारगर्भित शब्दो मे व्याख्या की गई है।

अष्टम अध्याय मे कर्म सिद्धान्त की विवेचना की गई है। इसके अन्तर्गत कर्म का भेद—(विधान के आधार पर, प्राकृतिक गुण के आधार पर, कर्म विपाक के आधार पर तथा अन्य आधारो पर) किया गया है। कर्मफल तथा मनु के विचारो की व्याख्या के पश्चात् बौद्ध दर्शन मे कर्म सिद्धान्त की अवधारणा की व्याख्या की गई है।

नवम् अध्याय मे बौद्धो के निर्वाण सिद्धान्त की व्याख्या की गई है तथा निर्वाण सम्बन्धी विभिन्न दार्शनिक मतो की परिचर्चा व निर्वाण के आधार की व्याख्या की गई है।

दशम् अध्याय मे श्रीमद्भगवद्गीता और धम्मपद के नैतिक उपदेशो का तुलनात्मक विवेचन किया गया है और इसमें आधुनिक युग मे गीता के उपदेशो की प्रासगिकता पर भी चर्चा की गई है।

एकादश अध्याय मे उपसहार दिया गया है तथा अन्त में संक्षेप-संकेत तथा हिन्दी, पालि, संस्कृत और अग्रेजी सहायक ग्रन्थो की सूची के साथ-साथ शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त जर्नल्स, सहायक कोष ग्रन्थ और पत्र-पत्रिकाओ का भी उल्लेख किया गया है।

सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध में प्रधानत· गीता और धम्म पद का ही आश्रय लिया गया है तथापि यदा कदा वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, स्मृति एव धर्मशास्त्र के ग्रन्थो से भी सहायता ली गई है। अन्य सहायक ग्रन्थो की विस्तृत सूची शोध प्रबन्ध के अन्त मे दी गई है।

इस विषय पर कार्य करने वाले विद्वानों के प्रति मै जीवन भर ऋणी रहूँगा, जिनकी कृतियो के द्वारा मुझे किसी भी प्रकार का सहयोग प्राप्त हुआ है। मैं अपने आभार व श्रद्धा का प्रथम पुष्प अपने परम श्रद्धेय गुरुदेव एव निर्देशक डॉ० सी० एल० त्रिपाठी पूर्व रीडर, दर्शन विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय के श्रीचरणो मे अर्पित करना चाहूँगा जिनके आशीर्वाद, शाश्वत ज्ञान व प्रेरणा से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मूर्त रूप धारण कर सका।

मै अपने भूतपूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० डी० एन० द्विवेदी एवं वर्तमान विभागाध्यक्षा डॉ० मृदुला रवि प्रकाश के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। जिन्होने हमेशा मेरा उत्साहवर्धन किया है।

मै अपने पूज्य गुरुदेव एवं दर्शन शास्त्र के पितामह कहे जाने वाले विश्व प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० सगम लाल पाण्डेय का आभारी हूँ जिनसे सदैव सहयोग एव सुझाव प्राप्त होते रहे है।

मैं अपने विभाग के प्रो० जे० एस० श्रीवास्तव, प्रो० एस० के० सेठ, प्रो० आर० एस० भटनागर, डॉ० आर० एल० सिंह, डॉ० नरेन्द्र सिंह, डॉ० गौरी चट्टोपाध्याय, डॉ० जटाशंकर तिवारी, डॉ० एच० एस० उपाध्याय, डॉ० आशा

लाल, डॉ० श्रीकान्त मिश्रा, डॉ० बी० एन० सिह (ई० सी० सी०), डॉ० सजय शुक्ला, (ई० सी० सी०), डॉ० राम मूर्ति पाठक (ए० डी० सी०), डॉ० स्वय प्रकाश पाण्डेय (आई० एस० डी० सी०), डॉ० रमा रानी (सी० एम० पी०), डॉ० आनन्द श्रीवास्तव (सी० एम० पी०), डॉ० डी० डी० पाण्डेय, डॉ० नीतिश दूबे, डॉ० विद्यानिधि ओझा, डॉ० यू० के० शुक्ला, डॉ० डी० वी० सिह आदि के प्रति मै श्रद्धावनत हूँ जिनके सस्नेह मार्गदर्शन एवं निर्देशन मे आज यह कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ है ।

मै केन्द्रीय ग्रन्थालय वाराणसी, भारत कला भवन ग्रन्थालय वाराणसी, मालवीय भवन ग्रन्थालय वाराणसी, दर्शन एव धर्म विभाग पुस्तकालय वाराणसी, काशी विद्यापीठ पुस्तकालय वाराणसी, सम्पूर्णानन्द पुस्तकालय वाराणसी, केन्द्रीय पुस्तकालय तिब्बती शिक्षण संस्थान सारनाथ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय इलाहाबाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय इलाहाबाद, केन्द्रीय पुस्तकालय इलाहाबाद, एन० सी० पी० आर० लखनऊ, एन० सी० पी० आर० दिल्ली आदि के कर्मचारियो और अधिकारियो के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ। जिनसे मुझे पुस्तकीय सहायता के साथ-साथ वैचारिक सहयोग भी प्राप्त हुए है । विशेष रूप से केन्द्रीय ग्रन्थालय वाराणसी के रमेश कुमार जी एव तिब्बती ग्रन्थालय सारनाथ के जगरनाथ सिंह जी के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनसे मुझे पुस्तकीय सहायता का भरपूर सहयोग मिला ।

मै अपने विभाग के कार्यालय सहायक विपिन श्रीवास्तव व नवीन जोशी जी के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनका मेरे प्रति व्यवहार एवं सहयोग सराहनीय रहा ।

मै अपने परम मित्र स्वतंत्र कुमार शुक्ल, प्रवक्ता राजीव गॉधी पी० जी० कालेज कोटवा जमुनीपुर एव रमाशकर शुक्ल जी को सहृदय धन्यवाद देता हूँ जो हमेशा मेरे सहयोग के लिए हर पल तत्परता से लगे रहे । इनके स्नेह और सद्भाव से मुझे हमेशा बल मिलता रहा । अपने अन्य मित्रो एवं शुभेच्छुओ मे डॉ० ऋषिकान्त पाण्डेय (प्रवक्ता ए० डी० सी० इलाहाबाद), डॉ० रंजय सिह (प्रवक्ता डी० ए० वी० कानपुर), डॉ० ज्योति स्वरूप दूबे (प्रवक्ता जबलपुर विश्वविद्यालय), कृष्ण कुमार द्विवेदी (ए० डी० एम०), रामसेवक गौतम (मिश्र) डिप्टी एस० पी०, श्याम सुन्दर तिवारी (एस० टी० ओ०), डॉ० अरुण दूबे (बी० एस० ए०), डॉ० रमेश कुमार शुक्ल (तहसीलदार), मुकुल सिह (डायरेक्टर श्री प्रशासनिक अकादमी, इलाहाबाद), दिनेश पाण्डेय (डायरेक्टर शक्ति कोचिंग इंस्टीट्यूट इलाहाबाद), आनन्द प्रकाश द्विवेदी, निराला (भारत पेट्रोलियम मुगलसराय), अखिलेश कुमार सिंह, वीरेन्द्र कुमार शर्मा (प्रवक्ता), अनिल कुमार पाण्डेय, भानु प्रताप सिह, आलोक पाण्डेय आदि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनसे शोध के दौरान सर्वथा सहायता मिलती रही है ।

यह शोध प्रबन्ध अपनी पूर्णता को कदापि प्राप्त न कर सका होता यदि मुझे सुहृदय पारिवारिक जनो का स्नेह एव सहयोग न मिला होता । शोध प्रबन्ध की पूर्णता के लिए मै अपनी श्रद्धामयी ममता की देवी पूज्यनीय माता जी (श्रीमती सीता देवी) एवं देव स्वरूप पिताजी (श्री सी० एल० शुक्ला (सकुल प्रभारी) सोरो, इलाहाबाद) के आशीष को सम्पूर्ण श्रेय देता हूँ, क्योकि आज मैं जो कुछ भी हूँ उनके आशीष का ही फल हूँ । मैं अपने अग्रज श्री राजकुमार शुक्ल (वित्त
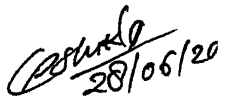
एव लेखाधिकारी बेसिक शिक्षा वाराणसी) व अनुज प्रशान्त कुमार शुक्ल का अत्यन्त आभारी हूँ, जिनसे मुझे सदैव सहयोग एव प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

अनन्य सहयोगियो एवं सम्बन्धियो मे दिवाकर मिश्र, केदार नाथ पाण्डेय, प्रमोद कुमार तिवारी, आमोद कुमार तिवारी, विनोद कुमार पाण्डेय, करुणानिधि ओझा, पारस नाथ तिवारी, मनोज कुमार तिवारी, नीलेश कुमार तिवारी आदि को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। जिनके सुहृदयपूर्ण व्यवहार ने मुझे सम्बल प्रदान किया। मै अपने अति प्रिय शिष्यो राघवेन्द्र शुक्ल, आशुतोष तिवारी, चरन सिह राजपूत, प्रदीप पाण्डेय, प्रवीण त्रिपाठी आदि के प्रति भी अत्यन्त आभारी हूँ। जिनसे शोध कार्य मे किसी न किसी रूप मे सहायता मिलती रही।

मै अपने निर्देशन मे सचालित गगोत्री शिक्षण सस्थान के समस्त विद्वान् लेखको, प्राध्यापको, कर्मचारियो एव विद्यार्थियो के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। जिन्होने शोध के दौरान मेरे अमूल्य समय का ध्यान रखकर मुझे जिम्मेदारियो के उलझन से मुक्त रखा।

मै अपनी पुत्री शुभागी एव पुत्र अनिमेष, भान्जा विकास व आदर्श को सुहृदय धन्यवाद देता हूँ, जो अपूर्व सयम का परिचय देकर शोध कार्य मे साधक बने। मै अपनी धर्मपत्नी श्रीमती निशा शुक्ला को ही इस शोध प्रबन्ध का सम्पूर्ण श्रेय देता हूँ, जो शोध प्रबन्ध को शीघ्रातिशीघ्र परिमार्जित रूप मे प्रस्तुत करने के लिए प्रोत्साहित करती रही।

अन्ततः मै राका प्रकाशन के सचालक श्री राकेश तिवारी एवं प्रभजन मिश्रा (मोन्टू) तथा टकणकर्ता जितेन्द्र कुमार मिश्र व दिलीप कुमार कनौजिया के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। जिन्होने अल्प समय मे पूर्ण लगन एव कुशलतापूर्वक विशुद्ध रूप से टकण कार्य करके इस शोध प्रबन्ध को पूर्णता प्रदान की है।

28/06/20

प्रवीण कुमार शुक्ल

प्रथम अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

श्रीमद्भगवद्गीता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(क) श्रीमद्भगवद्गीता के रचयिता एवं रचना काल

गीता महाभारत का एक लघु विभाग है और महाभारत युद्ध को हम एक ऐतिहासिक घटना मानते है । अतएव गीता का प्रवचन एक ऐतिहासिक प्रवचन ही माना जाएगा और जब यह ऐतिहासिक प्रवचन है तो इसका कथन काल जानना आवश्यक है ।

नि:सदेह जब महाभारत लिखा गया, तब गीता को भी लिपिबद्ध किया गया । जैसे ऐतिहासिक घटनाएँ घटने के बाद ही लिखी जाती है, उसी प्रकार गीता का प्रवचन भी, किए जाने के पश्चात् ही लिपिबद्ध हुआ है । किसी भी रूप मे अथवा किसी भी आकार और विस्तार मे रहा हो, यह गीता प्रवचन युद्धकाल मे अर्थात् युद्ध के समय हुआ अवश्य था ऐसी धारणा है ।

अत: महाभारत युद्ध के काल को जानने से ही गीता प्रवचन का काल जाना जा सकता है । गीता महाभारत के लिपिबद्ध होने के समय ही लिपिबद्ध हुई है । महाभारत ग्रन्थ के लिपिबद्ध होने का समय महाभारत ग्रन्थ के रचयिता श्री महर्षि व्यास जी स्वयं लिखते हैं कि वे महाभारत युद्ध के समय जीवित थे । महर्षि व्यास जी ने अपने जन्म, अपनी शिक्षा, दीक्षा और महाभारत युद्ध के पात्रो से अपना सम्बन्ध तथा व्यवहार का वर्णन किया है । अत: महाभारत युद्ध के समीप काल मे ही महाभारत ग्रन्थ की रचना हुई है । इसका अभिप्राय यह है कि महाभारत ग्रन्थ एवं रचनाकाल महाभारत युद्ध के समीप ही माना जाना चाहिए ।

कुछ लोगो का मत है कि गीता पृथक् लिखी गयी और पीछे महाभारत में प्रक्षिप्त की गयी है । यह संशय उस समय उत्पन्न हुआ जब शंकराचार्य ने यह बताया कि गीता निवृत्ति मार्ग को दिखाने वाला ग्रन्थ है । महाभारत में यत्र-तत्र भगवत् परायण को कर्म करने की महिमा गायी गयी है । अत: शंका करने वाले कहते हैं कि गीता जो शंकराचार्य के कथनानुसार निवृत्ति मार्ग और जगत् से उपराम होने का उपदेश देती है, महाभारत का अंग नही हो सकती ।

इस सम्बन्ध में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि स्वामी शंकराचार्य का मत भ्रमित हो सकता है तथा उन्होंने गीता पर अपना भाष्य अपने कल्पित मत को सिद्ध करने के लिए किया है ।

भगवद्गीता के विषय में इतना कहा जा सकता है कि यह पाणिनी के संस्कृत भाषा को नियमित करने से पहले की लिखी हुई है । कारण यह है कि गीता में ऐसे पद और योग उपस्थित हैं, जो पाणिनी ने अशुद्ध कह दिए हैं । उदाहरण के रूप में गीता[१] में 'नमस्कृत्वा', 'शव्य अहं'[२], 'सेनानीना'[३] । ये सब प्रयोग पाणिनी के अनुसार अशुद्ध हैं । यदि भगवद्गीता पाणिनी के उपरान्त लिखी गयी होती तो ये अशुद्ध प्रयोग न किए जाते ।[४]

पाणिनी का काल भारतीय विद्वानो के मतानुसार महाभारत काल से दो चार सौ वर्ष प्राचीन है। भारतीय मत के अनुसार कहते है कि महाभारत और गीता दोनो ग्रन्थ पाणिनी से पहले के रचे ग्रन्थ है। यूरोपीय विद्वान् महाभारत को तो ईसा पश्चात् पहली दूसरी शती की रचना मानते हैं। इससे यह बात निर्विवाद हो जाती है कि यूरोपीय विद्वानो का यह कथन सर्वथा मिथ्या है कि पाणिनी महाभारत की रचना से पहले हुआ था। भारतीय मतानुसार पाणिनी, कलयुग सम्वत् दो सौ के लगभग हुआ था।[५]

गीता और महाभारत के एक ही लेखक से लिखे होने का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि गीता और महाभारत के अनेक अन्य स्थलों मे समान वर्णन है। कही-कही तो पूर्ण श्लोक समान है। गीता श्लोक[६] का दूसरा आधा भाग भीष्म पर्व[७] के आधे से समता रखता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता और महाभारत एक ही लेखनी से लिखे गए है। इस प्रकार के कई स्थान है।

मगध मे वृहद्रथ एक राजा था, जिसने महाभारत युद्ध मे भाग लिया था और वह युद्ध में मारा गया था। उसका उत्तराधिकारी सोमाधि राजगद्दी पर बैठा था परन्तु वश वृहद्रथ का ही कहलाया। वृहद्रथ वंश मे २२ राजा हुए और उनका राज्यकाल १००० वर्ष था। श्री द्विवेदी जी ने भिन्न-भिन्न पुराणों के मिलान से यह काल ९५१ वर्ष का माना है।[८]

वृहद्रथ वंश के उपरान्त प्रद्योत वंश हुआ। इस वश मे ५ राजा हुए और इनका राज्यकाल १३८ वर्ष था। तदनन्तर शिशुनाक वंश के १० राजाओं ने ३६२ वर्ष राज्य किया। शिशुनाक के उपरान्त महापद्मनन्द वंश आया, इसमे ९ राजा हुए और उनका राज्यकाल १०० वर्ष था।

महापद्मनन्द के उपरान्त मौर्य वंश का राज्य हुआ। इस वंश के १० राजा हुए थे इनका राज्यकाल १३७ वर्ष था।[९] मौर्यवंश के उपरान्त शुंग परिवार के पुष्यमित्र ने शुंग वंश चलाया। शुंग-वश मे भी १० राजा हुए और इनका राज्यकाल ११२ वर्ष है। शुंग-वश के उपरान्त कण्व वंश के चार राजाओ ने ४५ वर्ष्ज्ञ तक राज्य किया। इसके बाद आन्ध्र-वश आया, इनके ३० राजा हुए उन्होंने ४५६ वर्ष तक राज्य किया। आन्ध्र-वश के अन्त के समय सप्तर्षि नक्षत्र मण्डल चौबीसवें नक्षत्र के मध्य में था अर्थात् २३५० वर्ष हुए।

उक्त वंशावलियों का राज्यकाल जोड़ने पर २३०१ वर्ष बनते हैं। इस प्रकार राज्य तिथि काल के आधार पर महाभारत युद्ध काल आज से ५०६८ वर्ष पूर्व बनता है। पुराणों के अनुसार आन्ध्र वंश का अन्त लगभग ढाई हजार वर्ष युद्ध के उपरान्त हुआ। यही बात सप्तर्षि नक्षत्र मण्डल से प्रतीत होती है। इस प्रकार पुराणो की गणना अन्य गणनाओ से मिलती जुलती है।[१०]

गीता के काल का निर्णय महाभारत काल से किया गया है। यहाँ पर हम कुछ प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमे गीता के काल का स्पष्ट उल्लेख है। सर्वप्रथम यह बता देना आवश्यक है कि परलोकवासी तैलंग ने गीता को आप स्तंब के पहले की अर्थात् ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष से अधिक प्राचीन कहा है।[११] डाक्टर भण्डारकर ने अपने 'वैष्णव, शैव आदि पन्थ' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ में प्राय: इसी काल को स्वीकार किया है। प्रो० गार्वे[१२] के मतानुसार तैलग द्वारा

निश्चित किया गया काल ठीक नही है। उनका यह कथन है कि मूल गीता की रचना ईसा की पहली दूसरी सदी मे हुयी, और ईसा, के बाद दूसरे शतक मे उसमे कुछ सुधार किए गए है, परन्तु नीचे लिखे गए प्रमाणो से यह बात भली-भॉति प्रगट हो जायेगी कि गार्वे का उक्त कथन ठीक नहीं है।

(क) गीता पर जो टीकाएँ या भाष्य उपलब्ध है, उनमे शाकर भाष्य अत्यन्त प्राचीन है। श्री शंकराचार्य ने महाभारत के सनत्सुजीय प्रकरण पर भी भाष्य लिखा है, और उनके ग्रन्थो मे महाभारत के मनु-वृहस्पति संवाद, शुकानुप्रश्न और अनुगीता में से बहुतेरे वचन अनेक स्थानो पर प्रमाणार्थ लिया गया है। इससे यह बात प्रकट है कि उनके समय में महाभारत और गीता दोनों प्रमाणभूत माने जाते थे। प्रो० काशीनाथ बापू पाठक ने एक साम्प्रदायिक श्लोक के आधार पर श्री शंकराचार्य का जन्मकाल ८४५ विक्रमी संवत् ७१० निश्चित किया है।[१३] परन्तु हमारे मत से इस काल को सौ वर्ष और भी पीछे हटाना चाहिए। क्योकि, महानुभाव पथ के 'दर्शन प्रकाश' नामक ग्रन्थ में यह कहा है कि— 'युग्सपयोधिरसान्वितशाके' अर्थात् शक ६४२ (विक्रमी संवत् ७७७) मे श्री शंकराचार्य ने गुहा मे प्रवेश किया, और उस समय उनकी आयु ३२ वर्ष की थी। अतएव यह सिद्ध होता है कि, उनका जन्म शक ६१० (सवत् ७४५) मे हुआ। हमारे मत से यही समय प्रो० पाठक द्वारा निश्चित किए हुए काल से कहीं अधिक सयुक्तिक प्रतीत होता है। गीता पर जो शांकर भाष्य है, उसमे पूर्व समय के अधिकांश टीकाकारों का उल्लेख किया गया है और उक्त भाष्य के आरम्भ मे ही शंकराचार्य ने कहा है, कि इन टीकाकारो के मतो का खण्डन करके हमने नया भाष्य लिखा है। अतएव आचार्य का जन्मकाल चाहे शक ६१० लीजिए या ७१०, इसमें तो कुछ भी सन्देह नही कि उस समय के कम से कम दो-तीन सौ वर्ष पहले अर्थात् ४०० शक के लगभग गीता प्रचलित थी।

(ख) परलोकवासी तैलंग ने यह दर्शाया है कि कालिदास और बाणभट्ट गीता से परिचित थे।[१४] कालिदास कृत रघुवश (१०/३१) में विष्णु की स्तुति के विषय मे जो 'अनवाप्त मवाप्तव्यं न ते किन्वितविद्यते' यह श्लोक है, वह गीता के (३/२२) 'नानवाप्तमवाप्तव्यं' श्लोक से मिलता है और बाणभट्ट की कादम्बरी के 'महाभारत-मिवानन्तगीता कर्णनानन्दितततर' इस एक श्लेष प्रधान वाक्य मे गीता का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। कालीदास और भारवि का उल्लेख स्पष्ट रूप से सवत् ६९१ के एक शिला लेख मे पाया जाता है।[१५] और अब यह भी निश्चित हो चुका है, कि बाणभट्ट का समय सवत् ६६३ के लगभग हर्ष राजा के समय था। इस बात का विवेचन परलोकवासी पाण्डुरंग गोविन्द शास्त्री पारवी ने बाणभट्ट पर लिखे हुए अपने एक मराठी निबन्ध में किया है।

(ग) जावा द्वीप में जो महाभारत ग्रन्थ यहाँ से गया है, उसके भीष्म पर्व में एक गीता प्रकरण है, जिसमें गीता के भिन्न-भिन्न अध्यायों के लगभग सौ श्लोक अक्षरश: मिलते हैं। सिर्फ १२, १४, १६ और १७ इन चार अध्यायों के श्लोक इसमें नहीं हैं। इससे यह कहने में कोई आपत्ति नही दीख पड़ती कि उस समय भी गीता का स्वरूप वर्तमान गीता के सदृश ही था क्योकि कवि भाषा में यह गीता का अनुवाद है, और उसमें जो संस्कृत श्लोक मिलते है, वे बीच-बीच में उदाहरण तथा प्रतीक के तौर पर ले लिए गए हैं। इससे यह अनुमान करना युक्तिसगत नहीं कि उस समय गीता मे केवल उतने ही श्लोक थे। जब डॉक्टर नरहर गोपाल सर देसाई जावा द्वीप को गए थे, तब उन्होने इस बात की खोज की है। इस विषय का वर्णन कलकत्ते के 'मार्डन रिव्हयू' नामक मासिक पत्र के जुलाई १९१४ के अंक में तथा अन्यत्र

भी प्रकाशित हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि शक चार पॉच सौ के पहले कम से कम दो सौ वर्ष तक महाभारत के भीष्म पर्व मे गीता थी, और उसके श्लोक भी वर्तमान गीता श्लोको के क्रमानुसार ही थे।

(घ) विष्णु पुराण और पद्म पुराण आदि ग्रन्थो मे भगवद्गीता के नमूने पर बनी हुयी जो अन्य गीताएँ दीख पड़ती है अथवा उनके उल्लेख पाए जाते है, उनका वर्णन इस ग्रन्थ के पहले प्रकरण मे किया गया है। इससे यह बात स्पष्टतया विदित होती है कि उस समय भगवद्गीता प्रमाण तथा पूजनीय मानी जाती थी। इसीलिए उसका उक्त प्रकार से अनुकरण किया गया है, और यदि ऐसा न होता तो, उसका कोई भी अनुकरण न करता। अतएव सिद्ध है कि इन पुराणो मे जो अत्यन्त प्राचीन पुराण है, उनसे भी भगवद्गीता कम से कम सौ दो सौ अधिक प्राचीन होगी। पुराणकाल का आरम्भ समय सन् ईस्वी के दूसरे शतक से अधिक अर्वाचीन नही माना जा सकता। अतएव गीता का काल कम से कम शकारम्भ के कुछ थोड़ा पहले ही माना जाता है।

(च) ऊपर हम बतला चुके हैं कि कालीदास और बाणभट्ट गीता से परिचित थे। कालीदास से पुराने भास कवि के नाटक हाल ही मे प्रकाशित हुए है। उनमे से एक श्लोक इस प्रकार है—

हतोऽपि लभते स्वर्ग जित्वातुलभते यशः।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ॥[१६]

यह श्लोक गीता के 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्'[१७] श्लोक के समानार्थक है। और जब कि भास कवि के अन्य नाटको से यह प्रकट होता है कि वह महाभारत से पूर्णतया परिचित थे, तब तो यही अनुमान किया जा सकता है कि उपयुक्त श्लोक लिखते समय उनके मन में गीता का उक्त श्लोक अवश्य आया होगा अर्थात् यह सिद्ध होता है कि भास कवि के पहले भी महाभारत और गीता का अस्तित्व था। पं० त० गणपति शास्त्री ने यह निश्चित किया है कि भास कवि का काल शक के दो सौ या सौ वर्ष बाद हुआ है। यदि दूसरे मत को सत्य माने तो भी उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध हो जाता है कि भास से कम से कम सौ दो सौ वर्ष पहले अर्थात् शक काल के आरम्भ में महाभारत और गीता दोनों ग्रन्थ सर्वमान्य हो गए थे।

(छ) प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा गीता के श्लोक लिए जाने का और भी अधिक सुदृढ़ प्रमाण, परलोकवासी त्र्यंबक गुरूनाथ काले के गुरूकुल की 'वैदिक मैगजीन' नामक अंग्रेजी मासिक पुस्तक[१८] में प्रकाशित किया गया है। इसके पश्चिमी संस्कृत पण्डितों का यह मत था कि संस्कृत काव्य तथा पुराणो की अपेक्षा कही अधिक प्राचीन ग्रन्थो मे— उदाहरणार्थ सूत्र ग्रन्थों में भी— गीता का उल्लेख नही पाया जाता और इसीलिए यह कहना पड़ता है कि सूत्र काल के बाद अर्थात् अधिक से अधिक सन् ईसवी के पहली दूसरी सदी मे गीता बनी होगी। परन्तु परलोकवासी काण्ठे ने प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि यह मत ठीक नही है। बौधायन गृह्यशेष सूत्र[१९] में गीता का श्लोक[२०] 'तदाह भगवान्' कहकर स्पष्ट रूप से लिया गया है, जैसे—

देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यान्मनसावार्चयेदति।
तदाह भगवान् पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो में भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ इति०

और आगे चलकर कहा है कि भक्ति से नम्र होकर मन्त्रों को पढ़ना चाहिए 'भक्ति नम्रः एतान् मन्त्रान्धीयीत'। उसी गृह्यशेष सूत्र के तीसरे प्रश्न के अन्त में यह भी कहा है कि 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्र का जाप करने से अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध होती है, कि बौधायन के पहले गीता

प्रचलित थी और वासुदेव पूजा भी सर्व सामान्य समझी जाती थी । इसके सिवा बौधायन के पितृमेघ सूत्र के द्वितीय प्रश्न के आरम्भ मे ही यह वाक्य है— जातस्य वै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणामिति विजानीयात्तस्माज्जाते न प्राहृष्येन्मृते च न विषीदेत् ।

इससे सहज ही दीख पडता है, यह गीता के 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च । तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि' । इस श्लोक से सूझ पडा होगा और उसमे उपर्युक्त 'पत्रं पुष्प' श्लोक का योग देने से तो कुछ शका ही नही रह जाती । स्वय महाभारत का एक श्लोक बौधायन सूत्रो मे पाया जाता है । बुल्हर साहब ने निश्चित किया है ।[२१] कि बौधायन का काल आपस्तंब के सौ दो सौ वर्ष पहले होगा और आपस्तब का काल ईसा के पहले तीन सौ वर्ष से कम हो नही सकता । परन्तु हमारे मतानुसार उसे और हटाना चाहिए, क्योकि महाभारत मे मेष-वृषभ आदि राशियॉ नही है, और 'कालमधव' मे तो बौधायन का 'मीनमेषयोर्वृषभयोर्वावसन्त' यह वचन दिया गया है । यही वचन परलोकवासी शकर, बालकृष्ण दीक्षित के भारतीय ज्योतिः शास्त्र' (पृ० १०२) में भी लिया गया है । इससे भी यही निश्चित अनुमान किया जा सकता है कि महाभारत बौधायन के पहले का है । शकारम्भ के कम से कम चार सौ वर्ष पहले बौधायन का समय होना चाहिए, और पॉच सौ वर्ष पहले महाभारत तथा गीता का अस्तित्व था । परलोकवासी काले ने बौधायन का काल ईसा के सात-आठ सौ वर्ष पहले का निश्चित किया है, किन्तु यह ठीक नही है । जान पडता है कि बौधायन का राशि विषयक वचन उनके ध्यान मे न आया होगा ।

(ज) उपर्युक्त प्रमाणों से यह बात किसी को भी स्पष्ट विदित हो जायेगी कि वर्तमान गीता शक के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्व मे थी, बौधायन तथा आश्वलायन भी उससे परिचित थे, और उस समय से श्री शकराचार्य के समय तक उसकी परम्परा अविच्छिन्न रूप में दिखलाई जा सकती है। परन्तु अब तक जिन प्रमाणो का उल्लेख किया गया है, वे सब वैदिक धर्म के ग्रन्थो से लिया गया है । अब जो प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं वह वैदिक धर्मग्रन्थो से भिन्न अर्थात् बौद्ध साहित्य का है । इससे गीता की उपर्युक्त प्राचीनता स्वतन्त्र रीति से और भी अधिक दृढ़ तथा नितसन्दिग्ध हो जाती है । बौद्ध धर्म के पहले ही भागवत् धर्म का उदय हो गया था । इस विषय मे बुल्हर और प्रसिद्ध फ्रेंच पण्डित सेनार्त के मतों का उल्लेख पहले हो चुका है । भागवत् धर्म बौद्ध धर्म के पहले का है, केवल इतना कह देने से ही इस बात का निश्चय नही किया जा सकता, कि गीता भी बुद्ध के पहले थी। क्योकि यह कहने के लिए कोई प्रमाण नही है कि भागवत धर्म के साथ ही साथ गीता का भी उदय हुआ । अतएव यह देखना आवश्यक है कि बौद्ध ग्रन्थकारो ने गीता-ग्रन्थ का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है या नही ? प्राचीन बौद्ध ग्रन्थो में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि बुद्ध के समय चार वेद, वेदाग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास, निघण्टु आदि वैदिक धर्म ग्रन्थ प्रचलित हो चुके थे । अतएव इसमें सन्देह नही कि बुद्ध के पहले ही वैदिक धर्म पूर्णावस्था में पहुँच चुका था । इसके बाद बुद्ध ने जो नया पन्थ चलाया, वह अध्यात्म की दृष्टि से अनात्मवादी था; परन्तु उसमे आचरण की दृष्टि से उपनिषदों के सन्यास मार्ग का ही अनुकरण किया गया था । अशोक के समय बौद्ध धर्म की यह दशा बदल गयी थी । बौद्ध भिक्षुओं ने जंगलों मे रहना छोड़ दिया था । धर्म प्रसारार्थ तथा परोपकार का काम करने के लिए वे लोग पूर्व की ओर चीन मे और पश्चिम की ओर अलेक्जेड्रिया तथा ग्रीस तक चले गए थे । परन्तु बौद्ध भिक्षुओं का जब यह मूल सन्यास प्रधान आचार बदल गया और जब वे परोपकार के काम करने लगे, तब नए तथा पुराने मतो मे झगड़ा हो गया । पुराने लोग अपने को 'थेरवाद' (बुद्ध पन्थ) कहने लगे,

और नवीन मतवादी अपने पन्थ का 'महायान' नाम रख करके पुराने पन्थ को 'हीनयान' (अर्थात् हीन पन्थ के) नाम से सम्बोधित करने लगे। अश्वघोष महायान पन्थ का था और वह इस मत को मानता था कि बौद्ध यति लोग परोपकार से काम किया करे। अतएव 'सौन्दरानन्द'[२२] काव्य के अन्त मे जब नन्द अर्हतावस्था मे पहुॅच गया, तब उसे बुद्ध ने जो उपदेश दिया है, उसमें पहले यह कहा है— अवाप्तकार्योऽसि परां गतिं गत: न तेऽस्तिकिंचित्करणीयम्ण्वपि। अर्थात् 'तेरा कर्तव्य हो चुका, तुझे उत्तम गति मिल गयी है। अब तेरे लिए तिल भर भी कर्तव्य नही रहा' और आगे स्पष्ट रूप से उपदेश किया गया है।

विहाय तस्मादिह कार्यमात्मन: कुरू स्थिरात्मन्परकार्यमप्यथो ॥

अर्थात् 'अतएव अब तू अपना कार्य छोड बुद्धि को स्थिर करके परकार्य किया कर'।[२३] बुद्ध के कर्मत्याग विषयक उपदेश मे— जो प्राचीन धर्म ग्रन्थो में पाया जाता है— तथा इस उपदेश मे (कि जिसे 'सौन्दरानन्द' काव्य में अश्वघोष ने बुद्ध के मुख से कहलाया है) अत्यन्त भिन्नता है और अश्वघोष की इन दलीलो में तथा गीता के तीसरे अध्याय मे जो युक्ति-प्रयुक्तियॉ हैं, उनमें 'तस्यकार्य न विद्यते...... तस्मादसत्क: सततं कार्य कर्म समाचर' अर्थात् तेरे मे कुछ रह नही गया है। इसलिए जो कर्म प्राप्त हो, उसको निष्काम बुद्धि से किया कर' इसमें अर्थदृष्टि से ही शब्दश: समानता है। अत: इससे यह अनुमान होता है, कि ये दलीले अश्वघोष को गीता से ही मिली है, क्योकि अश्वघोष से पहले महाभारत था।

बुद्ध धर्मानुयायियों ने बुद्ध धर्म विषयक इतिहास सम्बन्धी जो ग्रन्थ तिब्बती भाषा मे लिखा है, उसमे बौद्ध के पूर्वकालीन सन्यास मार्ग मे 'महायान' पन्थ ने जो कर्मयोग विषयक सुधार किया गया था, उसे ज्ञानी श्रीकृष्ण और गणेश से महायान पन्थ के मुख्य पुरस्कर्ता नागार्जुन के गुरू राहुल भद्र ने जाना था। इस ग्रन्थ का अनुवाद रूसी भाषा से जर्मन भाषा मे किया गया है। इसका अनुवाद अंग्रेजी मे अभी तक नही हुआ है। डॉ० केर्न ने १८९९ ई० मे बुद्ध धर्म पर एक पुस्तक लिखी थी[२४], यहॉ उसी से हमने यह अवतरण लिया है। डॉ० केर्न का भी यही मत है कि यहाँ पर श्रीकृष्ण के नाम से भगवद्गीता का ही उल्लेख किया गया है। महायान पन्थ के बौद्ध ग्रन्थों मे से 'सदुर्मपुण्डरीक' नामक ग्रन्थ में भी भगवद्गीता के श्लोकों के समान कुछ श्लोक है। पश्चिमी पण्डितों का निश्चय है कि महायान पन्थ का पहला पुरस्कर्ता नागार्जुन शक के लगभग सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ होगा और यह तो स्पष्ट ही है, कि इस पन्थ का बीजारोपण अशोक के राजशासन के समय मे हुआ होगा। बौद्ध ग्रन्थों से तथा स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारो के लिखे हुए उस धर्म के इतिहास से यह बात स्वतन्त्र रीति से सिद्ध हो जाती है कि भगवद्गीता महायान पन्थ के जन्म से पहले— अशोक से भी पहले— यानी सन् ईसवी से लगभग ३०० वर्ष पहले ही अस्तित्व मे थी।

इन सब प्रमाणों पर विचार करने से इसमें कुछ भी शंका नही रह जाती कि वर्तमान भगवद्गीता शालीवाहन शक के लगभग पॉच सौ वर्ष पहले ही अस्तित्व में थी। डॉ० भण्डारकर, परलोकवासी तैलंग, रावबहादुर चिन्तामणि राव वैद्य और परलोकवासी दीक्षित का मत भी इससे बहुत कुछ मिलता जुलता है और उसी को यहॉ ग्राह्य मानना चाहिए। हॉ प्रो० गार्वे का मत भिन्न है, उन्होंने उसके प्रमाण में गीता के चौथे अध्याय वाले सम्प्रदाय परम्परा के श्लोको मे से इस 'योगीनष्ट:' योग का नाश हो गया— वाक्य को लेकर योग शब्द का अर्थ 'पातन्जल योग' किया है। परन्तु हमने प्रमाण सहित बतला दिया है कि वहॉ योग शब्द का अर्थ 'पातन्जल योग' नहीं— 'कर्मयोग' है। इसलिए प्रो० गार्वे का मत भ्रममूलक एवं अग्राह्य है। यह बात निर्विवाद है, कि वर्तमान गीता का काल शालीवाहन शक के पाँच सौ वर्ष पहले की अपेक्षा और कम नहीं माना जा सकता।

भगवद्गीता की रचना उस महान आन्दोलन के बाद की है, जिसका प्रतिनिधित्व प्रारम्भिक उपनिषदे करती है। महाभारत का एक भाग होने से कभी-कभी यह शका की जाती है कि गीता को बाद मे चलकर महाभारत मे मिला दिया गया है। तैलग भी विशेषकर इसी निर्णय के साथ सहमत होते हुए कहते है कि 'भगवद्गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जिसे महाभारत के ग्रन्थकार ने अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए महाभारत मे प्रविष्ट करा लिया है।[२५] परन्तु महाभारत मे कई स्थानों पर भगवद्गीता का उल्लेख मिलता है, जो यही सकेत करता है कि महाभारत के निर्माणकाल से ही गीता को उसका एक वास्तविक भाग माना जाता रहा है।[२६]दोनों को एक मान लेने पर भी गीता के रचनाकाल का ठीक-ठीक निर्णय नही हो पाता है। तैलग ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी को गीता का रचनाकाल मानते हैं। आर० जी० भण्डारकर ईसा पूर्व चौथी शताब्दी को गीता का रचनाकाल मानते है, तथा गार्वे गीता के प्रारम्भिक आकार को ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व और वर्तमान गीता को ईसा से २०० वर्ष पश्चात् मानते है। विभिन्न मतभेदो को ध्यानगत रखते हुए इसकी प्राचीन वाक्य रचना और आन्तरिक निर्देशो से हम यह परिणाम निकल सकते है कि इसका काल ईसवी पूर्व पाँचवी शताब्दी कहा जा सकता है।

गीता की रचना का श्रेय व्यास को दिया जाता है, जो महाभारत के पौराणिक संकलनकर्ता हैं।

(ख) श्रीमद्भगवद्गीता की सामाजिक पृष्ठभूमि

गीता का स्त्रीलिङ्ग शब्द भी इस गीता के आधार पर ही प्रचलित हुआ है। वैसे गीता शब्द संस्कृत में प्रायः नपुंसक लिंङ्ग में ही प्रयुक्त है। 'गीतम्' यही निर्देश सामान्यतः प्राप्त होता है। फिर यही गीता शब्द स्त्रीलिङ्ग क्यो आया ? इसका कारण है, इसका पूरा नाम 'भगवद्गीतोपनिषद् है। गीता सब उपनिषदों का सार है। सार होने का कारण इसका भी उपनिषद् नाम से ही व्यवहार प्रवृत्त हुआ। उपनिषद् शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इसका विशेषण होने से गीत शब्द भी स्त्रीलिङ्ग बना और गानकर्ता भगवान् का नाम साथ जोड़कर भगवद्गीतोपनिषद् यह पूरा नाम हुआ भगवद्गीता की पुस्तको में अध्याय समाप्ति में ऐसा ही लेख देखने में आता है— 'इतिभगवद्गीतास्पनिषत्सुब्रह्म विद्यायाम् योग शास्त्रे' इत्यादि। बहुत से उपनिषदो का सार भगवान् ने लिया था इसलिए 'भगवद्गीता सुउपनिषत्सु' यह बहुवचन निर्देश प्रचलित हुआ। किन्तु व्यवहार में धीरे-धीरे वे 'विशेषण विशेष्य' निकल गए और 'भगवद्गीता' वा 'गीता' शब्द ये संक्षिप्त शब्द ही प्रचलित रह गए। यही कारण था कि यहाँ स्त्रीलिङ्ग 'गीता' शब्द के व्यवहार का था। किन्तु आगे इस बात पर ध्यान न देकर उपदेशो मे स्त्रीलिङ्ग गीता शब्द का ही प्रवाह चल पड़ा। स्वयं महाभारत में और अन्य पुराणों मे यह स्त्रीलिङ्ग गीता शब्द भिन्न-भिन्न उपदेशों में प्रयुक्त हुआ है। पिंगल, शंपाक गीता, विणख्यु गीता, हारीत गीता, वृत्र गीता, अवधूत गीता, गणेश गीता, पाण्डव गीता, शिव गीता, देवी गीता आदि बहुत सी गीताएँ महाभारत एवं पुराणो मे प्राप्त होती हैं। महाभारत के अश्वमेघ पर्व में यह प्रसंग आता है कि युद्ध समाप्ति और राज्याभिषेक के अनन्तर द्वारका से पुनः हस्तिनापुर आए हुए भगवान् श्रीकृष्ण से एकान्त मे एक दिन अर्जुन ने कहा कि 'युद्ध के आरम्भ मे जो आप ने उपदेश दिया था वह आगे युद्ध की हड़बड़ी में मुझे विस्मृत हो गया है। अब कृपा कर वह उपदेश मुझे फिर सुना दीजिए'। इस पर भगवान् ने खेद प्रगट करते हुए कहा कि तुमने बड़ी असावधानी की जो उस उपदेश को भुला दिया उस समय योग युक्त होकर

वह उपदेश मैने दिया था अब वैसा उपदेश नही हो सकता। फिर भी तुम्हारे आग्रह से कुछ-कुछ विषय सुनाऊँगा ऐसा कहकर भगवान ने जो उपदेश दिया उसका नाम 'अनुगीता' है और वास्तव मे इस भगवद्‌गीता जैसा शृंखलाबद्ध महत्व उसमे नही है।

आजकल के कल्पनावीर सज्जन यह कहने का भी साहस करते है कि भगवद्‌गीता मूल महाभारत का अङ्ग नही, यह पीछे से प्रक्षिप्त की गई है और भगवद्‌गीता को निकाल देने पर भी महाभारत के प्रकरणो की कोई संगति नही बिगड़ती, उनकी बुद्धि पर क्या कहा जाए। महाभारत मे बारम्बार गीता का प्रसंग आने पर भी उसे पीछे से मिलायी हुई मानना केवल दु:साहस मात्र है। महाभारत के अतिरिक्त अन्य पुराणों में गीता की खूब चर्चा है। इसी के आधार पर पुराणो में भी अनेक गीताएँ लिखी गई हैं। पद्मपुराण और वाराहपुराण मे भगवद्‌गीता का महात्म्य कहा गया है। सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'योग वसिष्ठ' के अन्तिम निर्वाण मे भी अर्जुन का उपाख्यान और भगवद्‌गीता के उपदेशो का सारांश दिया गया है। भागवतधर्म जिसे भक्ति मार्ग के नाम से भी कह सकते है उसके स्पष्ट विवरण का तो आदिम ग्रन्थ भगवद्‌गीता ही कहा जा सकता है। महाभारत का संगठन श्रीमद्‌भागवद् के पहले हो चुका था। तब महाभारतान्तर्गत भगवद्‌गीता की भागवत से प्राचीनता सुस्पष्ट है। यद्यपि इस प्रकरण मे व्यास जी का यह भी विचार लिखा है कि मैने परमहसो के अत्यन्त प्रिय भागवतधर्मों का प्राय: निरूपण नही किया और आगे श्री नारद जी के उपदेश में भी यही कथन है कि 'भवतानुदितप्रायं यशोभगवतोमलम्' अर्थात् अपने भगवान के निर्मल यश का वर्णन नही किया, इससे ही आत्मा में परितोष नही है। इन कथनों का तात्पर्य यही हो सकता है कि श्रीमद्‌भागवत ही भागवत धर्म का प्रथम ग्रन्थ है। किन्तु जबकि महाभारत की रचना श्रीमद्‌भागवत के कथन से ही भागवत की अपेक्षा प्राचीन सिद्ध हो जाती है और महाभारत मे भगवद्‌गीता नारायणीय आदि मे भागवद्धर्म का स्पष्ट विवरण मिलता है। इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि श्रीमद्‌भागवत से भगवद्‌गीता प्राचीन है, श्रीमद्‌भागवद् का एकदश स्कन्ध भगवद्‌गीता के प्रकरणों का विस्तृत वर्णन करता हुआ एक प्रकार से गीता का भाष्य ही समझा जा सकता है। इसमे भी गीता की प्राचीनता दृढ़ होती है। इसी प्रकार नारद पंचरात्र में भी भागवत, विष्णु-पुराण, भगवद्‌गीता आदि के नाम भी प्राप्त होते है। तब भगवद्‌गीता की उससे प्राचीनता में सन्देह का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

लोकमान्य तिलक भारतीय शास्त्रो के मर्मज्ञ विद्वान् थे। आप का कथन है कि वेद के अनन्तर भागवत धर्म का वा भक्ति मार्ग का प्रतिपादक सबसे प्राचीन ग्रन्थ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता ही है। सब मार्गो के सामंजस्य के कारण ही लोकमान्य तिलक ने दृढ़ता के साथ कहा है कि ऐसा ग्रन्थ विश्व की किसी भी भाषा मे नही है साथ ही वे यह भी कहते है कि न केवल भारत की सब भाषाओं मे, किन्तु लैटिन, ग्रीक, इंग्लिश, जर्मन आदि भाषाओ में भी भगवद्‌गीता के अनुवाद हुए है। विद्वानों का विचार[२७] है और वह ठीक ही प्रतीत होता है कि महाभारत काल मे आविर्भूत भगवान वासुदेव कृष्ण ने भागवत् धर्म का उपदेश दिया था।[२८] महाभारत काल परम्परा के अनुसार आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व माना जाता है, किन्तु आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धानकर्ताओं के अनुसार भी वह कम से कम ईसा से लगभग १४०० वर्ष पूर्व माना गया है। महाभारत और उसके अंशभूत 'गीता' का वर्तमान रूप किसी भी काल में प्राप्त हुआ हो किन्तु यह निश्चित है कि भगवान वासुदेव कृष्ण के द्वारा १४०० वर्ष ई० पू० में उपदिष्ट 'भागवतधर्म' ही गीता मे प्रतिपादित है।

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत ग्रन्थ का एक छोटा सा अश है। महाभारत के भीष्म पर्व के पच्चीसवे अध्याय से बयालिसवे अध्याय तक अठारह अध्याय ही गीता है। यूँ तो कई अश भी गीता के नाम के साथ जोड दिए गए है, जैसे विदुरगीता आदि, परन्तु उक्त गीता ही भगवद्गीता के नाम से विख्यात है।

महाभारत चन्द्रवशियो के दो परिवारो मे हुए युद्ध का वृत्तान्त है। इस युद्ध का वृतान्त लिखते हुए इस ग्रन्थ के रचयिता ने जहॉ पूर्ण चन्द्रवश का इतिहास लिखने का यत्न किया है, वहॉ इसमे घटी घटनाओ के कारण उनके परिणाम लिखने का भी प्रयास किया है। इन कारणो एव परिणामो के लिखने से महाभारत अन्य किताबो की भॉति इतिहास की सीमा को पार कर गया है। इतिहास केवल घटनाओ को अथवा काल की गतिविधि को लिखने का नाम है। जहॉ किसी घटना का कारण और उसके परिणाम का उल्लेख आया, वहॉ वह वक्तव्य इतिहास से कुछ अधिक माना जाता है। इसमे कारण है कि किसी घटना अथवा परिस्थिति के कारण अथवा उससे उत्पन्न परिणामो के अन्वेषण मे वस्तुस्थिति के अतिरिक्त कल्पना का सहारा लेने की आवश्यकता महसूस होती है।

वर्तमान युग की घटनाओ के विषय मे यही कहा जा सकता है। उदाहरण के रूप मे भारत के स्वराज्य आन्दोलन मे महात्मा गॉधी ने अनेक ऐसे कार्य किए और वक्तव्य दिए है जिनका प० जवाहरलाल नेहरू ने अक्षरश: समर्थन किया। इस पर भी दोनों की विचारधारा मे आकाश-पाताल का अन्तर रहा है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू की कम्युनिस्टो की सी मनोवृत्ति को जानते हुए भी, पण्डित जी को काग्रेस का प्रधान बनाने मे गॉधी जी सहायक होते रहे। इसके विपरीत गॉधी जी अपने को हिन्दू कहते हुए भी बाल गगाधर तिलक, मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपतराय इत्यादि का विरोध करते रहे। यह इतिहास है, परन्तु जब इस व्यवहार के कारण और परिणामों का उल्लेख करते है तो हम कल्पना के क्षेत्र में जा पहुँचते है। ऐसे लेख इतिहास की सीमा का अतिरेक कर पुराण के क्षेत्र मे जा पहुँचते है।

परन्तु पुराण अथवा कल्पना सदैव असत्य होगी क्या? ऐसा नही कहा जा सकता। जब कल्पना का आधार सत्य पर टिका होता है तो वह भी सत्य और प्रमाण की पदवी पाता है। ऐसा भारतीय दर्शन-शास्त्रों का मत है। उदाहरण के रूप मे हम धुएँ और अग्नि को इकट्ठा होना देखते है। इससे जहॉ भी धुऑ देखते है, वहॉ अग्नि का अनुमान लगा लेते है। यदि कहीं पेडो की झुरमुट मे से धुऑ उठता देखे तो उन पेडो के नीचे अग्नि होने का अनुमान किया जा सकता है। क्योकि हम जानते है कि धूम्र बिना अग्नि नही होती। इस कारण धूम्र को देखकर अग्नि की कल्पना सत्य है।

कल्पना असत्य भी हो सकती है। जब कल्पना का कोई सत्य आधार न हो तो कल्पना असत्य होगी। उदाहरण के रूप मे अग्नि बिना धूम्र के भी हो सकती है। जब जलने वाली वस्तु भली-भॉति जले तो धूम्र नही होता अथवा इतना कम होता है कि दिखाई नहीं देता। अत: अग्नि से धूम्र की कल्पना असत्य है। धूम्र तो अग्नि के बिना नही होता परन्तु अग्नि धूम्र के बिना भी हो सकती है। अत: धूम्र से अग्नि की कल्पना सत्य है और अग्नि से धूम्र की कल्पना असत्य भी हो सकती है। इसी प्रकार किसी ऐतिहासिक घटना के कारण की कल्पना सत्य भी हो सकती है। कल्पना का आधार सत्य होना चाहिए। अतएव पुराण सदा ही असत्य होंगे ऐसा नही। इसी आधार पर महाभारत मे कुछ काल्पनिक बाते देखकर उन्हें असत्य मान लेना बुद्धि को तिलांजलि देनें के तुल्य हो जायेगा।

अत: महाभारत मे कल्पना का पुट देखकर, उसमें आए ऐतिहासिक अश को अस्वीकार नही किया जा सकता। यह इतिहास की बात है कि कुरु वंश मे भाई-भाईयो में परस्पर वैमनस्य उत्पन्न हो गया था, जिसके परिणाम स्वरूप एक घोर युद्ध हुआ। यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि अर्जुन के मन में संशय उत्पन्न हुआ था और उस संशय का कृष्ण ने निवारण किया था। यह भी इतिहास है कि अर्जुन का सशय निवारण हुआ और उसने युद्ध मे भाग लिया। अत: गीता इतिहास का एक अंश है। इसका कल्पना से कोई सम्बन्ध नही। कल्पना यह थी कि अर्जुन ने उस ग्यारह अक्षोहिणी सेना मे से कितनो का संहार किया।

गीता का इतिहास इस प्रकार है। जब कौरव और पाण्डव की सेनाएँ कुरूक्षेत्र के मैदान में आमने-सामने आ उपस्थित हुई और व्यूह रचना कर एक-दूसरे की हत्या करने के लिए तैयार हो गयी तो अर्जुन ने यह देखने के लिए कि कौन-कौन लोग उस युद्ध मे भाग लेने के लिए आए है, अपना रथ दोनो सेनाओ के मध्य मे लाने के लिए कहा। कृष्ण अर्जुन के रथ का सारथी था। वह रथ को लेकर दोनों सेनाओं के मध्य जा खड़ा हुआ।

अर्जुन ने देखा कि दोनो सेनाओं मे उनके सगे-सम्बन्धी और प्रियजन ही खड़े है। उसके मन मे यह विडम्बना उपस्थित हुई कि क्या युद्ध से उस उद्देश्य की पूर्ति हो सकेगी, जिसकी वह इच्छा करता है। इस प्रकार उसने अनुभव किया कि जब पुत्र-पौत्र, भाई-बन्धु, मामा, चाचा, पितामह और आचार्य मारे गए तो फिर राज्य प्राप्ति से क्या लाभ होगा?

ऐसा विचार करने पर वह अपने मन, आत्मा और शरीर मे शिथिलता अनुभव करने लगा। उसने धनुष बाण छोड़कर अपने मन की बात कृष्ण से कही। उसने बताया—

हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा से खड़े स्वजनों को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते है और मुख सूख रहा है तथा मेरे शरीर में कम्पन व रोमांच हो रहा है।[२९]

गांडीव मेरे हाथ से छूट रहा है, त्वचा जलने लगी है और मन में भ्रम आ उपस्थित हुआ है। मै खड़ा रहने के भी योग्य नही रहा।[३०]

अर्जुन ने अपनी यह अवस्था बतायी और इन अवस्थाओं का कारण भी बताया। अर्जुन ने ये तीन बाते जो उनके मन में आयी थीं, कृष्ण से कह दीं—

१. अपने सब प्रिय जनो की हत्या करके अथवा कराकर मै राज्य पाने की आकांक्षा नही रखता। जिस बात की इच्छा करता था, परिणाम उसके विपरीत निकलते दिखाई पड़ते है।

इन सगे सम्बन्धियों को मारकर न मुझे विजय चाहिए और न मुझे राज्य की लालसा है। जिनके लिए हम राज्य-भोग और सुखो की इच्छा कर रहे हैं, वे सुखो की अभिलाषा छोड़ युद्ध में लड़ने मरने के लिए आ खड़े हुए है।

२. युद्ध से उपराम होने का दूसरा कारण उसने यह बताया कि इस युद्ध मे पितामह आचार्य इत्यादि बड़ों से लेकर पौत्र-प्रपौत्र तक आ खड़े हुए हैं। आचार्य कुल के बड़े लड़के, पोते, बाबा, मामा, श्वसुर, साले और सम्बन्धी सब युद्ध करने के लिए आ गए हैं। इस कुल हत्या से क्या अच्छा फल निकलने वाला है?

अर्जुन की युक्ति यह थी कि दुर्योधन आदि की बुद्धि भ्रष्ट होने से कुल के नाश और मित्र द्रोह को पाप नही मानते परन्तु हम लोग कुल नाश से होने वाली हानि को समझते है। मै जानता हूँ कि कुल के नाश होने से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा। धर्म के नाश होने से सम्पूर्ण कुल को पाप दबा लेगा और पाप बढ जाने से कुल की स्त्रियॉ दूषित हो जायेगी और ऐसा हो जाने से वर्ण संकर उत्पन्न होगा।

३. युद्ध न करने की बुद्धि उत्पन्न होने मे तीसरा कारण अर्जुन ने यह बताया कि वर्णसंकर सतान उत्पन्न होने से कुल का सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा और इस भॉति यह घोर पाप हो जायेगा। हे कृष्ण ! मै इस घोर पाप को करने की इच्छा नही रखता।

जब अर्जुन ने अपने मन का संकल्प वर्णन कर दिया और कहा कि मैं शस्त्र छोड़ रहा हूँ। यदि शस्त्र रहित होकर मुझे युद्ध न करते देख शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्रगण रण में मुझे मार भी देंगे तो ऐसे मरना मेरे लिए कल्याणकारी होगा।[३१]

आज के युग में महात्मा गॉधी का व्यवहार वही रहा है जो अर्जुन के उक्त वक्तव्य मे प्रकट किया है। गॉधी जी भी कुछ इसी प्रकार की आशा करते थे, परन्तु यह संसार का वास्तविक चित्र नही है। एक व्यक्ति की भावना प्रतीत होती है। इतिहास इसका साक्षी नही है। गीता का इतिहास किसी व्यक्ति की भावना का चित्रण नही है। यह समाज के व्यवहार का चरित्र चित्रण करता है और इतिहास इस बात का साक्षी है कि आततायी किसी की हत्या कर लज्जित होता दिखाई नहीं देता।

यह निश्चित है कि गीता का यह पक्ष कि– 'मैं शस्त्र को छोड़कर मृत्यु का वरण करूँगा, युद्ध में अपने सगे सम्बन्धियो की हत्या कर, कुल का नाश कर तथा कुल धर्म नष्ट कर, कुल की स्त्रियों को दूषित कर,. पाप का भागी नही बनूँगा' यह अर्जुन का विचार था। कृष्ण इस पक्ष को मिथ्या एवं हानिकारक समझते थे। इसी कारण गीता मे स्थान-स्थान पर कृष्ण अर्जुन को कहते देखे जाते हैं कि—

इसलिए हे कौन्तेय ! तू युद्ध का निश्चय कर।[३२] फिर कहा कि– इसलिये तू अपना मोह छोड़कर अपना कर्तव्य कर्म कर।[३३] और फिर कहा कि मेरा स्मरण कर और युद्ध कर।[३४]

इस प्रकार अनेक स्थानों पर युद्ध करने की प्रेरणा कृष्ण ने अर्जुन को दी। यह गीता से स्पष्ट हो रहा है कि गॉधी जी का विचार वही था जो अर्जुन का था। कृष्ण का मत गॉधी जी के पक्ष को मिथ्या पक्ष मानता है।

सत्याग्रह व्यक्तिगत कर्म हो सकता है, परन्तु यह समष्टिगत व्यवहार का स्रोत नहीं हो सकता और न यह व्यवहार फलदायी होता है। इतिहास यह बात बताता है कि सत्याग्रह कभी भी व्यक्तिगत अथवा समष्टिगत, आततायी के मनोभावो को बदल नहीं सका। जहॉ कहीं भी आततायी झुकता दिखाई दिया है, वहॉ कारण यह रहा है कि सत्याग्रह पर जनसाधारण के भड़क उठने से आततायी को अपनी जान व माल का भय लगने से, वह अपना जान माल बचाने के लिए सामयिक नम्रता स्वीकार कर लेता है। उसका हृदय परिवर्तन होता है ऐसा कहीं देखा नहीं गया। यह बात भारत में स्वराज्य प्राप्ति के बाद कांग्रेसी सरकार अनेक बार स्वयं कर चुकी है।

अहिसात्मक सत्याग्रह आततायी के मन मे परिवर्तन उत्पन्न नही करता वरन् यह अपने सहायको और समर्थकों के मन मे रोष उत्पन्न करता है और इस रोष से भयभीत आततायी सत्याग्रही की बात मान जाता है । यही वर्तमान भारत सरकार अभी तक करती रही है । ऐसे व्यवहार का एक अतिभयंकर पणिाम यह होता है कि कष्ट सहन करने वाले अथवा स्वेच्छा से मरने वाले की मॉग सत्य है, उचित है, हितकर है, यह जानने की न तो आवश्यकता महसूस होती है और न ही इसके लिए अवसर मिलता है । आततायी भयभीत होकर यह देखने लगता है कि उसकी जान कैसे बचेगी ।

अर्जुन का पक्ष मिथ्या था ।

गॉधी जी और उनके विचारको ने जब देखा कि उनके मन की बात गीता का उत्तर पक्ष नही वरन् पूर्व पक्ष है, तो उन्होने गीता के इतिहास पक्ष को अमान्य कर दिया । महात्मा जी ने कह दिया कि महाभारत इतिहास का ग्रन्थ ही नही, यह तो मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने के लिए अलंकार मात्र है ।

सक्षेप मे महाभारत का इतिहास अधर्माचारी कौरव और धर्माचारी पांडव के बीच युद्ध का है । गीता मे पांडव पक्ष को पूर्णतः धर्म सगत माना गया है । महाभारत की कहानी कुछ इस प्रकार है ।

कुरूवंशीय राजा शान्तनु प्रेम के वशीभूत हो गगा नाम की लड़की से विवाह इस शर्त पर किया कि उससे उत्पन्न सतान वह जो चाहे करे । इसके अनुसार गंगा सात बच्चो को गगा नदी मे बहा दी । आठवें पुत्र के लिए शान्तनु के विरोध पर वह बच्वे तथा शान्तनु को छोड़कर चली गयी । यही बच्चा कालान्तर मे देवव्रत भीष्म हुआ । वृद्धावस्था मे शान्तनु ने सत्यवती नामक लड़की से दूसरी शादी इस शर्त पर की, कि उसी से उत्पन्न लड़का राजगद्दी पर बैठे तथा पहले लड़के को राजगद्दी न मिले और आजीवन अविवाहित रहे । यह शर्त भीष्म ने भी स्वीकार की थी । सत्यवती से दो सन्तान हुये, एक अविवाहित मृत्यु को प्राप्त हुआ और दूसरा विवाह के पश्चात् निःसंतान मृत्यु को प्राप्त हुआ । राजगद्दी के प्रश्न पर भीष्म दृढ़ रहे । अतः सत्यवती और शान्तनु के समक्ष उत्तराधिकारी की समस्या उत्पन्न हुई । फलस्वरूप सत्यवती को अपनी बहु से नियोग द्वारा संतान प्राप्त करनी पड़ी । दुर्भाग्य से एक संतान अंधा तथा दूसरा संतान पाण्ड वर्ण तथा दुर्बल हुआ । बड़ा संतान धृतराष्ट्र अन्धा था अतः छोटे संतान पाण्डु से ही राज्य कार्य लिया जाता था । इन दोनो मे यह शर्त भी थी कि जिसका लड़का पहले होगा वह राज्य का उत्तराधिकारी होगा । धृतराष्ट्र को एक सौ एक पुत्र हुये तथा पाण्डु को पॉच । पहले कौरव कहलाये और दूसरे पांडव । दोनो मे युधिष्ठिर (पांडु-पुत्र) बड़े थे जो शर्तानुसार उत्तराधिकारी हुए, परन्तु कौरव ऐसा मानने को तैयार नही थे । अतः राज्य को विभाजित कर दो पक्ष को सौप दिया गया । एक के राजा कौरवो मे बड़े भाई दुर्योधन हुए दूसरे के युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर द्वारा किये गये राजसूय-यज्ञ में प्राप्त वस्तुओं को देखकर दुर्योधन ईर्ष्यावस युधिष्ठिर को जुआ के लिए आमंत्रित कर सब कुछ जीत लिया फिर राज्य वापस करने के लिए शर्त रखा गया कि युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित तेरह वर्षों तक वन मे रहे जिसमे से अन्तिम एक वर्ष अज्ञातवास होना चाहिए । युधिष्ठिर ने शर्त स्वीकार कर पूरी कर दी । इस अज्ञातवास काल में दुर्योधन ने पता लगाकर हत्या कराने का प्रयास किया पर असफल रहा । शर्त पूरी करने के पश्चात् भी दुर्योधन ने राज्य वापस करने से इन्कार कर दिया । फलस्वरूप दोनों ही ओर से युद्ध की तैयारी शुरू

हो गयी। इस भावी युद्ध को रोकने के लिये श्रीकृष्ण ने (जो पाडवो के सम्बन्धी थे साथ ही एक विद्वान्, कूटनीतिज्ञ और योग्य सहायक भी थे) भरपूर प्रयास किया, परन्तु असफल रहे। इस प्रकार दोनो पक्ष युद्ध के लिए मैदान मे पहुँचे। जहाँ अर्जुन विपक्ष मे अपने सम्बन्धियों, गुरू आदि को देख युद्ध करने से इन्कार किया साथ ही उनके मन मे लड़ने एवं मारने से पाप का संशय हुआ जिसके निवारण हेतु श्रीकृण ने जो शिक्षा का उपदेश दिया वही श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के रूप मे हम सभी के समक्ष है।

दुर्योधन और युधिष्ठिर के पक्षो की विवेचना महाभारत मे विद्यमान है। युद्ध शुरू होने से पूर्व श्रीकृष्ण दुर्योधन और युधिष्ठिर मे सन्धि करने के विचार से हस्तिनापुर गये थे। हस्तिनापुर दुर्योधन की राजधानी थी। वहाँ भरी सभा में कृष्ण ने उन सब कार्यों का उल्लेख किया जो दुर्योधन ने अधर्म का आश्रय लेकर किया था। कृष्ण के इस वक्तव्य से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि दुर्योधन अधर्माचरण पर आरूढ़ था। कृष्ण ने उस सभा मे कहा—

१. यह बात निश्चय है कि युधिष्ठिर का पिता पाण्डु राज्य कार्य चलाता था और उसका बड़ा भाई अन्धा होने से राज्य कार्य के अयोग्य था।

२. परिवार के बड़ो का यह निर्णय था कि धृतराष्ट्र और पाण्डु दोनों की सेनाओ मे सबसे बड़ा लड़का राज्य पायेगा। इस निर्णय के अनुसार पाण्डु का पुत्र युधिष्ठिर राज्याधिकारी माना जाना चाहिए।

३. दुर्योधन का बड़ो के इस निर्णय को न मानना अधर्म है।

४. दुर्योधन ने अपने बड़ों का कहना न मानकर युधिष्ठिर आदि को विष देकर मार डालने का यत्न किया, इस कृत्य मे सफलता न मिलने पर जीवित जला देने का यत्न किया। यह व्यवहार अधर्म था।

५. इस पर घर के बड़ों ने राज्य विभाजित कर दिया। युधिष्ठिर को एक क्षेत्र जो 'वन' प्रदेश था, राज्य स्थापित करने के लिये दे दिया गया। युधिष्ठिर ने वहाँ नयी राजधानी बनायी। इसका नाम इन्द्रप्रस्थ रखा। तत्पश्चात् राजसूय-यज्ञ किया और अपना चक्रवती राज्य स्थापित किया।

६.दुर्योधन ने छल से जुआ खेलकर युधिष्ठिर का राज्य छीन लिया, इस पर घर के बड़ों ने यह शर्त लगा दी कि पांडव बारह वर्ष तक वन में एवं एक वर्ष तक अज्ञातवास में निवास कर सकें तो राज्य उनको वापस मिल जायेगा। यह एक प्रकार से युधिष्ठिर को जुआ खेलने और उसमें मूर्खों की भाँति धोखा खा जाने का दण्ड था। इस दण्ड के भोगने के उपरान्त उसे राज्य मिल जाने की बात थी। परन्तु युधिष्ठिर के शर्त पूरी करने पर भी उसे राज्य नही दिया गया।

कृष्ण ने घर के बड़ों को समझाया कि वे अपने निर्णयों का पालन करायें, दुर्योधन को समझाते हुए कहा कि यदि वे अपने भाइयों को पाँच गाँव भी दे दे तो युद्ध टल सकता है।

इस वक्तव्य में कृष्ण ने पांडवो के पक्ष को धर्म और न्याय संगत सिद्ध कर दिया था। दुर्योधन के हठ के कारण संधि नहीं हुई और भयंकर युद्ध हुआ।

कृष्ण ने गीता प्रवचन मे पूर्ण जीवन की घटनाओ का उल्लेख नही किया। इन सबका उल्लेख महाभारत मे है। गीता मे केवल इतना संकेत किया है कि अर्जुन का पक्ष धर्म का है। वह धर्म युद्ध करने आया है। अत: वह युद्ध मे दोषी नहीं है। धर्म युद्ध करता हुआ यदि वह जीवित रहेगा तो राज्य का सुख पायेगा और मृत्यु को प्राप्त हुआ तो स्वर्ग प्राप्त करेगा।

संदर्भ

१. गीता, ११/३५

२. वही, ११/४८

३. वही, १०/२४

४. श्री बाल गंगाधर तिलक द्वारा लिखे 'गीता रहस्य' के गीता और महाभारत प्रकरण (पृ० ५१६)

५. श्रीमद्.भगवद्गीता - एक अध्ययन, पृ० ४१

६ गीता, २/३१

७ भीष्मपर्व, १२२/३७

८. श्रीमद्भगवद्गीता- एक अध्ययन, पृ० ३१

९ श्रीमद्भगवद्गीता- एक अध्ययन, पृ० ३१

१०. सप्तर्षयो ह्याधायुक्ता काले परीक्षिते शतम्। - ब्राह्मणपुराण, २३५

आन्ध्रान्ते च चतुर्विंशो भविष्यति शत समाः। - वही, २३६

११. उ० पा० उ० अ०, ७४

१२. (क) तैलंग - भगवद्गीता, सी० बी० ई०, वा० ८, इन्ट्रोडक्शन, पृ० २१

(ख) भण्डारकर - विष्णुविस्म, शेवविस्म एण्ड अदर सेक्टस

(ग) गार्वे - डी भगवद्गीता, पृ० ६४

१३. गीता अथवा कर्मयोगशास्त्र (गीता की बहिरंग परीक्षा), पृ० ५६९

१४. गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र (गीता की बहिरंग परीक्षा), पृ० ५६९

१५. वही

१६. 'कर्णभार' नामक नाटक में बारहवॉ श्लोक

१७. गीता, २/३७

१८. पुस्तक सात, अंक ६-७, पृ० ४२८-४३२, मार्गशीर्ष और पौष, सं० १९७०

१९ बौधायन गृह्यशेष सूत्र, २/२२/९

२०. गीता, ९/२६

२१ सिक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट, सिरीज, वाल्यूम २, इन्ट्रोडक्शन, पृ० XLii एण्ड आल्सो द सम सिरीज, वाल्यूम १४, इन्ट्रोडेक्शन, पृ० xl11i

२२ सौन्दरानन्द, १८/५४

२३ वही, १८/६७

२४. डॉ० केर्न - मैनुवल आफ इण्डियन बुद्धिज्म, गराउण्डरीस्तृतीय, ८, पृ० १२२ महायान पन्थ के 'अभितायुसुत्त' नामक मुख्य ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा मे सन् १४८ के लगभग हो गया था।

२५. सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, खण्ड ८, भूमिका, पृ० ५-६

२६ महा०, आदिपर्व, २/६९/२-२४७

२७. महाभारत, शं० प०, ३३६/१०, ११

२८ लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक - गीता-रहस्य (हिन्दी), पृ० ५४८

२९. भ० गी०, १/२८, २९

३०. भ० गी०, १/३०

३१ भ० गी०, १/४६

३२ भ० गी०, २/१८, २/३७

३३. वही, ३/१९

३४. वही, ८/७

द्वितीय - अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षाऐं

श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षाऐं

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार साधारण मनुष्य का जीवन सुखमय नही है। यह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दुःखो के दोषो से पूर्ण है।[१] इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त होने वाले जितने भोग हैं, वह सब सुखदायक, सादि तथा सान्त है, बुद्धिमान पुरुष उनमे मन नही लगाता।[२] इन्द्रियो मे लिप्त रहने से प्राणी को बार-बार जन्म-मरण के चक्कर मे फॅसना पडता है। इन्द्रिय-विषयों की ओर प्रवृत्त होने का परिणाम दुःखदायी होता है।[३] इन सब कारणों से सांसारिक जीवन मनुष्य के लिए कल्याणकारी नही है, गीता के अनुसार मनुष्य का लक्ष्य 'ब्राह्मी स्थिति' है। यही मनुष्य का परम प्राप्त पद है। इसे प्राप्त करने से ही अत्यन्त सुख और शान्ति का लाभ होता है। ब्राह्मी स्थिति का वर्णन गीता मे भिन्न-भिन्न स्थानो पर, भिन्न-भिन्न रूपो मे हुआ है। जैसे सनातन ब्रह्म को पालना,[४] परम तत्व को पालना,[५] भगवद् भाव को प्राप्त कर लेना।[६] भगवान के पास पहुॅच जाना।[७] ब्रह्म मे लीन हो जाना,[८] ब्रह्म मे स्थित हो जाना।[९] ब्रह्म को भली भॉति छू लेना।[१०] निष्फलक ब्रह्म रूप हो जाना,[११] सब में पूर्ण और चरम अवस्था को प्राप्त कर लेना। आदि-आदि।

इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर आत्मा पुनर्जन्म के बन्धन से पूर्णतः मुक्त हो जाती है।[१२] जिस शान्ति के लिए मनुष्य लालायित है, उस परम और स्थिर शान्ति का अनुभव केवल ब्राह्मी स्थिति मे होता है।[१३] इस अवस्था में केवल दुख निवृत्ति ही नही अक्षय और सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति भी होती है।

भगवद्गीता में ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनेक मार्गों का निर्देशन किया गया है। उनमे मुख्य है— ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग, योग मार्ग। व्यक्ति अपनी रूचि और गुणो के अनुसार किसी भी मार्ग को अपना सकता है।

गीता का सबसे अद्भुत उपदेश है— "निष्काम कर्म। फल में अनासक्ति रखते हुए कर्मों का सम्पादन करने से उनके गुण दोषों को भोगने के लिए मनुष्य उत्तरदायी नही है। कर्मो के शुभाशुभ फलो से बचने का एकमात्र उपाय निष्काम कर्म है, कर्मो के सम्पूर्ण त्याग से सिद्धि प्राप्त नहीं होती, क्योकि कोई भी पुरुष किसी भी काल में क्षण मात्र भी बिना कोई कर्म किए नही रह सकता। निःसदेह सब लोग अपनी प्रकृति के गुणो के वशीभूत होकर कर्म करते हैं। कर्मेन्द्रियों को रोकर इन्द्रिय भोगो की मन में कल्पना करने वाला मिथ्याचारी होता है।

गीता की नीति यह है कि— कर्त्तव्य कर्म, का (जिसका निश्चय गुण और स्वभाव के आधार पर बनी हुई वर्ण व्यवस्थानुसार भगवान ने सब प्राणियों के हित के निमित्त किया है, सदा पालन करना चाहिए। जगत की उत्पत्ति और

व्यवस्था करने वाले भगवान का अश आत्मा-रूप मे हमारे अन्दर स्थित है। कर्म व्यक्तिगत सुख और भोग के लिए नही किन्तु लोक कल्याण की भावना से करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य उच्च से उच्च गति प्राप्त कर सकता है। आत्म ज्ञान, भगवद् भक्ति, लोक हित और भगवान की प्रसन्नता के लिए कर्मफल से अनासक्त होकर यज्ञ-भाव से कर्तव्यों को करना, मनुष्य के लिए जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य-ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के उपाय हैं।

गीता मे दो प्रकार की सम्पदा युक्त पुरुषो का वर्णन मिलता है। दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा। दैवी सम्पदा से युक्त पुरुष के लक्षण है— निर्भिकता, मन की स्वच्छता, ज्ञान योग में निरन्तर स्थिति, दान, इन्द्रिय संयम आदि।[१४]

पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध और अज्ञान, यह सब आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए मनुष्य के लक्षण है।

कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय मे निर्देश शास्त्रों से प्राप्त करना चाहिए। काम, क्रोध और लोभ के वश में होकर मनमाने और विधि हीन कर्म नही करने चाहिए। शास्त्र ही हमको कर्तव्यों का उपदेश देते है। जो पुरुष शास्त्रों की विधि को त्याग कर अपनी इच्छानुसार काम करता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न परमगति को। कर्तव्य, अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण होना चाहिए।[१५]

गीता मे उपनिषदों के दर्शन और नीति का ही विकसित रूप देखने को मिलता है। गीता के पश्चात् विकास क्रम की दृष्टि मे 'योग वशिष्ठ', बाल्मीकि कृत है। अत: उसमे वही नैतिकता तथा धार्मिकता के उपदेश हैं, जो रामायण में रामचन्द्र को उनके कुल गुरु वशिष्ठ द्वारा दिए गए हैं, और जिनके अनुसार आचरण करके वह मर्यादा पुरुषोत्तम राम कहलाये।

वेद, स्मृति और सदाचार— यह तीन भारतीय साहित्य मे आप्त प्रमाण माने जाते है। पुराणों का समावेश सदाचार मे होता है। जो नियम या विधि वेदो या स्मृतियों मे आदेश रूप में दी गई है, वही नियम या विधि पुराणो मे महापुरुषों के उद्धरण देकर कथा रूप में प्रस्तुत की गई है।

इसके पश्चात् आते हैं, 'भारतीय दर्शन' जिसमें स्वतन्त्र बौद्धिक विचार होने के कारण सृष्टि और उसके मूल तत्वों को लेकर बहुत मतभेद है किन्तु चार्वाक को छोड़कर उनके नीति सम्बन्धी विचारो में प्राय: एकता ही है। आस्तिक दर्शनो (वेद को प्रमाण मानने वाले) की नीति मे बहुत अधिक सामंजस्य है। वह उपनिषदों और स्मृतियो की नीति को प्राय: बिना किसी विशेष परिवर्तन के स्वीकार करते हैं।

भगवद्गीता भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र युद्ध में अर्जुन को दिया गया उपदेश है। यह वेदान्त दर्शन का सार है। यह अत्यन्त परम आदरणीय ग्रन्थ है। यह योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को बछड़ा बनाकर उपनिषद् रूपी गायो से दुहा गया अमृतमय दूध है, जिसे सुधीजन पीते हैं।[१६] यह महाभारत के भीष्मपर्व के अन्तर्गत है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानो ने इसकी अत्यन्त प्रशंसा करते हुए इसे 'मानव धर्म ग्रन्थ' बतलाया है। इसकी तुलना कामधेनु और कल्पवृक्ष से की गयी है। महात्मा गाँधी ने गीता को जगत्माता की संज्ञा दी है, जिसके द्वार सदा सबके लिए खुले हैं। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के अनुसार— गीता साधक को संन्यास के उस निम्न स्तर से जहाँ पदार्थों का तथा कर्मों का त्याग किया

जाता है, निष्काम-कर्मयोग के उस उच्च स्तर पर ले जाती है, जहाँ कामना और आसक्ति का त्याग किया जाता है और जहाँ योगी समाधिस्थ होते हुए भी शरीर और मन से लोक कल्याण के लिए कार्य करते है।

कुरुक्षेत्र के युद्ध मे एक ओर पाण्डव सेना और दूसरी ओर कौरव सेना युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी है। भगवान् कृष्ण जो अर्जुन के सारथी है रथ को दोनो सेनाओ के बीच मे ले जाकर खड़ा करते है। अर्जुन अपने गुरुजन सम्बन्धियो और परिजनो से लड़ने से साफ मना कर देता है और कहता है कि युद्ध जीत लेने पर भी अपने परिजनो के रक्त से रंजित राज्य सुख का उपभोग करने से कोई लाभ नही, अत: मै युद्ध नही करूँगा, चाहे ये मुझे मार डालें। भगवान् कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि क्षत्रिय राजपुत्र और धर्म रक्षक होने के नाते उसका कर्तव्य है कि वह अधर्म और अशुभ से लड़े एव धर्म को विजयी बनाये। अर्जुन तर्क-वितर्क करता गया और श्रीकृष्ण उसको समझाते गये कि युद्ध करना उसका धर्म है, कि उसे अपने 'स्वभाव और स्वधर्म' का पालन करना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य है कि गीता का उपदेश सम्पूर्ण होने पर श्रीकृष्ण ने केवल यही कहा— जैसी तुम्हारी इच्छा हो वही करो।[१७] और अर्जुन ने उत्तर दिया— आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, अत: आपने जैसा कहा मैं वही करूँगा।[१८]

गीता का उपदेश सार्वभौमिक है। यह प्रत्येक देश-काल, जाति-धर्म के मनुष्यो के लिए ग्राह्य है। आज का मानव भौतिक भोग लिप्साओ मे भटकता हुआ अपने लक्ष्य से विमुख हो गया है। इस भटकती हुई मानवता को कर्तव्य कर्मो को करते हुए और उनके फलों के प्रति अनासक्त भाव रखने, निष्काम कर्म की सतत् साधना करने की दृष्टि गीता के उपदेश से ही उपलब्ध हो सकेगी। ऐसी दृष्टि मनुष्य के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होगी। कर्म के बिना एक क्षण भी नही रहा जा सकता, अत: कर्म से विमुख होने की अपेक्षा कर्म-फल से विमुख होना ही गीता द्वारा श्रेयस्कर माना गया है।

ग्रन्थ-परिचय

गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक अंश है। इसमें ७०० श्लोक है। इसकी रचना कब हुई? इस सन्दर्भ मे विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। टालबवांएज व्हीलर के अनुसार— कृष्ण और अर्जुन युद्ध के मैदान में उभयपक्षीय सेनाओं की उपस्थिति में दार्शनिक विवाद में संलग्न हों, विश्वसनीय नहीं है।[१९] तेलंग इसी प्रकार का विचार रखते हुए गीता को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते है, जिसे महाभारत के रचनाकार ने अपने प्रयोजन के निमित्त इसे महाभारत मे सम्मिलित कर लिया है।[२०] महाभारत में गीता का उल्लेख अनेक स्थलो पर होने से, इसे महाभारत का एक अंश मान लेने में कोई कठिनाई नही है।[२१] महाभारत और गीता मे शैली की समानता और विचारों की एकरूपता के आधार पर भी इनके एकत्व को स्वीकार किया जा सकता है।[२२] फिर भी इसके रचनाकाल का निर्धारण करना सम्भव नही है। तेलंग इसकी रचना ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से भी अधिक प्राचीन मानते हैं। सर आर० जी० भण्डारकर के अनुसार गीता कम से कम चौथी शताब्दी ईसा पूर्व की तो है ही। गार्ब प्रारम्भिक गीता को दो सौ वर्ष ईसा पूर्व का मानते हैं।[२३] हिल के अनुसार भी गीता का रचनाकाल दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व मानना चाहिए[२४], लेकिन डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार— 'यदि हम गीता को पॉचवी शताब्दी ईसा पूर्व का मान लें तो हमारा मत कुछ अधिक अनुचित न होगा।'[२५] महाभारत और उसका

एक अश होने के कारण गीता के रचनाकार व्यास माने जाते है, लेकिन इस बात के लिए कोई प्रमाण नही है और व्यास के जीवन के सन्दर्भ मे कोई सबूत भी उपलब्ध नही है।[२६]

युद्ध में अपने ही बन्धु-बांधवो को देखकर, अर्जुन युद्ध से विमुख होने लगा। उसकी अकर्मण्यता को दूर करने के लिए कृष्ण ने उसे कर्मण्यता का उपदेश दिया— यद्यपि यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि युद्ध के मैदान मे जहॉ सेनाएँ लड़ने के लिए खड़ी हों और पूरा का पूरा वातावरण युद्ध का हो, वहॉ सारथी के रूप मे कृष्ण रथी अर्जुन को इतना लम्बा दार्शनिक उपदेश दे, तथापि इस विषय मे कोई सन्देह नही है कि केवल अत्यन्त भीषण काल ही, जैसे युद्ध क्षेत्र, विवेकशील व्यक्तियो के मन मे आधारभूत मूल्यो पर ध्यान देने के लिए उत्तेजना पैदा कर सकता है। केवल ऐसे ही समय मे धार्मिक वृत्ति वाले मनो के अन्दर इस प्रकार का खिचाव उत्पन्न होता है, जो इन्द्रियों की मर्यादाओं को तोडकर आन्तरिक यथार्थ सत्ता का स्पर्श कर सके। यह सम्भव है कि अर्जुन को युद्ध के क्षेत्र मे अपने मित्र कृष्ण से विशेष उपदेश या निर्देश ही मिला हो और महाभारत के कवि ने उसे सात सौ श्लोको का जामा पहना दिया हो।[२७] वैसे महाभारत के युद्ध को एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना मानने के प्रति संदिग्ध दृष्टिकोण रखने वालो की भी कमी नही है। इसलिए विचारको ने उपलक्षणो का आश्रय लेकर इस युद्ध की व्याख्या करने का प्रयास किया है। पाण्डव और कौरव क्रमश: दैवी और आसुरी प्रवृत्तियो के प्रतीक माने जा सकते है, जिनके मध्य निरन्तर युद्ध हमारे ही अन्दर होता रहता है। इस युद्ध मे अर्जुन मन को निराश न होकर कृष्ण रूपी आत्मा की आवाज को सुनकर औचित्य का आचरण करना चाहिए। सम्भव है, इसी उद्देश्य से गीताकार ने गीता की रचना की हो और उसे ऐतिहासिक युद्ध का प्रारूप प्रदान कर दिया हो। इससे यह परिलक्षित होता है कि गीताकार का अपनी रचना की प्रस्तुति का प्रमुख प्रयोजन ऐतिहासिक विवरण देना न होकर एक नैतिक समस्या का समाधान प्रस्तुत करना है। यह अलग बात है कि नैतिक समस्या पर विचार करते हुए— समय-समय पर उसका तत्वमीमांसीय प्रश्नों को छू देना अनिवार्य है, लेकिन ये प्रश्न उसकी नैतिक शिक्षा की पृष्ठभूमि मात्र हैं।[२८] फिर भी यह कहा जा सकता है कि गीता मे एक व्यावहारिक उपदेश दिया गया है और इसके लिए युद्ध क्षेत्र का चुनाव किया गया है, क्योंकि वही एक स्थल ऐसा है, जहॉ यह बात आसानी से समझ मे आ सकती है कि सामाजिक हित की तुलना मे वैयक्तिक कल्याण गौण है।

भाष्यकारों का विवाद

गीता के ऊपर अनेक भाष्य लिखे गये हैं। आचार्यों की परम्परा में शंकर, रामानुज, मध्व, बल्लभ, निम्बार्क आदि ने गीता पर भाष्य लिखे हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञानेश्वर, आनन्दगिरि, रमण महर्षि, तुकाराम, एकनाथ आदि का नाम भी उल्लेखनीय है। समकालीन परम्परा में बालगंगाधर तिलक, एनी वेसेन्ट, श्री अरविन्द, त्रयंबक, महात्मा गॉधी, डॉ० राधाकृष्णन्, विनोबा भावे, सातवलेकर, कवीश्वर आदि अनेक विचारकों की विवेचनाएँ महत्तवपूर्ण हैं।

गीता के सन्दर्भ मे मुख्य विवाद भाष्यकारों के बीच यह रहा है कि गीता में किस बात का उपदेश दिया गया है? यथार्थत: गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म तथा योग का अन्यतम वर्णन किया गया है। विवाद यह है कि गीता में इनमें से किसको प्रमुखता प्रदान की गयी है?

शंकराचार्य ज्ञान को प्रमुखता प्रदान करते है । उनके अनुसार ज्ञान ही पूर्णता को प्राप्त करने का सर्वोच्च साधन है । कर्म, भक्ति तथा योग ज्ञान की ओर ले जाते है । रामानुजाचार्य अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुरूप भक्ति को महत्व देते है । मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य भी भक्ति अथवा ईश्वर की अनुकम्पा को सर्वोपरि मानते हैं । ज्ञानेश्वर के अनुसार पातंजल योग ही गीता का प्रमुख उपदेश है । इन सबसे अलग एक अन्य दृष्टिकोण बाल गगाधर तिलक का है, जो गीता में कर्म मार्ग की शिक्षा को प्रधानता देते हैं । मधुसूदन सरस्वती की मान्यता है कि गीता उपनिषदो द्वारा मान्य तीनो विधानो अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान को स्वीकार करती है और क्रमश: प्रत्येक विषय को छ: अध्यायो मे रखा गया है ।[२९] इन मान्यताओ मे गीता के उपदेश के विभिन्न पक्षों की महत्ता को प्रस्तुत किया गया है । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वामन पण्डित ने अपनी यथार्थ दीपिका में उचित ही कहा है कि— इस कलियुग मे प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारो के अनुसार ही गीता की व्याख्या करता है ।[३०] व्याख्याकारो के अपने दार्शनिक मत हैं, जिन्हे उन्होने अपनी व्याख्याओं मे आरोपित कर दिया है ।

मधुसूदन सरस्वती का दृष्टिकोण अवश्य समन्वयात्मक है । कर्म, उपासना और ज्ञान तीनो को समान महत्व देना उचित ही है । ये तीन इस मनोवैज्ञानिक मान्यता के अनुरूप हैं क्योकि मानसिक प्रक्रियाएँ तीन प्रकार की होती हैं— ज्ञानात्मक, भावात्मक और इच्छात्मक । इन तीनो का सम्बन्ध क्रमश: ज्ञान, भक्ति और कर्म से है । निष्कर्षत: यह कहना उचित होगा कि गीता मे ज्ञान युक्त भक्तिपूर्वक कर्म करने का उपदेश दिया गया है । ऐसा कर्म निष्काम कर्म कहलायेगा ।

कृ (करणे) धातु से व्युत्पन्न कर्म शब्द का अर्थ है— कार्य अर्थात् पृथक-पृथक् चेष्टा, जिसका संस्कार मनुष्य के चित्त पर पड़ता है । ऐसे संस्कारो के संगठन से मनुष्य का चरित्र बनता है, व्यक्तित्व का निर्माण होता है । कर्म का अर्थ ऐसे कार्य है, जिनका संस्कार चित्त पर पड़ता है और जिसका शुभाशुभ फल मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर मे भोगना पड़ता है ।

गीता के समय तक यज्ञ की वैदिक धारणा में भी परिवर्तन हो गया था । गीता में कही-कहीं कर्म शब्द का प्रयोग यज्ञ के अर्थ मे भी हुआ है । यज्ञ का तात्पर्य ऐसे कर्म से है जो दूसरों के हित के लिए किया जाय और जिसको करने से न तो प्रतिफल प्राप्त किया जाय और न ही उसकी इच्छा की जाय ।[३१] वास्तव मे गीता मे कर्म शब्द का प्रयोग प्राय: ऐसे कर्तव्यों के अर्थ में हुआ है, जो गीता की रचना के समय तक समाज के विभिन्न वर्गो के लिए श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर नियत कर्म बन गये थे और जिन्हे धर्म कहा जाने लगा था । प्रत्येक व्यक्ति को निर्धारित अपने वर्ण के अनुसार कर्मो को करना उसका कर्तव्य है । ऐसा करके ही वह सामाजिक व्यवस्था मे नैतिक सहयोग दे सकता है ।

कर्म प्राणी का स्वभाव है । प्रत्येक जीव अपने जीवनकाल मे निरन्तर कर्म करता रहता है । जीवन के साथ ही कर्म जुड़ा हुआ है । इसीलिए गीता में कहा गया है— 'कर्म किये बगैर कोई भी प्राणी एक पल भी नहीं रह सकता ।[३२] जब तक कर्म है तब तक जीवन है, इसलिए गीता में आदेशित किया गया है— 'कुरु कर्मेव'— कर्म करो ही । कर्म तो हमेशा होते रहते है, लेकिन किस प्रकार के कर्म किये जायें, इसका निर्धारण आवश्यक है । वैसे कर्म की गति अति जटिल

है।[३३] इसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है। क्या कर्म है ? क्या अकर्म ?— इस सन्दर्भ मे महान् विद्वान् मोहित है।[३४] फिर भी, कर्म की अनिवार्यता को ध्यान मे रखकर यह निश्चित करना आवश्यक हो जाता है कि कौन सा कर्म उचित है ? इसके लिए कर्मो का वर्गीकरण करना आवश्यक है। विभिन्न आधारो पर कर्मो का निम्नाकित वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है—

क. साधन के आधार — मानसिक, वाचिक, कायिक।

ख. धार्मिक आधार पर — सात्विक, राजस, तामस।

ग. वेदान्तिक आधार पर — प्रारब्ध, सचित, क्रियमाण।

घ. वैज्ञानिक आधार पर — कर्म, अकर्म, विकर्म।

ङ. हेतु के आधार पर — नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध।

गीता मे उपर्युक्त प्रकार के कर्मो का विवरण विभिन्न प्रसंग मे प्रस्तुत किया गया है। मुख्य रूप से कर्म हेतु पर विचार करना आवश्यक है। इस सन्दर्भ मे यह कहा गया है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म तो करना चाहिए, क्योकि इनसे फलबन्धन नही होता, किन्तु काम्य (सकाम) और निषिद्ध कर्म का तो पूर्णत. त्याग कर देना चाहिए।[३५]

एक अन्य दृष्टिकोण से सभी कर्मो को सकाम और निष्काम— दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है। सकाम कर्म वह है जो स्व-सुख, लौकिक सुख की प्राप्ति की कामना से किया जाता है। सकाम कर्म किसी सयोग या किसी पदार्थ संग्रह की इच्छा से किया जाता है। सकाम कर्म का केन्द्र शरीर सुख है। निष्काम कर्म वह कर्म है जिसे हम किसी कामना की पूर्ति के लिए नही करते, अपने सुख के लिए नहीं करते, अपितु दूसरे के हित के लिए करते हैं। स्पष्ट है कि कामनायुक्त कर्म को सकाम कर्म कहते हैं और कामना रहित कर्म को निष्काम कर्म। निष्काम कर्म किसी उद्देश्य अथवा आवश्यकता से प्रेरित नही होता है और सकाम कर्म किसी कामना से प्रेरित होता है। कामना अनित्य तत्व की होती है, आवश्यकता एक और कामनाएँ अनेक होती हैं। आवश्यकता की पूर्ति तो सम्भव है, लेकिन कामना की पूर्ति कभी भी नही होती। उदाहरणार्थ— भूख शरीर की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति सम्भव है, लेकिन भोजन में स्वादिष्ट व्यंजनो के प्राप्त होने की कामना होती है, जिसकी पूर्ति कभी भी नही होती है। कामना से पदार्थ प्राप्त नही होते। प्राप्त भी हो जाये तो उनमे स्थायित्व नही रहता। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कामनाओं की पूर्ति हो रही है, लेकिन उनसे अन्य अनेक कामनाओ की उत्पत्ति हो जाती है और यह शृंखला बनी रहती है। अत: कामनायुक्त अर्थात् सकाम कर्म को छोडकर कर्मयोगी निष्काम भाव से सेवा (कर्म योग), स्वरूप बोध (ज्ञानयोग) ओर परमात्मा प्राप्ति (भक्तियोग) इन तीनो उद्देश्यो से कर्म करता है।

निष्काम कर्म शब्द का भारतीय वाङ्मय मे यत्र-तत्र विभिन्न रूपों में प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद और इशावास्योपनिषद् में यह आदेश दिया गया है कि— कर्मयोगी को कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहना चाहिए। जो पुरुष सम्पूर्ण संसार के कारणभूत पर ब्रह्म और विनाशी शरीर— इन दोनों के यथार्थ तत्व को सम्यक् जान लेता है और शरीर से भिन्न—

मै अविद्योपाधि से स्वकर्मवशात: शरीर के समान हूँ— यह विचार कर आत्मसाक्षात्कार के प्रधान कारण ज्ञान प्राप्ति के हेतु उपासना एवं निष्काम कर्म करता है, वह कर्मयोगी विनाशी शरीर से अन्त: शुद्धि कर आत्मज्ञान प्राप्त कर मुक्ति का पात्र हो जाता है ।[३६]

निष्काम भाव से कर्म करने से ही कर्म-बन्धन कमजोर पड़ता है, इसी विचार से विभिन्न उपनिषदो मे कर्म करने का उपदेश दिया गया है । ईशावास्योपनिषद मे कहा गया है— त्याग भाव से (निष्काम भाव से) किये जाने वाले कर्म मनुष्य के लिए नही होगे । कर्माचरण ही कर्मो में लिप्त न होने का एकमात्र मार्ग है ।[३७] कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता से कहते हैं कि— ऋक्, साम, यजुर्वेद त्री तत्व रहस्य में निष्णात होकर निष्काम भाव से यज्ञ दान और तप तीनो कर्म करने वाला मनुष्य जन्म-मृत्यु से तर जाता है ।[३८] श्वेताश्वतरोपनिषद् मे वर्णित है कि जो कर्मयोगी सत्व रजस और तमस इन तीनो गुणो से व्याप्त वर्णाश्रम विहित कर्तव्यो एवं कर्मो को अहंता, ममता ओर अपसक्ति से रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से करता है, उसका कर्मो के साथ सम्बन्ध न रहने के कारण वे फल नहीं देते ।[३९] नि:स्वार्थ, इच्छारहित, तटस्थ रूप से कर्म करने के अर्थ मे 'निष्काम कर्म' का प्रयोग मारकण्डेय पुराण में भी मिलता है । श्रीमद्‌भागवत मे कहा गया है कि जिससे भगवान् सन्तुष्ट हों, वही कर्म है और जिससे मनुष्य की बुद्धि मे भगवान् मे ही प्रवृत्त हो, वही विधा है ।[४०] पुन: कहा गया है कि कामासक्त अविवेकी सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति को ही सर्वस्य मानने वाले लोभी जन सकाम होकर यज्ञादि कर्मपरायण होकर भी अपने स्वरूप को नही जान पाते ।[४१] विष्णु पुराण की मान्यता है कि कर्म वही है, जो बन्धन का कारण न हो और विद्या भी वही है, जो मुक्ति का साक्षात् साधन हो । इसके अतिरिक्त अन्य कर्म श्रम और अन्य विद्याएँ कला कौशल ही है ।[४२] विष्णु पुराण मे यह कहा गया है कि कर्म योग ज्ञान का तभी साधन बन सकता है, जब उसमे सकाम भाव एवं फलानुसंधान न हो, फलानुसंधान और कामासक्ति से अन्त: शुद्धि सम्भव नही । वे बन्धन के कारण होते है ।[४३]

इस सन्दर्भ में न केवल उपर्युक्त वर्णन ही उपलब्ध हैं, अपितु ऐसे विचार भारतीय वाङ्मय में भरे पड़े है । अन्य धर्मो एवं दर्शनो मे भी किसी न किसी रूप में काम्य (सकाम) कर्मो को वर्जित माना गया है और निष्काम कर्म को करने का उपदेश दिया गया है ।

निष्काम कर्मयोग का वर्णन गीता के दूसरे अध्याय के ३९वें श्लोक से आरम्भ हो जाता है । सम्पूर्ण गीता मे कर्म के प्रति अहंता, ममता और आसक्ति का विरोध किया गया है, इसलिए इस प्रकार का विचार मिलता है कि तुम्हारा कर्म करने में अधिकार है, फल में नही, इसलिए तुम फल की वासना वाला मत बनो और कर्मों को छोड़ देने का भी विचार मत करो ।[४४]

गीता की स्पष्ट मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति क्षणमात्र भी कर्म किये बगैर नही रह सकता । कर्म करना व्यक्ति का अधिकार और कर्तव्य दोनों है । उसे कर्म करना ही चाहिए, लेकिन उसे आदेश दिया गया है— 'मा कर्मफल हेतुर्भू' अर्थात्— फलार्थी मत बनो, कर्मफल की वासना से मुक्त रहो । इसका कारण यह है कि— 'फलेसक्तो निबध्यते'[४५] फलासक्ति

के कर्मबन्ध दृढ होता है। इसलिए गीता मे फलेच्छा से रहित होकर कर्म करने की शिक्षा दी गयी है, क्योकि 'कृपणाः फलहेतवः'[४६] अर्थात् फल की इच्छा रखने वाले कृपण (दीन, दया के पात्र) होते है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक ओर गीता मे कर्म करने का आदेश दिया गया है, कर्म को अधिकार और कर्तव्य माना गया है और दूसरी ओर फलेच्छा से रहित होकर कर्म करने को कहा गया है तो फलेच्छा या फल की कामना के बिना कर्मो मे प्रवृत्ति कैसे होगी ? इसके समाधान स्वरूप यह कहा जा सकता है कि कामना की पूर्ति और निवृत्ति दोनो के लिए कर्मो मे प्रवृत्ति हो सकती है। गीता मे स्पष्ट किया गया है कि अज्ञानी व्यक्ति कामना की पूर्ति के लिए कर्मो मे प्रवृत्त होते है और ज्ञानी पुरुष (योग) आसक्ति को त्याग कर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।[४७]

वस्तुतः कर्म करने का गीता का आदेश आवश्यकता (उद्देश्य) की पूर्ति के लिए ही है, कामना (इच्छा) की पूर्ति के लिए नहीं। कामना की पूर्ति के लिए वही मनुष्य कर्मो में प्रवृत्त होते हैं, जो वास्तविक उद्देश्य को भूल गये है, उससे विमुख हो गये हैं। ऐसे ही लोगों को दीन या दया का पात्र कहा गया है। इसके विपरीत जो व्यक्ति उद्देश्य को ध्यान मे रखकर कामना की निवृत्ति के लिए कर्म करते हैं, उन्हे मनीषी[४८] कहा गया है।

गीता मे तो एक ओर कहा गया है कि फलासक्ति से कर्मबन्ध दृढ़ होता है और दूसरी ओर कर्म करने का आदेश दिया जाता है। तो क्या कर्म करने से कर्मबन्ध दृढ़ नही होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा जा सकता है कि कर्म करने से कर्मबन्ध का होना या न होना कर्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। यद्यपि यह सही है कि गीता मे संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया गया है, तथापि सकल्पित कर्म के प्रति यदि कर्ता भाव है तो वह कर्म, ईष्ट, अनिष्ट और मिश्रित— तीन प्रकार का फल देता है। परन्तु जिस कर्म में 'मै कर्ता नहीं हूँ' ऐसा भाव रहता है, वह बन्धनकारक नहीं होता। उसे चेष्टामात्र[४९] कहा गया है। जिस प्रकार कॉटा से कॉटा निकाला जाता है, उसी प्रकार चेष्टाएँ कर्मबन्धन से छुटकारा दिलाने मे सहायक होती है। निष्काम भाव प्राप्त करने में निम्नलिखित बातें भी सहायक हो सकती हैं— लोक संग्रह, नियत स्वधर्मपालन भाव, स्थितप्रज्ञता, समत्व, ईश्वरार्पणभाव।

चेष्टाएँ स्वार्थ सिद्धि के लिए नही होती। स्वार्थ (अपने लिए कर्म करने) से ही सभी प्रकार की विकृतियाँ और विपत्तियॉ उत्पन्न होती हैं। स्वार्थ से कर्मतुच्छ और बन्धनकारक हो जाते है। बन्धन को तोड़ना और मुक्ति का आनन्द लेना ही मानव का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वहित कर्म उपयुक्त नही है। हमारे पास जितनी समझ, समय, सामर्थ्य और सामग्री है उसी से हम दूसरो की सेवा करें तो वह सेवा लोक हितकारी होगी। इसी बात को ध्यान मे रखकर गीता मे लोक संग्रह का उल्लेख किया गया है। नैयायिक जयन्त भट्ट ने लोक स्थिति अर्थात् सामाजिक सन्तुलन को परम पुरुषार्थ कहा है। महानिर्वाण तन्त्र में लोक श्रेय को नैतिक मानक माना गया है। गीता मे व्यावहारिक नैतिकता के स्तर मे लोकसंग्रह को यानी सामाजिक कल्याण को परम पुरुषार्थ माना गया है।[५०] गीता की स्पष्ट मान्यता है कि आसक्ति रहित होकर लोकसग्रह को ध्यान में रखकर किये गये कर्म से ही व्यक्ति संसिद्धि प्राप्त करता है।[५१] गीता में सर्वभूत-हित को सर्वोच्च आदर्श माना गया है[५२], जो व्यक्ति समस्त भूतों (जीवों) के हित में रत है वे ईश्वर को प्राप्त होते हैं।[५३] सर्वभूतहित के लिए विद्वान् पुरुष को अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए।[५४] आसक्ति रहित एवं हेतु रहित होकर समस्त

भूतो के प्रति अहिसा, अक्रोध, अद्रोह, करुणा, सत्य, सद्‌भावना, परोपकार आदि का पालन दैवी सम्पदा के लक्षण माने गये है।[५५] दैवी सम्पदा देव तुल्य पुरुषो के गुण या ईश्वरीय गुणो को कहते है, जिनके अभ्यास से मनुष्य परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

सामाजिक कल्याण को परम पुरुषार्थ के रूप मे मान्य करते हुए गीता मे स्वधर्म के पालन पर बल दिया गया है। गुण और कर्म के आधार पर चार प्रकार के वर्णो की रचना हुई है, उन वर्णो के लिए निर्धारित कर्म करना ही स्वधर्म है। इसे ही सहज कर्म, स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावनियत कर्म आदि कहा जाता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि यहाँ धर्म शब्द कर्म या कर्तव्य के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। गीता मे स्वधर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है। आकर्षक परधर्म से गुण रहित लगने वाला स्वधर्म श्रेष्ठ है। स्वभाव से नियतकर्म को करने वाला मनुष्य पाप को प्राप्त नही होता।[५६] गीता का यह आदेश है कि दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नही त्यागना चाहिए, क्योकि जिस प्रकार धुँए से अग्नि आवृत्त रहती है, उसी प्रकार सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त है।[५७] प्रत्येक कर्म दोष से आवृत्त होने के बावजूद भी आसक्ति रहित कर्म करने वाला व्यक्ति नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है। यदि व्यक्ति स्वधर्म का पालन करने के लिए युद्ध भी करता है तो उसे गीता में क्षत्रिय के लिए कल्याणकारक कर्तव्य कहा गया है, इससे यह स्पष्ट है कि गीता का विचार आधुनिक दार्शनिक ब्रैडले के 'मेरा स्थान और उससे सम्बन्धित कर्तव्य' की धारणा के समरूप है। ब्रैडले की यह मान्यता है कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति का स्थान उसकी मानसिक रुचियो के अनुरूप निर्धारित है। यदि व्यक्ति समाज मे अपने स्थान के अनुरूप कर्तव्य का पालन करता है तो वह सामाजिक हित के साथ-साथ स्वहित भी करता है।

गीता के अनुसार सामाजिक हित के लिए स्वधर्म का पालन व्यक्ति को अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्तव्य के पालन के रूप मे करना चाहिए। गीता में स्वीकृत चारो वर्णो— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विभाजन गुण और कर्म के आधार पर किया गया है।[५८] ब्राह्मण का स्वभाव जन्य कर्म, शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता (आर्जव), ज्ञान अर्थात् अध्यात्मज्ञान, विज्ञान यानि विविध ज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि है।[५९] शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और (प्रजा पर) शासन करना क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है।[६०] कृषि अर्थात् खेती, पशुओं को पालने का उद्यम और व्यापार वैश्य का स्वभावजन्य कर्म है; प्रत्येक वर्ण के सदस्य को अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्म का फलेच्छा से रहित होकर पालन आवश्यक है। अन्यथा वह कर्तव्यच्युत समझा जायेगा। गतिशील सृष्टिचक्र में यदि एक व्यक्ति भी कर्तव्यच्युत होता है तो उसका विपरीत प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टि पर पड़ता है।[६२]

इस प्रकार गुण और कर्म के आधार पर विभाजित वर्णव्यवस्था को स्वीकार कर गीता मे निष्काम भाव से स्वधर्म के पालन को आवश्यक माना गया है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की यह भी मान्यता है कि स्वकर्म के आचरण मे फलाशा का परित्याग कर कार्यरत पुरुष स्वर्ग नरक न जाकर पवित्र होकर विशुद्ध ज्ञान एवं पराभक्ति पा लेता है, जिससे उसका परम श्रेय निश्चित है।[६३] स्पष्ट है कि स्वधर्म या नियतकर्म का करना साध्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है। कर्मों का निर्धारण उनका विहित या निषिद्ध होना, देश, काल, वर्ण, आयु आदि पर निर्भर है। इतना निश्चित है कि फलाशा का परित्याग करके जो व्यक्ति करणीय कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है।[६४] नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है। समस्त

कर्मो का त्याग तो सम्भव नही है, इसलिए जो व्यक्ति कर्मफल का त्याग कर देता है, वही त्यागी है । गीता के अनुसार कर्मो के त्याग अर्थात् अकर्म की तुलना मे कर्म श्रेयस्कर है । कर्मो का त्याग सच्चा संन्यास नही कहा जा सकता । इससे व्यक्ति साध्य को प्राप्त नही कर सकता ।[६५] कर्म न करने से शरीर निर्वाह भी सम्भव नही है, इसलिए गीता मे शास्त्र विहित कर्म करने, नियत कर्म करने, फलाशा से रहित होकर कर्म करने को श्रेष्ठ माना गया है ।[६६]

वस्तुत: नैष्कर्म्य के लिए गीता की मान्यता यह है कि जो व्यक्ति अहकार रहित की गयी सम्पूर्ण चेष्टाओ अर्थात् कर्मो मे अकर्म देखे और जो अकर्म मे कर्म को, वह व्यक्ति ज्ञानी है और वह सम्पूर्ण कर्मो को करते हुए भी बन्धन मे नही पड़ता ।[६७] गीता मे विकर्म शब्द का भी प्रयोग किया गया है । विकर्म के दो अर्थ होते है— निषिद्ध ओर विशेषकर्म । आचार्य विनोबाभावे ने गीता प्रवचन मे विकर्म का अर्थ विशेष कर्म ही लिया है । उनके अनुसार— 'कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिए । इस मन के मेल को ही गीता विकर्म कहती है । इस विशेष कर्म (विकर्म) का इस मानसिक अनुसन्धान का योग जब हम करेंगे, तभी उसमें निष्कामता की ज्योति जगेगी । कर्म के साथ जब आन्तरिक भाव का मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है । कर्म के साथ विकर्म का मेल हुआ तो निष्कामता आती है । कर्म में विकर्म उडेलने से अकर्म होता है । विकर्म के कारण मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है ।कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्म करके फिर उसे साफ कर दिया हो' ।[६८] अपने मत को आचार्य विनोबा भावे ने गणितीय सूत्र के रूप मे प्रस्तुत किया है— कर्म + विकर्म = अकर्म ।

अन्य व्याख्याकारो ने विकर्म शब्द को निषिद्ध कर्म के अर्थ मे प्रयुक्त किया है । निषिद्ध कर्म ऐसा कर्म होता है, जो स्वभावत: बिना आसक्ति के किया जाने योग्य नही होता, इसलिए बन्धनकारक होता है, जैसे— हत्या, झूठ बोलना इत्यादि ।[६९] इस सन्दर्भ मे अन्तत: यही कहना उचित होगा कि अकर्म और विकर्म की तुलना मे कर्म उत्तम है, लेकिन वही कर्म उत्तम माना जा सकता है, जो निष्काम है ।

नैष्कर्म्य की सिद्धि के लिए गीता स्थित प्रज्ञता को आवश्यक मानती है । स्थितप्रज्ञ वही है, जिसकी बुद्धि स्थिर है । सामान्य व्यक्ति की बुद्धि विभिन्न इच्छाओं के प्रति आकर्षित होती रहती है । उसकी इन्द्रियॉ अपने विषयो में भटकती रहती है । इसके विपरीत, स्थितप्रज्ञ वह है जो सम्पूर्ण कामनाओं (इच्छाओं) को त्याग कर आत्मतुष्ट रहता है । वह दु:ख मे.मन से उद्विग्न नही होता, सुख के प्रति स्पर्धा नहीं रखता और राग, भय एवं क्रोध से भरे होता है । वह शुभ वस्तुओ की प्राप्ति पर प्रसन्न नहीं होता और अशुभ की उपलब्धि पर द्वेष नही करता ।

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगो को समेट लेता है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ अपनी इन्द्रियो को विषयो से समेट कर अपने वश मे कर लेता है तथा अपने चित्त को ईश्वर मे लगाता है । इसके विपरीत, जो व्यक्ति मन से विषयो का ही चिन्तन करता रहता है, उसकी आसक्ति उन विषयो मे हो जाती है । आसक्ति के उन विषयो में कामना होती है और कामना सिद्धि में विघ्न पड़ने से क्रोध की उत्पत्ति होती है । क्रोध से मोह अथवा अविवेक उत्पन्न होता है, अविवेक से स्मृति भ्रमित हो जाती है, जिससे ज्ञान शक्ति का नाश होता है । ज्ञान शक्ति के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति अपने श्रेय साधन से च्युत हो जाता है ।

अतः गीता की मान्यता है कि जो व्यक्ति राग द्वेष से रहित होकर इन्द्रियो को पूरी तरह आत्मा के वशीभूत कर विषय भोग करता है वह प्रसाद अर्थात् अन्तःकरण की प्रसन्नता प्राप्त करता है । ऐसी स्थिति मे उसके समस्त शोक नष्ट हो जाते हैं और उसकी बुद्धि शीघ्र ही प्रतिष्ठित हो जाती है, जिसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नही होती, उसकी ईश्वर मे आस्था भी नही होती और उसे शान्ति की प्राप्ति नही होती । अशान्त व्यक्ति को सुख नही प्राप्त हो सकता है ? जो व्यक्ति मन और इन्द्रिय को पूरी तरह से अपने वश मे कर लेता है, वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है । उसकी बुद्धि निश्चल रहती है । वह काम तृप्ति के पीछे पागल नही होता । जिस प्रकार विभिन्न नदियो के मिलते रहने पर भी समुद्र शान्त रहता है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में सभी भोग बिना विकार उत्पन्न किए हुए समा जाते हैं और वह परम शान्ति को प्राप्त करता है । ऐसा व्यक्ति सम्पूर्ण कामनाओ को त्याग कर ममता रहित एवं अहंकार रहित होकर शान्ति को प्राप्त करता है । यह स्थिति 'ब्राह्मी स्थिति' है । जब व्यक्ति इस स्थिति मे पहुँच जाता है, तब वह मोहग्रस्त नही होता, अपितु ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करता है ।[७०]

यह ब्राह्मी स्थिति परम शान्ति की अवस्था है । इसके अलावा भी यह स्थिति व्यक्ति को निष्क्रिय नहीं बनाती । इस अवस्था मे रहते हुए भी व्यक्ति कर्म करता रहता है, लेकिन उसका कर्म निष्काम होता है । इस अवस्था मे पहुँचने के लिए 'समत्व' आवश्यक होता है ।

गीता मे समत्व को योग कहा गया है ।[७१] योग का मान्य अर्थ है— चित्तवृत्तियो का निरोध । समत्व से चित्तवृत्तियो का निरोध सभव है । इसलिए इसे योग कहा गया है । सुख-दुःख, लाभ-हानि, अर्थात् सिद्धि-असिद्धि को समान समझने की स्थिति को समत्व कहा गया है, और यह समत्व भाव ही योग है । गीता मे कर्मो मे कुशलता को भी योग कहा गया है ।[७२] इसका तात्पर्य यह है कि समत्व बुद्धि रखने वाला व्यक्ति पुण्य-पाप को त्याग देता है, उनसे लिप्त नही होता । इसलिए गीता मे समत्व बुद्धि रूप योग के लिए ही चेष्टा करने का उपदेश दिया गया है । समत्व बुद्धि रूप योग ही कर्मो मे कुशलता है । इसी से कर्म बन्धन से छुटकारा मिलता है ।

ईश्वरार्पण भाव से किये गये कार्य निरहंकार भाव से किये जाने के कारण बन्धनकारक नहीं होते । स्वार्थ पूर्ति उनका उद्देश्य न होने के कारण उन्हे भी निष्काम कर्म की श्रेणी में लाया जा सकता है ।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए निष्काम कर्म योग एक उत्तम एवं समाज के कल्याणकारी उपाय है, पर प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है या उसे पूर्व निर्धारित कर्म ही करने पड़ते है । एक ओर गीता मे यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य पूर्वकृत स्वाभविक कर्म से बँधा हुआ है । उसके समस्त प्रयास निरर्थक लगते है, क्योकि शरीर रूपी यन्त्र में आरुढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणी को, अन्तर्यामी ईश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार चक्कर दे रहा है ।[७३] यदि पूर्वकृत कर्मो से ही समस्त मानवीय व्यापार नियन्त्रित है तो मनुष्य को संकल्प की स्वतन्त्रता नही रह जाती ।

लेकिन गीता में, दूसरी ओर यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि— जैसी तेरी इच्छा हो वैसा करो ।[७४] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि गीता मे संकल्पित कर्म करने की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया गया है ।

उपर्युक्त दोनो मतो के पक्ष-विपक्ष मे अनेक विचार दिये जा सकते है, लेकिन गीता का दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए यह कहना ही उचित होगा कि गीता में मनुष्य के कर्म करने के अधिकार को तो स्वीकार किया गया है, लेकिन फल को ईश्वराधीन माना गया है।[७५] कर्म करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र है। यह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता नही है। व्यक्ति को समत्व बुद्धि से कर्म करने का सकल्प लेना चाहिए, लेकिन कर्म फल तो किये गये कर्म के अनुसार ही होगा। इस बात को डॉ० राधाकृष्णन् ने एक उपमा के द्वारा स्पष्ट किया है। जीवन ब्रिज के खेल की भॉति है। इस खेल मे ताश के पत्ते हमे दिये जाते है। हम उन पत्तो को चुनकर नही लेते। हम उचित काल देने के लिए स्वतन्त्र है। खेल के नियमो से बॅधे हुए अवश्य है। एक अच्छा खिलाड़ी अधिकाधिक सम्भावनाओ पर ध्यान रखता है लेकिन अनाड़ी खिलाड़ी ऐसा नही कर पाता।[७६] इससे स्पष्ट है कि जीवन के खेल मे एक अच्छे खिलाड़ी की भॉति अधिकाधिक सम्भावनाओ को ध्यान मे रखकर कार्य करने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि वह अन्तर्यामी, जो प्रत्येक के शरीर रूपी यन्त्र का संचालक है, वह और कोई नही हमारी ही विशुद्ध आत्मा है, वही ईश्वर है। उसकी आज्ञा को मानना और उसके अनुरूप कर्म करना आवश्यक है। इससे कर्म करने की स्वतन्त्रता पर कोई ऑच नही आती।

गीता का निष्काम कर्मयोग तत्कालीन प्रचलित दो आदर्शों— निवृत्ति और प्रवृत्ति— के बीच समन्वय प्रस्तुत करता है। समस्त कर्मों से सन्यास ले लेना और समाज से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना निवृत्ति का आदर्श है। प्रवृत्ति का आदर्श समाज मे रहते हुए कर्म करना है। गीता इन दोनो के बीच निष्काम कर्म-योग के माध्यम से समन्वय लाती है।

कर्मफल के प्रति अनासक्ति या त्याग निवृत्ति का प्रतीक है और लोकहित को ध्यान मे रखकर कर्म करते रहना प्रवृत्ति का द्योतक है। गीता का यह उपदेश कर्म से संन्यास को स्वीकार नही करता, फिर भी कर्मफल के त्याग का विचार देकर त्याग की भावना सुरक्षित रखता है। इस सन्दर्भ मे श्री हिरियन्ना की मान्यता है कि गीता का उद्देश्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के आदर्शो को बनाये रखते हुए दोनो का स्वर्णिम मार्ग खोज निकालना, कर्मयोग ही यह मध्यम मार्ग है।[७७]

अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि गीता का निष्काम कर्मयोग जीवन की सच्चाई को प्रकट करता है। यह वह मार्ग है जिस पर चलते हुए मनुष्य अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। निष्काम कर्म भाव से किये गये कर्म बन्धनकारक नहीं होते। ऐसे कर्मों से ही व्यक्ति पूर्णता की अवस्था मे पहुँचता है, ब्राह्मी स्थिति में पहुँचता है या ईश्वर मे निवास करता है और परम शांति को प्राप्त करता है। ये कर्म सिर्फ अपने लिए ही नही होते, बल्कि लोकहित की दृष्टि से होते हैं।

यहॉ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि निष्काम भाव ज्ञान, भक्ति और कर्म— तीनों से सम्बद्ध है। सकाम ज्ञान, सकाम भक्ति और सकाम कर्म त्याज्य है। निष्काम भाव से कर्म करने मे ज्ञान और भक्ति का होना अवश्यंभावी है। गीता मे समस्त ज्ञानियों और भक्तो को भी समाज के समक्ष प्रशस्त मार्ग रखने के लिए अनासक्त भाव से कर्म करने की आज्ञा दी गयी है।[७८]

उपर्युक्त स्पष्टीकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि— ज्ञान, भक्ति और कर्म मार्ग की प्रधानता को लेकर भाष्यकारो में जो विवाद है, वह उनकी ही मान्यताओं का गीता पर आरोपण प्रतीत होता है। इतना तो निश्चय है कि ज्ञानी हो या भक्त, कर्म तो सबको करना ही पड़ता है। यदि ज्ञानयुक्त भक्तिपूर्वक कर्म किया जाये तो वह कर्म निष्काम कर्म कहलायेगा ओर साध्य-प्राप्ति में सहायक होगा।

भारतीय वाङ्मय मे गीता का अद्वितीय स्थान है। इसकी महत्ता इस तथ्य मे सन्निहित है कि इसने अपने समय के प्रचलित समस्त विरोधी विचारो को आत्मसात् करके उनका एक समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। लेकिन विवाद इसके महत्व को और बढ़ा देते है।

गीता को दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र का अनन्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। विलियम वानहम्बोल्ट के अनुसार— यह सबसे अधिक सुन्दर और यथार्थ अर्थो मे सम्भवत: एकमात्र दार्शनिक गीत है, जो किसी ज्ञात भाषा मे लिखा गया है।[७९]

गीता की महत्ता प्रतिदिन के जीवन मे इसकी व्यावहारिक उपादेयता से सिद्ध होती है।[८०] इसका उपदेश प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी सार्थकता रखता है। जो व्यक्ति गीता के प्रति आस्था रखते हुए, उसे जीवन मे उतारता है, वह कभी भी निराश नही होता। उसका मोह नष्ट हो जाता है और वह जीवन संघर्ष में विजयी होता है।

गीता का उपदेश सार्वभौमिक है। लोक संग्रह का विचार उसकी सार्वभौमिकता को सिद्ध करता है। ज्ञान और भक्ति से सुयुक्त निष्काम कर्म व्यक्ति को स्वार्थ से परार्थ की ओर अग्रसर करता है। ऐसा व्यक्ति स्व और पर मे कोई अन्तर नही मानता ह। उसमे सामाजिकता का भाव आध्यात्मिक रूप ले लेता है। निष्काम कर्म का सन्देह हमारे आवेगो का आध्यात्मीकरण कर लेता है। जो आवेग व्यक्ति को हीन आत्मा के धरातल पर प्रस्तुत करते हैं, उनके नियन्त्रण एवं जिनसे व्यक्ति उच्च आत्मा के धरातल पर पहुँचता है, उनके उन्नयन का विचार गीता में स्पष्ट झलकता है। गीता की मान्यताएँ मनोवैज्ञानिक आधार रखती है। ज्ञान, भक्ति और कर्म क्रमश: ज्ञानात्मक, भावात्मक और इच्छात्मक मानसिक प्रक्रियाओ से सम्बद्ध है। गीता में जिस वर्णव्यवस्था का वर्णन है, वह भी मूलत: गुण और कर्म के आधार पर है। सत्व, रजस्, तमस् विभिन्न मनोवैज्ञानिक स्वाभाविक प्रवृत्तियॉ है। मनोवेगो और सम्वेगो के संयमन के सम्बन्ध मे गीता के विचार उसकी मनोवैज्ञानिकता को व्यक्त्त करते हैं।

काण्ट की भॉति गीता में भी 'कर्तव्य के लिए कर्त्तव्य सिद्धान्त' को स्वीकार किया गया है। लेकिन काण्ट की भॉति गीता सन्यासवाद या कठोरतावाद मे विश्वास नही करती। गीता को यदि किसी नैतिक सिद्धान्त की श्रेणी में रखने की चेष्टा की जाये, तों इसे पूर्णतावाद की श्रेणी मे रखा जा सकता है।

आधुनिक सन्दर्भ मे गीता के निष्काम कर्म के उपदेश की उपादेयता है। श्री हिरियन्ना[८१] के शब्दों में— अब इस बात की बहुत कम सम्भावना है कि लोग अपने कर्तव्य को छोड़कर संन्यासी बन जायेगे। जैसा कि अर्जुन ने चाहा था। खतरा तो दूसरी ओर है। अपने अधिकारों को मॉगने और उनका उपयोग करने की व्यग्रता मे हमें अपने कर्तव्यो को भूल जाने की आशंका है। अत: गीता के उपदेश की आवश्यकता अब भी उतनी ही अधिक है, जितनी कभी थी। समय बीतने के साथ इसका मूल्य घटा नहीं है और यही इसकी महत्ता का प्रमाण है।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग मे निवृत्ति का भय तो नही है, लेकिन प्रवृत्ति इतनी अधिक होने की आशंका है कि व्यक्ति अपने कर्तव्य को ही विस्मृत कर सकता है। आज व्यक्ति भौतिक सम्पन्नता को जुटाने में अधिकारो का दुरुपयोग, शोषण, मिथ्या नारेबाजी, दम्भ पाखण्ड आदि से इतना ग्रस्त है कि सामाजिक व्यवस्था मे नैतिकता की इतिश्री हो गयी है। ऐसे स्थिति मे गीता का निष्काम कर्म ही त्रस्त समाज को त्राण दे सकता है।

सन्दर्भ

१. गीता १३,८

२. गीता ५,२२

३. गीता २,६३-६९

४ गीता ४,३१

५. गीता ३,१९

६ गीता ५,२४

७. गीता ४,९

८ गीता ५,२६

९. गीता ६,२८

१०. गीता ६,२७

११. गीता ८,२८

१२ गीता २,५१

१३ गीता २,७१,७२

१४. गीता १६,१-३

१५. गीता १६,४,२३-२४

१६ सर्वोपनिषदों गावो दोग्धाः गोपालनन्दनः
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामतं महत् ॥६ ॥

(अथ श्रीमद्भगवद्गीता महात्म्यम्)

१७. यथेच्छसि तथा कुरु । - गीता, १८,६३

१८. करिष्ये वचनं तव । गीता, १८,७३

१९. भारतीय दर्शनशास्त्र, डॉ० राधाकृष्णन, भाग १, पृ० ४८१

२०. सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, खण्ड ८, इण्ट्रोडक्शन, पृ० ५,६

२१. महाभारत, आदिपर्व, २,६९.२,२४७

२२ गीता रहस्य, तिलक, परिशिष्ट; सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, खण्ड ८, पृ० ५,६

२३. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन, भाग १, पृ० ४८२ से उद्धत

२४ द गीता एकार्डिंग टु महात्मा गॉधी, महादेव देसाई, पृ० ५

२५ भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन, भाग १, पृ० ४८३

२६. द गीता एकार्डिंग टु महात्मा गॉधी, महादेव देसाई, पृ० ९

२७. भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन, भाग १, पृ० ४८१, ८२

२८. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, एम० हिरियन्ना, पृ० ११७

२९ भारतीय दर्शन, डॉ० राधाकृष्णन, भाग १, पृ० ५११

३० गीता एण्ड इट्स कमेन्टेटर्स, एस० एच० ज्ञानवाला, पृ० १५९

३१ द गीता एकार्डिंग टु महात्मा गॉधी, महादेव देसाई, पृ० १७७

३२ न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवश· कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥— गीता, ३, ५

३३ कर्मणो ह्यपि बोद्धव्य बोद्धव्य च विकर्मण· ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ — गीता, ४, १७

३४. किं कर्म किम कर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ — गीता, ४, १६

३५. महेश्वर तंत्र, १६, ४८

३६. शुक्ल यजुर्वेद, ४०, ११

३७. ईशावास्योपनिषद, २

३८. कठोपनिषद, १, १, १७

३९. श्वेताश्वतरोपनिषद, ६, ४

४०. श्रीमद्भागवत, ४, २९, ४९

४१. श्रीमद्भागवत, १०, ४८, ११

४२. विष्णु पुराण, १, १९, ४१

४३. विष्णु पुराण, ६, ७, २८

४४. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्वत्वकर्मणि ॥ — गीता, २, ४७

४५. युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ — गीता, ५, १२

४६. दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणः फलहेतवः ॥ — गीता, २, ४९

४७. कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ — गीता, ५, ११

४८ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिण.।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ — गीता, २, ५१

४९. सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ — गीता, ३, ३३

५० नीतिशास्त्र, डॉ० जे० एन० सिन्हा, पृ० २४८

५१ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ — गीता, ३, २०

५२.अ निर्वैर· सर्वभूतेषु यः स मामेति पान्डव ॥ — गीता, ११, ५५

ब अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् मैत्रः करुण एव च। — गीता, १२, १३

स. अहिसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। — गीता, १६, २

५३. सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। — गीता, १२, ४

५४. सक्ता· कर्मण्यविद्वांसो तथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुलोक संग्रहम् ॥ — गीता, ३, २५

५५. अहिंसा सत्यम क्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

तेज. क्षमा धृति. शोचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ — गीता, १६, ३

५६. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोतिकिल्विषम् ॥ — गीता, १८, ४७

५७. सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ॥
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ — गीता, १८, ४८

५८. ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ — गीता, १८, ४१

५९ शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ — गीता, १८, ४२

६०. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ — गीता, १८, ४३

६१ कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
पंचर्यात्मकं कर्म शुद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ — गीता, १८, ४४

६२ वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, ७३, ७६

६३ श्रीमद्भागवत, ११, २०, १०-११

६४ अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ — गीता, ६, १

६५. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेवसिद्धिं समाधिगच्छति॥ — गीता, ३, ४

६६ नियत कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण·।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण.॥— गीता, ३, ८
सन्यास. कर्मयोगश्च निःश्रेयस करावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥— गीता, ५, २

६७ कर्मण्यकर्म य पश्येदकर्मणि च कर्म य·।
स बुद्धिमान्यमनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ — गीता, ४, १८

६८ गीता प्रवचन, आचार्य विनोवा भावे, पृ० ४६-४९

६९. द गीता एकार्डिग टु महात्मा गॉधी, महादेव देसाई, पृ० २०

७० प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ — गीता, २, ५५
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। — गीता, २, ७२

७१ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनजय।
सिद्ध्यसिद्धियोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ — गीता, २, ४८

७२. तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौसलम्॥ — गीता, २, ५०

७३. स्वभावजनेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्य वशोऽपि तत्॥ — गीता, १८, ६०
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ — गीता, १८, ६१

७४. इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यादगुह्यतर मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥— गीता, १८, ६३

७५ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ — गीता, २, ४७

७६. सेन आयडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ, डॉ० राधाकृष्णन्

७७. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो० एम० हिरियन्ना, पृ० १२०, १२१

७८. सक्ता· कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम् ॥ — गीता, ३, २५

७९ द भागवत गीता, ए० जे० बाम, पृ० ३

८० द भागवत्‌गीता, ए० जे० बाम, पृ० ३

८१. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो० एम० हिरियन्ना, पृ० १२३

तृतीय अध्याय

आत्मा की अमरता

आत्मा की अमरता

(क) आत्मा

उपनिषदों के आधार पर ही भगवद्गीता में भी परमतत्व आत्मा या ब्रह्म का विशद् विवेचन किया गया है। आत्मतत्व का विवेचन कृष्ण के उस उपदेश मे निहित है, जो भगवान् श्रीकृष्ण मोह-माया से ग्रसित, कर्तव्यों से विरत, शोकाकुल हुए— अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए दिए है। आत्मा का वर्णन वैसे गीता के अन्य अध्यायो मे भी है, परन्तु मुख्य रूप से दूसरे अध्याय मे इसका विशद् विवेचन मिलता है। क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम— ये गीता के तीन तत्व है। सभी भूत 'क्षर' हैं अर्थात् जो विनाशशील है। जिनमे परिवर्तन नही होता, जो कूटस्थ, नित्य, अविनाशी है; वही अक्षर पुरुष या क्षेत्रज्ञ है। पुरुषोत्तम या परमात्मा के अन्दर ये क्षर और अक्षर दोनो समा जाते है, वस्तुतः यह पुरुषोत्तम 'क्षर', 'अक्षर' से अतीत व दोनो से उत्तम है।

गीता के अनुसार आत्मा-अजन्मा, नित्य, शाश्वत व पुरातन है। यह शरीरादि से भिन्न षट्विकारो से रहित है। न वह जन्मता है, न वह मरता है, वह सत्ता का अनुभव कर कभी अभाव को प्राप्त नही होता है। जब उसका अभाव ही नही हो सकता[१] तब आत्मा जो सत् है उसका नाश कैसे होगा ? अर्थात् आत्मा अमर है। यह सूक्ष्मतम वस्तु, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है अविनाशी है, इसका कोई विनाश नहीं कर सकता।[२] यह जन्म और मृत्यु से परे है। जो जन्मता है और मरता है, उसके विषय में ऐसा कहा जा सकता है कि यह उत्पन्न होकर कुछ काल के बाद अभाव को प्राप्त होती है और तत्पश्चात् यह देह अभाव को प्राप्त होती है; जब वह मृत्यु को प्राप्त होती है तब आत्मा का अभाव नहीं होता। इस नाश रहित अप्रमेय, नित्य स्वरूप आत्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गए हैं।[३] जब हम यह कहते है कि आत्मा सत् है क्योंकि इसका अभाव नही होता तो शंका उठती है कि सत् सामान्य है या विशेष है या स्वरूप है। यदि सामान्य है तो उसे विशेष की अपेक्षा होगी, इसलिए प्रलय दशा मे सम्पूर्ण विशेषो का विनाश होने पर उसका भी विनाश हो जायेगा। कार्य होने से विशेषों का प्रलय मे नाश होगा तो उनका धर्म होने से सामान्य का भी नाश होगा। यदि सत् स्वरूप है तो वह व्यावृत्त होने के कारण कल्पित होगा इसलिए विनाश से मुक्त होगा। अतः आत्मा सामान्य-विशेष दोनों से शून्य है, इसलिए किसी प्रकार भी उसका विनाश उपपन्न नहीं है।

अतः आत्मा को कभी विनष्ट नही किया जा सकता। हन्यमान शरीर में भी कभी उसका हनन नहीं किया जा सकता। जो पुरुष अहं पदार्थ आत्मा को हनन क्रिया का कर्ता और जो हनन क्रिया का विषय मानता है वे दोनों आत्मा

को नही जानते ।[४] आत्मा को शस्त्रो द्वारा नही काटा जा सकता, आत्मा को अग्नि द्वारा नहीं जलाया जा सकता, आत्मा को पानी द्वारा नही गलाया किया जा सकता और न ही वायु द्वारा उसे सुखाया जा सकता है[५] अर्थात् आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा नित्य, सर्वव्यापी या सर्वगत, अचल, स्थिर और सनातन है ।[६] सर्वगत से तात्पर्य है कि जितने भी पदार्थ जगत् के अन्दर है, उनके अणुरेणु मे और उनके बाहर भी वह आत्मा पूर्णतया व्याप्त है । कोई पदार्थ या किसी पदार्थ का कोई अवयव इसके बिना नहीं है । जगत् के पदार्थ हमे ज्ञात हो या न हो, उनमें वह पूर्णतया व्यापक है, अत: वह सर्वगत है । यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य तथा विकार रहित है ।[७]

अव्यक्त इस रूप मे है कि पृथ्वी का गध गुण इसमे नही है, अत: सूँघकर नाक से इसका ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता, आप तत्व का रस गुण इसमे नही है, अत: जिह्वा से इसे चखा नहीं जा सकता; अग्नि तत्व का रूप गुण इसमे नही है, अत: ऑख से इसे देखा नही जा सकता; वायु तत्व का स्पर्श गुण इसमे नही है, अत: स्पर्श से भी इसका ज्ञान नही हो सकता; इसी प्रकार कर्ण से भी इसका ज्ञान नही हो पाता है । कहने का तात्पर्य है कि हमारी सुलभ पॉचो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आत्मा का ग्रहण नही हो सकता, इसलिए इसे अव्यक्त कहा गया है । आत्मा को अचिन्त्य इसलिए कहा गया है कि मन से आत्मा का चिन्तन होना कठिन है, क्योकि जिसका मन से ग्रहण हो सकता है उसी का मन से चिन्तन हो सकता है । आत्मा का यह वर्णन उपनिषदो से लिया गया है । यह वर्णन निर्गुण आत्मा का है, सगुण का नही क्योकि अविकार्य या अचिन्त्य विशेषण सगुण के लिए लग ही नही सकते ।

यहॉ यदि कोई पूर्वपक्ष प्रस्तुत करे कि हम आत्मा को नित्य नही समझते इसलिए आत्मा की यह उत्पत्ति हमें ग्राह्य नहीं है तो अगले ही श्लोक मे पूर्वपक्षी को गीता बताती है कि ठीक है ! यदि तुम ऐसा ही मानते हो कि यह आत्मा अमर नही वरन् शरीर के साथ ही जन्मता और मरता है; तो भी उसका शोक करना उचित नहीं,[८] क्योंकि जो जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है इसलिए भी शोक करना उचित नही ।[९] भगवान् कृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि आत्मा तो सत्, नित्य, अज, अविकार्य, अचिन्त्य व निर्गुण है ही फिर भी यदि तुम इसे अनित्य भी मानो तो भी तुम्हें शोक नही करना चाहिए क्योकि जो जन्मेगा उसकी मृत्यु होगी ही । शरीर से आत्मा की भिन्नता को दिखाकर कई स्थानो पर भगवद्गीता मे आत्मा को अविनाशी बताया गया है ।

गीता में आत्मा को क्षेत्रज्ञ भी कहा गया है । इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख और पंचमहाभूतो का संघात यह शरीर 'क्षेत्र' है[१०], अर्थात् इन्द्रियो सहित पंचमहाभूतो से बना यह शरीर 'क्षेत्र' है । क्षेत्र की व्याख्या पूर्णरूपेण गीता पर ही आधारित है परन्तु इच्छा, द्वेष आदि गुणो की गणना करते समय कभी इस व्याख्या मे कुछ हेर-फेर भी कर दिया जाता है, उदाहरणार्थ— शान्तिपर्व के एक सवाद मे[११] शरीर की व्याख्या करते समय पंचकर्मेन्द्रियो के काल सद्भाव विधि शुक्र और बल का समावेश किया गया है । इस गणना के अनुसार पंचकर्मेन्द्रियो को पंचमहाभूतों मे ही शामिल करना पड़ता है । जो भी हो इसमें सन्देह नही कि 'क्षेत्र' शब्द से सब लोगों को एक ही अर्थ अभिप्रेत है, अर्थात् मानसिक और शारीरिक सब द्रव्यो और गुणों का प्राणरूपी विशिष्ट चेतनायुक्त जो समुदाय है, वही 'क्षेत्र' है ।

इस क्षेत्र का ज्ञाता अथवा इसका स्वामी क्षेत्रज्ञ या आत्मा है।[१२] इस चेतना विशिष्ट सजीव शरीर या क्षेत्र मे एक ऐसी शक्ति रहती है जो हाथ-पैर आदि इन्द्रियो से लेकर प्राण, चेतना, मन और बुद्धि जैसे परतन्त्र एव एकदेशीय नौकरो से भी परे है, जो उन सबके व्यापारो की एकता करती है, जो उनके कार्यो की दिशा का निर्देशन करती है, अथवा जो उनके कर्मो की नित्य साक्षी रहकर उनसे परे व्यापक है, वही आत्मा या क्षेत्रज्ञ है। विषयो की अपेक्षा इन्द्रियॉ श्रेष्ठ है, इन्द्रियो से मन श्रेष्ठ है और जो बुद्धि से परे या साक्षी रूप से जो अवस्थित होकर, बुद्धि आदि का प्रकाश करता है वही आत्मा है।[१३] सांख्य मे इसी को पुरुष कहा गया है। वेदान्ती भी इसी को क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहते है। यहॉ पर कठोपनिषद्[१४] मे वर्णित इसी प्रकार के रूपक का स्मरण हो जाता है, जिसमे बताया गया है कि यह शरीर रथ है, इन्द्रियॉ घोडे हैं, जो रथ से श्रेष्ठ है, बुद्धि सारथी है और मन को लगाम बताया गया है तथा आत्मा को रथ का स्वामी बताया गया है।[१५]

गीता यहॉ यह बताती है कि इन्द्रियो की अपेक्षा मन और मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, वही इसके विरोधी रूप मे यह भी कहती है कि– 'यत्न करने वाले बुद्धिमान पुरुष के मन को भी प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियॉ बलात्कार से हर लेती है।'[१६] प्रमथन शब्द का प्रयोग करके यह दिखाया गया है कि जब तक मनुष्य की इन्द्रियॉ वश में नही हो जाती और जब तक उनकी इन्द्रियो के विषयो मे आसक्ति रहती है, तब तक इन्द्रियॉ मनुष्य के मन को बार-बार विषय सुख का प्रलोभन देकर उसे स्थिर नही होने देती, उसका मन्थन ही करती रहती है। इन वचनो से मन की अपेक्षा इन्द्रियो की प्रबलता सिद्ध होती है अर्थात् यहाँ पूर्वापर विरोध परिलक्षित होता है, परन्तु कठोपनिषद् का उपर्युक्त उद्धरण जिसमे आत्मा को रथी और बुद्धि, मन तथा शरीर और इन्द्रियो को क्रमश: सारथी, लगाम, रथ और घोडे कहा गया है, इस शंका को स्पष्ट कर देता है। यद्यपि रथी के अधीन सारथी, सारथी के अधीन लगाम और लगाम के अधीन घोड़ो का होना ठीक है। तथापि जिसका बुद्धि रूप सारथी विवेक ज्ञान से सर्वथा शून्य है, मन रूपी लगाम जिसकी नियमानुसार पकड़ी हुई नही है ऐसे जीवात्मा रूपी रथी के इन्द्रिय रूप घोडे उच्छृङ्खल होकर उसे दुष्ट घोड़ों की भाँति बलात्कार से (विषय) मार्ग मे ले जाकर गड्ढे में डाल देते है।[१७] इससे यह सिद्ध होता है कि जब तक बुद्धि, मन और इन्द्रियों पर जीवात्मा का आधिपत्य नही होता, वह अपने सामर्थ्य को भूल उल्टे मार्ग पर चला जाता है इसके विपरीत जिसका बुद्धि रूप सारथी विवेकशील, मन रूप लगाम अपने अधीन और जिनके इन्द्रिय रूप श्रेष्ठ घोड़े वश में हो वह कभी गलत मार्ग पर नही जा सकता। गीता में जीते हुए मन बुद्धि और इन्द्रियो से युक्त अपने आत्मा का मित्र और बिना जीते हुए मन, बुद्धि और इन्द्रिय वाले को शत्रु बतलाया गया है।[१८] अत: बिना जीती हुई इन्द्रियॉ वास्तव मे मन, बुद्धि की अपेक्षा निर्बल होते हुए भी सबल हुई रहती है। अत: पूर्वापर कोई विरोध नहीं है।

आत्मा जो अक्षय है, अनादि और निर्गुण होने के कारण न कोई कार्य करता है, न इसमें कोई दोष ही लग पाता है, यद्यपि यह शरीर में अवस्थित है। यह कर्ता नहीं है, साक्षी मात्र है। विकास या समस्त नाशक पदार्थ जगत् से सम्बन्ध रखता है। प्रमाता या ज्ञाता आत्मा जो हमारे अन्दर हैं, एक समान व बाह्य जगत् से अनासक्त है। अत: गीता के अनुसार आत्मा अमर, अजर, अविनाशी, नित्य, शाश्वत, पुराण, अप्रमेय, अव्यय, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, सर्वगत, त्याणु, अचल, सनातन, अचिन्त्य, अविकार्य और अव्यक्त है।

उपनिषदो की ही भावना के अनुकूल 'गीता' भी आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करती है । इस मर्त्य शरीर के पीछे 'आत्मा' है जो शरीरादि से भिन्न है और संसार के क्षणिक पदार्थो की पृष्ठभूमि 'ब्रह्म' है, दोनो एक है क्योकि दोनो एक स्वभाव वाले हैं । अर्थात् वाह्य सृष्टि के नाम रूप से आच्छादित अविनाशी तत्व और अपने शरीर का वह आत्मतत्व दोनो एक ही है । ये दोनों अमर, अव्यय और स्वरूपी है । यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र एक सा व्याप्त, अज्ञेय और अनिर्वाच्य है तो भी जड़ सृष्टि का और आत्म स्वरूपी ब्रह्म तत्व का भेद व्यक्त करने के लिए आत्मा के सानिध्य से जड़प्रकृति मे चैतन्य रूपी जो गुण हमें दृष्टिगोचर होता है, उसी को आत्मा का प्रमुख लक्षण मानकर अध्यात्म शास्त्र मे आत्मा व ब्रह्म दोनो को चिद्रुपी या चैतन्य रूपी कहते है । वस्तुत: यदि ऐसा न किया जाए तो आत्मा व ब्रह्म दोनो ही निर्गुण, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरन्जन होने के कारण उनके रूप का वर्णन करने में उपनिषदों की तरह 'नेति-नेति' कहना पडता है या चुप्पी साध जाना पड़ता है । यदि सरल भाषा मे कहे तो आत्मा व ब्रह्म के एकत्व को इस प्रकार भी समझ सकते हें, कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड मे है । 'वह देह में स्थित आत्मा वास्तव मे परमात्मा ही है, वह साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमत्ता, सबका धारण-पोषण करने वाला होने से भर्ता जीव रूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्द घन होने से परमात्मा है' ।[१९] प्रकृति जनति शरीरो की उपाधि से जो चेतना आत्मा अज्ञान के कारण जीवभाव को प्राप्त सा प्रतीत होता है वह आत्मा, वास्तव मे इस प्रकृति से सर्वथा परे परमात्मा ही है, क्योकि उस परब्रह्म परमात्मा और आत्मा मे किसी प्रकार का भेद नही है, केवल शरीर रूप उपाधि से ही भेद की प्रतीति होती है, दोनो एक है ।

भगवद्गीता में परमतत्व या ब्रह्म की अवधारणा उपनिषदों पर ही आधारित है । गीता एक विशेष तत्व 'पुरुषोत्तम' को मानती है जिसमे परब्रह्म की निर्विकारिता और अपर ब्रह्म की सगुणता दोनो का समावेश है । गीता परमतत्व के दो भावों अपर भाव व पर भाव की सत्ता बतलाती है ।

ईश्वर अपने एक ही अंश से योग माया से युक्त हाकर इस प्रपंचात्मक जगत् मे अभिव्यक्त होकर उमसें स्थित है ।[२०] यह अपर भाव या विश्वानुगरूप है तथा इसके अतिरिक्त उसका इन सबसे अलग रूप है जिसमें वह विश्व मे व्याप्त होते हुए भी इन सबसे परे हैं[२१], वह उसका पररूप या विश्वातीत रूप है ।

ये परमात्मा के दोनो रूप उसकी दो प्रकृतियो पर आधारित हैं । ये दोनों प्रकृतियाँ क्रमश: अपरा प्रकृति और परा प्रकृति हैं जो विश्व के जड़ और चेतन दो विभिन्न पक्षों की व्याख्या करती हैं । यह अपरा प्रकृति जिसे क्षेत्र या क्षर पुरुष भी कहा गया है, सांख्य की मूल प्रकृति है । यह अव्यक्त भी कही जाती है । गीता में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहकार से ईश्वर की आठ भेदों वाली अपरा प्रकृति है, ऐसा बताया गया है ।[२२] अपरा प्रकृति के ही अन्दर, पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त या प्रकृति, पंच ज्ञानेन्द्रियॉ, पंच कर्मेन्द्रियॉ, मन तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध ये चौबीस प्रकार के तत्व हैं, जिसे सांख्य भी मानता है और जो गीता मे क्षेत्र के नाम से जाने जाते है, दु:ख, संघात, चेतना और धृति ये जो क्षेत्र के विकार हैं[२३], इनका भी समावेश गीता क्षेत्र या अपरा प्रकृति में ही करती है ।

परा प्रकृति को जीव, पुरूष और क्षेत्रज्ञ तथा अक्षर भी कहा गया है, अर्थात् परा प्रकृति से तात्पर्य चैतन्य जीव या पुरुष से है। जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, वह परा अर्थात् चेतन प्रकृति है।[२४]

इन्ही दोनो प्रकृतियो से अर्थात् प्रकृति और पुरूष से समस्त भूतो की उत्पत्ति गीता मे बतलायी गयी है।[२५] गीता मे प्रकृति और पुरुष की अवधारणा सांख्य से कुछ तादात्म्य रखते हुए भी कुछ भिन्नता रखती है, जैसे सांख्य मे प्रकृति और पुरूष दोनो को अनादि माना गया है, परन्तु साख्य इन्हे स्वतन्त्र एव स्वयभू भी मानता है, जबकि गीता मे ऐसी बात नही है। गीता प्रकृति व पुरूष को अनादि तो मानती है[२६], परन्तु साख्य के समान इन्हे स्वतन्त्र एव स्वयंभू नही मानती। क्योकि गीता मे भगवान् ने प्रकृति— अपनी माया[२७] और पुरूष— को अपना अश[२८] कहा है, अर्थात् दोनो ईश्वर पर आधारित है। इसके अतिरिक्त गीता साख्य के प्रकृति और पुरूष के द्वैत पर अद्वैत की स्पष्ट छाप है। गीता के तेरहवे अध्याय में[२९] सांख्य के इस प्रकृति और पुरूष के भेद का ही वर्णन है, पर उसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहा गया है। अपने अद्वैत की पुष्टि के लिए गीता कहती है कि इस प्रकृति और पुरूष या क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ से परे एक सर्वव्यापक, अव्यक्त और अमृतत्व परमात्मा है जो चर, अचर सृष्टि का मूल है। यहाँ यह भी अवधेय है कि अव्यक्त व अक्षर सांख्य की प्रकृति को भी कहा गया है। क्योकि सांख्य का यह मत है कि प्रकृति से सूक्ष्म जगत् का कोई मूल कारण नही है[३०], तथा सांख्य मे प्रकृति को अक्षर व उससे उद्भूत समस्त पदार्थो को क्षर कहा गया है। परन्तु गीता मे जहाँ अव्यक्त का प्रयोग प्रकृति के लिए किया गया है[३१] वहीं अव्यक्त और अक्षर का प्रयोग प्रकृति से परे, परब्रह्म के स्वरूप को दिखाने के लिए किया गया है।[३२]

इस प्रकृति और पुरुष या क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ से परे जो परमात्मा या परब्रह्म है, उसके गीता में सगुण, निर्गुण, सगुण-निर्गुण ये तीनो रूप मिलते हैं।

सगुण रूप के द्वारा वह सम्पूर्ण प्रपंचात्मक विश्व की सृष्टि करता है। वह सृष्टि की उत्पत्ति के लिए प्रकृति और पुरूष दो तत्वों की सहायता लेता है। डॉ० राधाकृष्णन इन दोनो तत्वों को क्रमश: निम्न श्रेणी की माया और उच्च श्रेणी की माया का नाम देते हैं।[३३] आगे चलकर निम्न श्रेणी की प्रकृति ही माया का अर्थ हो गया। क्योंकि पुरूष को ऐसा बीज बतलाया गया है जिसे परमात्मा इस विश्व की सृष्टि के लिए प्रकृति के गर्भ में प्रवेश कराता है।[३४] उपनिषदों की तरह 'अविद्या' शब्द का प्रयोग सृष्टि के सन्दर्भ में माया के लिए गीता मे नहीं मिलता है। यह परमात्मा ही जगत् के प्रभव व प्रलय का कारण है।[३५] वह समस्त जगत् मे डोरे में पिरोई गयी मणि के समान, अनुस्यूत है।[३६] भगवान् बताते हैं कि सब भूतों में मैं अन्तर्यामी हूँ।[३७] सब विभूतियाँ मेरा अंश हैं।[३८] अत: इस रूप मे वह सगुण है, परन्तु आगे भगवान् बताते है, कि मेरा यह व्यक्त रूप मायिक है और इसके परे जो इन्द्रियो के अगोचर मेरा रूप है, वही मेरा सच्चा रूप है।[३९] मैं अव्यक्त हूँ अज्ञानवश लोग मुझे व्यक्त समझते हैं। मै कर्मो व गुणो से कभी लिप्त नही होता। यहाँ ईश्वर का निर्गुण रूप लक्षित होता है। वस्तुत: परमात्मा का सगुण या व्यक्त रूप गीता में केवल उपासना के उद्देश्य के कारण ही वर्णित है। उसका सर्वश्रेष्ठ रूप अव्यक्त ही है।

गीता मे ईश्वर के इस सगुण-निर्गुण रूप के अतिरिक्त कही-कही इन दोनो को मिलाकर भी अव्यक्त ईश्वर का वर्णन मिलता है, जैसे गीता मे कहा गया है कि 'मैं भूतो का आधार होकर भी उनमे नही हूँ।[४०] परब्रह्म न तो सत् है न असत्, वह निर्गुण होकर भी गुणो का भोक्ता है।[४१] वह इन्द्रियो के विषयो को जानता है फिर भी इन्द्रिय रहित है, आदि अनेक स्थलो पर परस्पर विरोधी वर्णन भी मिलता है। अत: गीता मे ईश्वर का सगुण, निर्गुण तथा परस्पर विरोधी वर्णन भी मिलता है।

इन सबका समावेश गीता अपने[४२] पुरुषोत्तम तत्व मे कर देती है। पुरुषोत्तम तत्व गीता का एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक तत्व है जिसमे व्यक्त-अव्यक्त, क्षर-अक्षर या परब्रह्म की निर्विकारिता और ईश्वर की क्रियाशीलता दोनो का समावेश हो जाता है। जो विश्वानुग होकर भी विश्वातीत है, अर्थात् जो विश्व में व्याप्त रहकर भी उससे अछूता है वह पुरुषोत्तम है। गीता इसी पुरुषोत्तम को सभी कर्म समर्पित करने के लिए कहती है, परन्तु यह पुरुषोत्तम क्या कृष्ण स्वयं है ? या कृष्ण केवल आशिक अभिव्यक्ति हैं ? इसके विषय मे मतभेद है। गीता मे अवतारो की कल्पना की गयी है। साधारणतया सभी अवतार परब्रह्म के अंश या कला रूप मे व्यक्त रूप है, किन्तु भागवत कृष्ण को अपवाद रूप बताते हुए षोऽसकला धारी बताती है। 'शंकर व आनन्दगिरि कृष्ण को सर्वोपरि ईश्वर की केवल आंशिक अभिव्यक्ति के रूप मे ही मानते है। गीता के रचयिता की दृष्टि मे कृष्ण पुरुषोत्तम हैं।[४३]

जब आत्मा प्रकृति मे या शरीर मे, गुणो या विषयों के कारण बद्ध रहता है तो उसे जीवात्मा कहते है। कर्मो के कारण ही आत्मा बद्ध होती है। कर्म सब प्रकृति के गुणो के कारण निष्पन्न होते है। परन्तु आत्मा अज्ञानवश अपने को कर्ता समझने लगती है और वह बद्ध हो जाती है, राहीबद्ध आत्मा ही जीवात्मा है। ज्ञाता जीवात्मा भोक्ता बनकर प्रकृति में स्थित मन सहित छह इन्द्रियों द्वारा आकर्षित विषयो का सेवन करती है[४४] और स्वयं विषयो मे फॅस जाती है। विषयों में फॅस जाने का अर्थ है विषयों मे आसक्ति। इसी आसक्ति के कारण जीवात्मा नए-नए शरीर धारण करती है, जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नए शरीर को धारण करता है।[४५] जीवात्मा जब एक शरीर को त्यागकर, दूसरा शरीर धारण करता है तो वह मन सहित पॉचों इन्द्रियों को भी उसी तरह अपने साथ ले जाती है, जिस प्रकार वायु किसी सुगन्ध के आश्रय या पुष्पादि से सुगन्ध उड़ा कर ले जाती है।[४६] जीवात्मा सदा ही रूप बदलता रहता है। किसी भी शान्त या सीमित रूप में उसके अनन्त स्वरूप की पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति नही होती। यह देहान्तर गमन का सिलसिला तब तक समाप्त नहीं हो जाता, जब तक वह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाता अर्थात् सत् रूप मे नहीं आ जाता और अनन्त ब्रह्म में जाकर विलीन नही हो जाता। यह जीवात्मा परमेश्वर का ही अंश है, वह नए सिरे से बार-बार उत्पन्न नही हुआ करता, वह परमेश्वर का ही सनातन अंश है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'जीव मेरा ही अंश है[४७] और मैं ही एक अंश से सारे जगत् में व्याप्त हूँ।'[४८] इस जगत् में व्याप्त परमेश्वर और मनुष्य के शरीर में अवस्थित आत्मा के भेद को बताने के लिए ही यह कहना पड़ता है कि जीवात्मा परमेश्वर का अंश है। यहॉ 'अंश' शब्द का अर्थ काट कर अलग किया हुआ कोई टुकड़ा नही है, अपितु तात्विक्र दृष्टि से इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार एक घड़े के भीतर का आकाश और घड़े का आकाश एक ही सर्वव्यापी आकाश

का अंश है, उसी प्रकार जीवात्मा भी परब्रह्म का ही अंश है। श्रीकृष्ण ने पुन: कहा है कि 'मैं ही हर भूतों मे स्थित हूँ'[४९], 'मै ही सबके हृदय मे अधिष्ठित हूँ'।[५०] अत: गीता बार-बार जीव व ब्रह्म के तादात्म्य का उद्घोष करती है। गीता मे 'ममेवाशो जीव लोके' का आधार मानकर कुछ लोग यह कह सकते है कि गीता की जीव व ब्रह्म की यह अवधारणा रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुरूप है, क्योकि रामानुज भी तो जीव को ब्रह्म का अश मानते है, परन्तु ध्यातव्य है कि गीता प्रकृति या माया से ईश्वर द्वारा रचित सम्पूर्ण सृष्टि को मानती है, अर्थात् ईश्वर से असख्य शरीरो व जीवो का 'भास' पैदा किया है। जड़-जगत् उसका जड़ाभास और चेतन स्वरूप होने से जीव परमात्मा का चिदाभास है। जब रामानुज इस तरह के किसी आभास या माया को नही मानते है। अत: गीता यहॉ अद्धैत वेदान्त के अनुरूप ही, जिसे शंकर ने प्रतिबिम्बवाद द्वारा स्पष्ट किया है, जीव ब्रह्म अभेद को मानती प्रतीत होती है।

आत्मतत्व की जानकारी रखना 'श्रीमद्भगवद्गीता' का आदर्श रहा है। 'आत्मा' शब्द की यदि व्याख्या की जाए तो सबसे अधिक सम्भावना यह है कि 'आत्मन्' का मूल अर्थ 'श्वास' था और बाद मे इसका प्रयोग किसी भी वस्तु के, विशेष रूप से मनुष्य के, सारभाग के लिए होने लगा[५१] अर्थात् कालक्रम से 'आत्मन्' शब्द का अर्थ मनुष्य के अन्दर का चैतन्य हो गया। आचार्य शंकर स्मृति को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि— 'आत्मा वह है जो सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है, और इस लोक मे विषयो का भोक्ता है तथा जिसका सर्वदा सद्भाव है।[५२] इस प्रकार आत्मा एक अद्भुत सार तत्व है जो सत्य रूप अविनाशी, नित्य व व्यापक है।

यद्यपि आत्मा का दर्शन प्राप्त करने की प्रक्रिया मे हमे वाह्य वस्तुओ से पीछे हट आना पडा था और आत्मा को संसार से पृथक् करना पड़ा था, परन्तु जब वह दर्शन प्राप्त हो जाता है, तब संसार फिर आत्मा में खिंच आता है। नैतिक स्तर पर इसका अर्थ यह है कि पहले संसार से वैराग्य होना चाहिए और जब वह वैराग्य प्राप्त हो जाए, तब फिर प्रेम द्वारा और संसार के लिए कष्ट-सहन और बलिदान द्वारा उस ससार की ओर लौट आना चाहिए। आत्मा जितनी गम्भीर होगी, उसका ज्ञान उतना ही विस्तृत होगा। जब हम अपने अन्दर विद्यमान ब्रह्म के साथ एक हो जाते हैं, तब हम जीवन की समूची धारा के साथ एक हो जाते है।

आत्मा का अभिप्राय चेतन अव्यक्त तत्व से है इसका उल्लेख मूल ग्रन्थ मे आया है। कठोपनिषद्[५३] एवं ब्रह्मसूत्र[५४] में दो आत्मतत्वो (जीवात्मा एवं परमात्मा) का उल्लेख आया है। इसी प्रकार गीता मे भी आत्मा शब्द से दो आत्मतत्वों का ही अर्थ लिया जाता है। कभी जीवात्मा का कभी परमात्मा का। अत: कौन अर्थ कहॉ लेना चाहिए इसमें सावधानी बरतनी पड़ती है।

परमात्मा मे ही सारे लोक अवस्थित हैं। वह व्यापक परमात्मा सारी प्रजा मे ओत-प्रोत है।[५५] सभी आस्तिक दर्शन आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करते हैं। न्याय और वैशेषिक आत्मा को एक अविनश्वर और नित्य पदार्थ मानते हैं और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख तथा ज्ञान को आत्मा का विशेष गुण मानते हैं। आत्मा-ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। ज्ञान अनुभूति और संकल्प आत्मा के आगन्तुक धर्म हैं। चैतन्य आत्मा का स्वरूप नही है। जब आत्मा, मन और शरीर

से संयुक्त होता है तभी उसमे चैतन्य की उत्पत्ति होती है। मीमांसा आत्मा को नित्य और विभु मानती है तथा चैतन्य को उसका आगन्तुक धर्म मानती है। सुषुप्ति तथा मोक्ष की अवस्था मे आत्मा चैतन्य गुण से रहित होता है। सांख्य मे पुरुष को नित्य और विभु तथा चैतन्य स्वरूप माना गया है। चैतन्य आत्मा का आगन्तुक धर्म नही है। आत्मा सुख-दु:ख की अनुभूतियो से रहित है। बुद्धि कर्ता और सुख-दु:ख के गुणो से युक्त है। बुद्धि प्रकृति का परिणाम है और प्रकृति सतत् क्रियाशील है। इसके विपरीत, पुरूष शुद्ध, चैतन्य या ज्ञान स्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त आत्मा को विशुद्ध सत्, चित्त, आनन्द स्वरूप मानता है। सांख्य अनेक पुरुषो को मानता है, लेकिन ईश्वर को नही मानता। अद्धैत वेदान्त केवल एक ही आत्मा को सत्य मानता है। नास्तिक दर्शनो मे, चार्वाक आत्मा की सत्ता को नही मानते, वे चैतन्य विशिष्ट देह को ही आत्मा कहते है, बौ.द्ध आत्मा को ज्ञान, अनुभूति और सकल्पो की एक क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाली विज्ञान सन्तान मानते है, लेकिन जैन नित्य आत्मा का अस्तित्व मानते हैं। वे मानते है कि आत्मा स्वभावत: अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से युक्त है लेकिन सांसारिक अवस्था में इन गुणों के ऊपर अचेतन भौतिक पदार्थ कर्म के अतिसूक्ष्म परमाणुओ का आवरण चढ़ा है। हम लोग भी अनुभव करते हैं कि आत्मा है, किन्तु यह नहीं जानते कि यह है क्या— शान्त है या अनन्त, ज्ञान है या परमानन्द है या परब्रह्म स्वरूप है, एकाकी है अथवा अपने समान अनेक में से एक है, केवल साक्षी मात्र है अथवा उपभोक्ता भी है अथवा इन दोनो में से कुछ भी नही है। चूँकि आत्मा के स्वरूप के विषय मे परस्पर विरोधी मत हैं इसलिए शंकर का कहना है कि यह दोनों ही है अर्थात् ज्ञात भी अज्ञात भी।

वस्तुत: आत्मा के सच्च स्वरूप के विषय मे उस युग के तत्ववादियो के विभिन्न मतो मे एक सन्देह सा दीखता है। कोई तो इस आत्मा के दर्शन को बड़ा अचरज मानते है, और कोई दूसरे अचरज भरे शब्दो मे इसका वर्णन करते है और कोई जब इसे सुनते है तो बहुत अचरज में पड़ जाते हैं कि क्या ऐसा होना भी सम्भव है, अर्थात् सुनने वालो को आत्मा के उन गुणो में विश्वास नही होता। वे नहीं मानते कि कोई ऐसी वस्तु भी सम्भव है जो आग, पानी और हवा से कट पिट न सके। इस आश्चर्य भरी शैली में आत्मा की चर्चा करने वालों में ऐसा कोई नहीं है जो इसे ठीक तरह जानता हो। आत्मा क्या है? उसके विषय मे गीता में स्पष्ट शब्दों में वर्णित है, इसकी पूर्ण व्याख्या इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं।

महर्षि कपिल का आत्मा के विषय मे यह उपदेश है कि आत्मा सुखादि धर्मों से रहित है, निर्लेप है, नित्य, शुद्ध-मुक्त है, वह ज्ञान रूप ही है, ज्ञान वाला नही है। मीमांसको के विचार से आत्मा शरीर, इन्द्रियों तथा बुद्धि से भिन्न है। जब बुद्धि अनुपस्थित रहती है तब भी आत्मा उपस्थित रहती है, जैसा कि निद्रा में। मीमांसक आत्मा के अनेकत्व प्रकल्पना को स्वीकार करते हैं, इसलिए कि अनुभवों के विविधता की व्याख्या की जा सके। कुमारिल के अनुयायियो के अनुसार प्रत्येक बोधात्मक कार्य मे आत्मा अभिव्यक्त नहीं होती। कुमारिल के विचार से आत्मा शरीर से भिन्न है, नित्य है और सर्वव्याप्त है, आत्मा अपने में चैतन्य है, आत्माएँ अनेक हैं क्योंकि सब आत्माएँ चैतन्य स्वभाव की हैं। इसलिए उपनिषद् उन्हें एक ही कहती है।

शंकर का तर्क है कि विचार के द्वारा आत्मा को जानना असम्भव है, क्योकि विचार स्वयं अनात्म क्षेत्र सम्बन्ध रखने वाले प्रवाह का एक भाग है । यदि आत्मा के अस्तित्व का बोध नही होता तब प्रत्येक मनुष्य यह सोचता कि 'मैं नही हूँ' किन्तु यह सत्य नही है । आत्मा की सत्ता चेतनता के प्रवाह से पूर्ववर्ती है । इसलिए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नही है । बोधशक्ति तथा उसके कार्यो के अस्तित्व से ही एक ज्ञान सम्पन्न सत्ता की पूर्वकल्पना होती है जो आत्मा के नाम से जानी जाती है ।

शकर यथार्थ आत्मा को विषय से भिन्न करने का प्रयास करते है और कहते है कि विषय और विषयी, प्रकाश तथा अन्धकार की भाँति दोनो एक-दूसरे के विपरीत है जो सच्चे अर्थो मे ज्ञाता है वह कभी भी विषय नही बन सकता । आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा अस्तित्व के भाव के अन्दर निर्विकारिता और पूर्णता के भाव समाविष्ट हैं । यहाँ तक कि आत्मा के यथार्थ सत्ता को स्वीकार करना है— 'आत्मा व ब्रह्म' । ब्रह्म की यथार्थता का प्रमाण यह है कि वह प्रत्येक आत्मा की आधारभूमि है ।

निष्कर्षत. हम देखते है कि जिस प्रकार उपनिषदो की शिक्षा का मूल वेदो से गृहीत है, उसी प्रकार गीता के आध्यात्मिक दर्शन की मौलिक प्रेरणा भी उपनिषदों से ही ली गयी है । वेद से लेकर उपनिषदो तक जो आध्यात्म विद्या की अप्रतिहत मान्यता थी वही सार रूप में गीता में वर्णित है जो सुगम होने के साथ-साथ युगोपयोगी है । 'गीता' के द्वितीय अध्याय मे वर्णित आत्मा का अशोच्यत्व, अष्टम् अध्याय का अक्षर ब्रह्म स्वरूप, तेरहवें अध्याय का क्षेत्र क्षेत्रज विचार और विशेषकर ज्ञेय परब्रह्म का स्वरूप, इन सब विषयो का वर्णन गीता मे अक्षरशः उपनिषदो के आधार पर ही किया गया है ।[५६] उपनिषदो का आध्यात्मिक आदर्शवाद गीता मे ईश्वरवादी धर्म के रूप मे परिणित हुआ सा प्रतीत होता है । दोनो मे निर्गुण परम ब्रह्म का स्वरूप एक सा है तथापि निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति का वर्णन करते समय 'अविद्या' शब्द के बदले 'माया' या 'अज्ञान' शब्द का ही प्रयोग गीता मे मिलता है । गीता उपनिषदो से बढ़कर एक विशिट तत्व 'पुरुषोत्तम' को मानती है । 'यद्यपि इस पुरुषोत्तम तत्व का संधान उपनिषदों मे है तथापि वहाँ वह इंगित मात्र है' ।[५७] उपनिषद् 'क्षर' व 'अक्षर' दो पुरुषो को मानती है परन्तु गीता के अनुसार क्षर, अक्षर और उत्तम ये तीन पुरुष हैं । क्षर पुरुष है, नित्य परिवर्तनशील प्रकृति की लीला मे बँधा हुआ पुरुष, जो भोक्ता भर्ता आदि होकर आनन्द ग्रहण करता है । अक्षर पुरुष प्रकृति से ऊपर व प्रकृति से मुक्त है तथा इन क्षर व अक्षर दोनों को जिसमे स्थान मिलता है वह है पुरुषोत्तम । गीता इस पुरुषोत्तम में सांख्य के पुरुष, वेदान्त के ब्रह्म और योग के ईश्वर— इन तीनों का समावेश करती है । उपनिषदों की अपेक्षा गीता में यही विशेषता है । आत्मा सम्बन्धी उपर्युक्त कतिपय उपाख्यानों से यह स्पष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता मे आत्मतत्व का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है ।

(ख) ईश्वर

भगवद्गीता मे ईश्वर का परम रूप क्या है ? विभिन्न आचार्यों मे इस विषय को लेकर मतभेद है । प्रत्येक दार्शनिक ने अपने-अपने मन्तव्य को सिद्ध करने क प्रयास किया है ।

गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव रूप मे अर्जुन को कर्तव्य-पालन का, भक्ति पूर्वक निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया है। उन्होने स्पष्ट रूप से कहा है कि वे ही परम ईश्वर हैं एव इस जगत् के आदि कारण है।[५८] उनकी उपासना मे ही मोक्ष निहित है। प्राय: सम्पूर्ण भगवद्गीता मे ईश्वर के उस व्यक्तिगत सगुण स्वरूण का वर्णन किया गया है, परन्तु कुछ स्थानो पर यह भी कहा गया है कि निर्गुण ब्रह्म ही चरम सत्य है। इस प्रकार हम गीता मे ईश्वर के प्राय: सभी स्वरूपो (सगुण, निर्गुण तथा सगुण-निर्गुण) का वर्णन पाते है, परन्तु उसके किस रूप पर विशेष बल दिया गया है यह कहना कठिन है।

गीता के ब्रह्म तथा श्रुति एव उपनिषदों के ब्रह्म मे पर्याप्त समानता है। गीता के समान उपनिषदों मे भी ब्रह्म के प्राय: सभी स्वरूपों का वर्णन मिलता है। श्री हिल के मतानुसार– गीता का ब्रह्म, उपनिषदों का ब्रह्म है।[५९]

सर्वप्रथम हम गीता मे ईश्वर के सगुण रूप का वर्णन करने का प्रयास करेगे। गीता मे ईश्वर के सगुण स्वरूप का वर्णन अनेको स्थानो पर मिलता है 'वह सर्वज्ञ है(, 'अनादि है', 'सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है', 'संसार का शासक है', 'सबका पोषण करने वाला है', 'आदित्य रूप है' और 'अन्धकार से परे है'।[६०] पुन: वह परमात्मा चराचर सब भूतो के बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर स्वरूप भी वही है और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर से भी वही स्थित है।

बहिरन्तश्च भूतनानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वास्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत्॥[६१]

वह लोक महेश्वर है, समस्त जगत् का अद्वितीय प्रभु है—
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरम्।[६२]

वह अनन्त रूप है।[६३] पुन: कहा गया है कि वह विश्वेश्वर है तथा विश्वरूप है।[६४]

गीता के मतानुसार ईश्वर का आदि, मध्य और अन्त नही है। इस कारण गीता मे अनेक स्थानों पर उसे अनादि अमध्य एवं अनन्त कहा गया है— 'हे विश्वेश्वर, विश्वरूप, तुम्हारा आदि, मध्य और अन्त कुछ दृष्टिगोचर नही होता'।[६५]

ईश्वर का सगुण रूप

गीता में अन्य स्थान पर कहा गया है— 'हे परमेश्वर ! मै आपको आदि, मध्य तथा अन्त से रहित तथा अनन्त सामर्थ्य से युक्त और अनन्त हाथों वाला तथा चन्द्र-सूर्य रूप नेत्रो वाला, प्रज्वलित अग्नि-रूप मुख वाला तथा अपने तेज से इस जगत् को तपायमान करता हुआ देखता हूँ'।[६६]

ईश्वर ही समस्त भूतों का सनातन कारण, बुद्धिमानों की बुद्धि तथा तेजस्वियो का तेज है। नवें अध्याय के अठारहवें श्लोक मे श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा है— 'सबका भरण-पोषण करने वाला, सबका स्वामी शुभाशुभ को देखने वाला, सबका त्रास स्थान और शरण लेने योग्य तथा प्रति उपकार न चाहकर हित करने वाला और उत्पत्ति, प्रलय-रूप तथा सबका आधार एवं अविनाशी कारण मै ही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभु: साक्षी निवास: शरणं सुहृत्।
प्रभव: प्रलय: स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥[६७]

गीता के दशम अध्याय में ईश्वर के विश्व रूप का परिचय मिलता है तथा ग्यारहवें अध्याय मे भी उसी विश्वरूप का वर्णन किया गया है। वेद तथा उपनिषदो में भी हम ईश्वर के विराट रूप का वर्णन पाते हैं। श्वेताश्वतर-उपनिषद् में इसी विराट पुरुष को लक्ष्य करके कहा गया है—

सर्वत: पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥[६८]

अर्थात्— प्रत्येक स्थान पर उसके हाथ, पॉव है। सब स्थानो पर उसके नेत्र, कान, सिर तथा मुख हैं। वह प्रत्येक स्थान पर उपस्थित है। पुन: उसके चक्षु, मुख, बाहु, तथा चरण सब जगह है। उस प्रकाशमय देव ने पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष को बनाकर मनुष्य को बाहु एवं पक्षियों को पर दिए है।[६९] इसी विषय मे मुण्डकोपनिषद् मे कहा गया है कि— उसका मस्तक द्युलोक है; चन्द्र, सूर्य उसके नेत्र है; दिशाएँ उसके कान है वेद उसकी वाणी है; वायु उसका प्राण है; विश्व उसका हृदय है; पृथ्वी उसका चरण है; और वह समस्त भूतों की आत्मा है।[७०]

अत: केवल गीता में ही नही, वेद तथा उपनिषद् मे भी ईश्वर के सगुण स्वरूप का वर्णन किया गया है। रामानुज के अनुसार गीता मे सगुण ईश्वर को ही श्रेष्ठ माना गया है; एकमात्र उसी की सर्वोच्च सत्ता है। गीता के नवे अध्याय मे श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि— 'मै ही सब यज्ञो का भोक्ता और प्रभु हूँ।'।[७१] रामानुज के अनुसार 'प्रभु भी मै ही हूँ' इस कथन का अभिप्राय यह है कि फल प्रदान करने वाला मैं ही हूँ। फल प्रदान करने वाला निश्चित रूप से सगुण ही होगा। उनके शब्दो मे, 'ब्रह्म निखिल हेय-प्रत्यनीक और कल्याण गुणकारक है। ब्रह्म को निर्गुण कहने का तात्पर्य यही है कि उसमे हेय गुणो का लेशमात्र भी नही है।'[७२] रामानुज के मतानुसार चित्, अचित् तथा ईश्वर यह तीन पदार्थ है। ईश्वर नियामक है, चित् भोक्ता है तथा उचित भोग्य है। शंकराचार्य एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य पदार्थ मानते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी यह नही मानते, उनके अनुसार हरि ईश्वर है, चित् जीव है तथा अचित् यह दृश्य जड़ जगत् है।

ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थ चितय हरि:।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्य मचित्पुन:॥[७३]

रामानुज के मतानुसार प्रकृति एवं पुरुष अथवा अचित् एवं चित्, स्वतन्त्र पदार्थ होने पर भी बिल्कुल ईश्वराधीन है, क्योकि ईश्वर ही दोनों मे अन्तर्यामी रूप से विराज रहे हैं। इसी कारण विशिष्टाद्वैतवादी इन दोनो को ईश्वर का का शरीर बताते है। अत: उन्होने सगुण ब्रह्म को ही गीता का प्रतिपाद्य विषय माना है तथा निर्गुण ब्रह्म का प्रत्याख्यान किया है।

उपनिषदों में सगुण ब्रह्म का परिचय देते हुए अनेक सुन्दर एवं गम्भीर मन्त्रो की अवतारणा की गयी है। छान्दोग्य उपनिषद् मे कहा गया है— 'वह सर्वकर्मा है, सब कुछ है, सबका रस है'।[७४] उपनिषदो मे सविशेष अथवा सगुण ब्रह्म को महेश्वर कहा गया है। अद्वैतवादियों के अनुसार, सगुण ब्रह्म अथवा महेश्वर माया का प्रपंच मात्र है। इसकी पारमार्थिक सत्ता नही है। रामानुज ब्रह्म तथा ईश्वर में कोई भेद नहीं मानते। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही सर्वोच्च सत्ता है तथा माया युक्त ब्रह्म ही ईश्वर है। वे ईश्वर को व्यावहारिक सत्ता मात्र मानते हैं। मनुष्य को जब ब्रह्म ज्ञान हो जाता है तो उसके लिए ईश्वर जीव तथा जगत् किसी का भी अस्तित्व नही रह जाता, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य वस्तु बन जाता है।

ईश्वर का निर्गुण स्वरूप

भगवद्‌गीता में ईश्वर के सगुण स्वरूप के वर्णन के साथ-साथ उसके निर्गुण रूप का भी उल्लेख किया गया है । तेरहवे अध्याय मे कहा गया है कि— "अनादि होने के कारण और गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर मे स्थित होता हुआ भी वास्तव मे न कर्म करता है और न लिपायमान होता है ।'[७५] तिलक के मतानुसार— 'यह अण्यक और अकर्ता परमेश्वर ही प्राणियो के हृदय मे जीव रूप मे निवास करता है ।'[७६] परन्तु यह अविनाशी परमेश्वर हृदय मे निवास करता हुआ भी वास्तव मे न तो कर्म करता है और न कर्म के बन्धन मे ही पडता है ।

परब्रह्म अथवा निर्गुण ब्रह्म के परिचय में गीता कहती है— 'अनादि ब्रह्म सत् भी नही है, असत् भी नही है' । गीता के चौथे अध्याय मे कहा गया है कि— 'मै निर्गुण स्वरूप हूँ, न कर्म करता हूँ और न कर्मो के बन्धन मे पड़ता हूँ ।[७७] शकराचार्य ने इस श्लोक पर अपने भाष्य में लिखा है— अहकार का अभाव होने से वे कर्म देहादि की उत्पत्ति के कारण मुझको लिप्त नही करते और उन कर्मो के फल मे मेरी लालसा अर्थात् तृष्णा भी नही है । तिलक ने भी अपने शास्त्र मे लिखा है कि— 'यद्यपि वह प्राणियों के कर्तव्य और कर्म से वस्तुतः अलिप्त है तथापि अज्ञान मे फॅसे हुए लोग मोहित हो जाया करते हैं ।'[७८] शकराचार्य की टीका के अनुसार— 'देहादि का स्वामी आत्मा न तो 'तू अमुक कर्म कर', इस प्रकार लोगो के कर्तापन को उत्पन्न करता है, और न रथ, घट तथा महल आदि कर्म जो अत्यन्त इष्ट हैं, उनको रचता है तथा न रक्षादि बनाने वाले का उसके कर्मफल के साथ सयोग ही रचता है' ।[७९] अतः तिलक तथा शंकराचार्य दोनों ही यह मानते है कि गीता मे निर्गुण ब्रह्म की ही सर्वोत्तम सत्ता मानी गयी है ।

श्रुति तथा उपनिषद् मे भी ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का ही उल्लेख किया गया है । निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का कोई लक्षण नही किया जा सकता, ऐसा कोई गुण नही जिससे उसकी धारणा की जाए । इस कारण ब्रह्म का परिचय देते हुए केवल 'नेति-नेति' अर्थात् यह भी नही है; अर्थात् यह भी नही है; यह भी नही है कहा गया है तथा निषेध का ही व्यवहार किया गया है ।

कठोपनिषद् मे इसका उल्लेख इस प्रकार उद्‌धृत किया गया है— 'उसका शब्द नही, स्पर्श नही तथा रूप भी नही है' ।[८०] माण्डुक्य उपनिषद् में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है— 'जिसकी प्रज्ञा न वहिर्मुख है तथा न अन्तर्मुख है और न उदयमुख है, प्रज्ञान धन भी नही, प्रज्ञाभी नहीं और अप्रज्ञ भी नही । जो दर्शन, व्यवहार, चिन्ता और लक्षण से अतीत है । जिसका निर्देश नही हो सकता, जो आत्मा के प्रत्यय से ही सिद्ध है, प्रपंच से परे हैं, शान्त हैं, शिव है, अद्वैत हैं, उसी को तुरीय कहते है' ।[८१]

इसी कारण निर्गुण ब्रह्म को अनिर्देश्य, अनिरुक्त तथा अवाच्य आदि विशेषण दिए जाते हैं ।[८२] वह मन वाणी तथा इन्द्रियो से परे है ।[८३] वह जाने और अनजाने सब पदार्थों से भिन्न है ।[८४] उसी के विषय में कहा गया है कि वह धर्म से भी पृथक् है तथा अधर्म से भी पृथक् है । राधाकृष्णन के शब्दो में— -वह शाश्वत (ब्रह्म) इतना असीम रूप से वास्तविक है कि हम उसे एक का नाम देने की भी हिम्मत नही कर सकते, क्योंकि एक होना भी ऐसी धारणा है जो लौकिक अनुभव से ली गयी है ।'[८५]

श्री शकराचार्य अद्वैत मत का विवरण करते हुए इन तथा अन्य श्रुतियो को उद्धृत करके ब्रह्म का निर्विशेष भाव प्रदर्शित किया है। श्रुति मे यद्यपि ब्रह्म के लक्षण रूप का ही वर्णन किया गया है, परन्तु शकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को ही श्रुति का प्रतिपाद्य विषय माना है, और अविशेष ब्रह्म का प्रत्याख्यान किया है। उपनिषद् में जहाँ कही ब्रह्म का स्वरूप वर्णन किया गया है, वहाँ उसको (अशब्द, अस्पर्श, अरम तथा अव्यय आदि) सविशेष-रहित ही बताया गया है।[८६]

ईश्वर, सगुण निर्गुण दोनों है

इस प्रकार हम गीता मे ईश्वर के सगुण तथा निर्गुण दोनो रूपो का वर्णन पाते है। तेरहवे अध्याय मे कहा गया है कि वह सम्पूर्ण इन्द्रियो के विषय को जानने वाला है, परन्तु वास्तव मे सब इन्द्रियो से रहित है। वह आसक्ति रहित और गुणो से अतीत रहता हुआ भी अपनी योग माया से सबको धारण पोषण तथा गुणों को भोगने वाला है।[८७] पुनः हम पाते है— 'वह परमात्मा चराचर सब भूतो के बाहर भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचर रूप भी वही है। वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर मे भी वही स्थित है'।[८८]

राधाकृष्णन के मतानुसार भगवद्‌गीता मे ईश्वर के स्वरूप का द्विपक्षीय वर्णन किया गया है। एक तो उसका सत् (अस्तित्वमय) स्वरूप और एक नामरूपमय स्वरूप। वह 'परा' अर्थात् लोकातीत है और 'अपरा' अर्थात् अन्तर्व्यापी है, ससार के अन्दर और बाहर दोनो जगह विद्यमान है।[८९]

गीता के समान श्रुति तथा उपनिषद् भी कुछ स्थानो पर ईश्वर को सगुण तथा निर्गुण दोनो ही कहा गया है। एम० पी० राय के अनुसार गीता तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में सगुण ईश्वर का वर्णन रूद्र, हरा, देव-देवा तथा ईसा के रूप मे भी पाते है। यह समस्त सृष्टि का सृष्टिकर्ता एवं शासक है तथा प्रकृति एवं जीव से भिन्न है। इसके साथ ही निर्गुण ब्रह्म का भी वर्णन किया गया है।[९०]

विष्णु पुराण मे कहा गया है कि— 'प्रकृति के क्षोभ से उत्पन्न हुयी सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण भूत ईश्वर सत् है, अक्षर है और ब्रह्म है।'[९१] भागवत मे कई प्रकार से इसका वर्णन किया गया है— 'तत्व ज्ञानी इसी चित् वस्तु को तत्त्व ज्ञान कहते है; वही परमात्मा है; वही भगवान् है।'[९२] पुनः हे भूमा ! तुम्हीं सगुण हो, तुम्ही निर्गुण हो, तुम्ही सब कुछ हो, मन तथा बुद्धि से जो जाना जा सकता है, वह तुम्ही हो।[९३]

एक ही ब्रह्म निर्गुण एवं सगुण दोनों है, इस विषय मे वादरायण कहते है—

प्रकाशादिव्यच्च अवैशेष्यम्। प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्।[९४]

इसका दृष्टांत प्रकाश है। क्या झरोखे मे निकला हुआ सूर्य का प्रकाश, आकाशगत सूर्य के प्रकाश से भिन्न वस्तु है। दोनो में केवल उपाधि का ही भेद है। उपाधि के दूर हो जाने पर उसका स्वेक्षाकृत ससीम भाव दूर हो जाता है और फिर वह असीम हो जाता है तथा अनन्त भाव से विराजता है।

इसी भाव को लक्ष्य करके भागवत मे कहा गया है, 'यह जगत् नारायण में निहित है जो निर्गुण है, किन्तु सृष्टि के आरम्भ मे माया को अंगीकार करके वे सगुण हो जाते हैं'।[९५] इस प्रकार केवल गीता में ही नही, वरन् श्रुति तथा उपनिषदो मे भी एक ही ब्रह्म को सगुण तथा निर्गुण दोनों बताया गया है। सविशेष तथा निर्विशेष में केवल भाव का

ही भेद है— वस्तुगत कोई भेद नही है। निर्विशेष ब्रह्म जब माया को अंगीकार करके अपने को सकुचित कर लेते है, उस समय उनका जो विभाव होता है, वही सगुण अथवा सविशेष भाव है।

अत: भगवद्गीता, श्रुति एव उपनिषद् दोनों के ईश्वर विषयक मत मे पर्याप्त समानता है। दोनो में ही ईश्वर के सगुण, निर्गुण तथा सुगण-निर्गुण स्वरूप का वर्णन किया गया है। विभिन्न टीकाकारो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से ईश्वर के विशेष रूप को ही भगवद्गीता का चरमतत्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

फ्रेकलीन, एडगरटन के मतानुसार गीता का अव्यक्त अथवा निर्गुण-ब्रह्म, व्यक्त अथवा सगुण ब्रह्म के अधीन है। भगवद्गीता मे निर्गुण ब्रह्म को यद्यपि उपनिषदो के समान दिव्य माना गया है, तथापि वह सगुण ईश्वर पर आश्रित है।[९६]

परन्तु भगवद्गीता मे ईश्वर के किसी विशेष रूप पर बल नही दिया गया है। वहाँ तो उसके समस्त रूपो का उल्लेख किया गया है। निर्गुण तथा सगुण शाश्वत को देखने की दो विधियाँ है। भगवान् अपने परम्, स्वत: विद्यमान रूप मे ब्रह्म है, और ससार का स्वामी तथा सृजन करने वाला भगवान्, जिसके अन्दर सब विद्यमान है; ईश्वर कहलाता है। वास्तविकता एक ही है, जो अविभक्त चेतना के ढंग की है, ब्रह्म, भगवान्, आत्मा या परमात्मा कहलाती है। भगवान् अनुभवातीत भी है, विश्वरूप भी है और वैयक्तिक वास्तविकता भी हैं।

सृष्टिकर्ता, पालक और संहारक

ईश्वर के परम रूप से प्राप्त होता है कि सगुण ईश्वर के रूप में वह जगत् का सृष्टिकर्ता, पालक एवं संहारक है। पाणिनी के मतानुसार ईश्वर शब्द ही शक्तिमान तथा सामर्थ्यवान् होने का द्योतक है— 'ईश सामर्थ्ये' (पाणिनी)।

गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'मै ही सब भूतों का सनातन बीज हूँ'— बीज मां सर्वभूतानांविद्धि पार्थ सनातनम्।[९७]

इस बीज पद पर लक्ष्य करना चाहिए। बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है और वृक्ष बीज मे ही लीन हो जाता है। पुन: बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। उसी प्रकार क्रमान्वयन के साथ बीज से वृक्ष का अविर्भाव और बीज में वृक्ष का तिरोभाव संघटित होता रहता है। ईश्वर जगत् का बीज है, इससे यह स्पष्ट होता है कि उससे जगत् बार-बार उत्पन्न होकर उसमे विलीन होता रहता है। इसी को सृष्टि तथा प्रलय कहते है। सृष्टि के समय जगत् अव्यक्त से व्यक्त होता है तथा प्रलय के समय इसका विपरीत क्रम होता है।

इसी विषय पर तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है— 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातनि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यमिसंविशन्ति'।[९८] अर्थात् 'जिससे यह समस्त भूत उत्पन्न होते है, जिसके द्वारा उत्पन्न हुए जीव जीवित रहते हैं, अन्तकाल में जिसमे लीन हो जाते है— वही ब्रह्म है।' श्रुति में इसका समर्थन किया गया है— 'जन्माद्य स्ययत:'।[९९]

अर्थात् इस जगत् की जिससे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है, वही ब्रह्म है। छान्दोग्य उपनिषद् में ईश्वर को 'तज्जलान्' संज्ञा दी गयी है।[१००] तज्जलान् का अर्थ है तज, तल तथा तदन् अर्थात् जिससे उत्पत्ति होती है, स्थिति

होती है तथा जिसमे सब भूत लीन होते है, वही ब्रह्म है।

फ्रैकलीन एड्गारटन के शब्दों मे— 'ईश्वर की द्वैतवादी प्रकृति है। एक निम्न अथवा भौतिक प्रकृति है तथा दूसरी उच्च अथवा आध्यात्मिक प्रकृति है।[१०१]

गीता मे ईश्वर को जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण माना गया है।[१०२] रामानुज ने इसके समर्थन मे सर्वदर्शनसंग्रह में लिखा है—

वासुदेवःपरम ब्रह्मः कल्याण गुण संयुतः।
भुवनानामुपादानकर्ता जीव नियामकः॥

अर्थात् कल्याण गुणो से युक्त वासुदेव ही परब्रह्म है। वह भुवनो का उपादानकर्ता और अन्तर्यामी रूप से जीवो का नियामक है।[१०३]

शकराचार्य पारमार्थिक दृष्टिकोण से जगत् के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। इस कारण उनके लिए सृष्टि का प्रश्न एक व्यावहारिक समस्या है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से शंकराचार्य ने ईश्वर को जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण माना है।[१०४]

गीता के मतानुसार ईश्वर प्राणियो का सृष्टिकर्ता ही नही, वरन् उनका कर्माध्यक्ष तथा कर्मफलदाता है। नवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा है— 'मै इस सम्पूर्ण जगत् का धाता अर्थात् भरण-पोषण करने वाला एवं कर्मों के फल को देने वाला हूँ।[१०५] मनुष्य को केवल कर्म करने का अधिकार है, फल के लिए वह ईश्वर पर निर्भर करता है।[१०६] ईश्वर मनुष्य को उनके कर्मानुसार ही फल प्रदान करता है।

गीता मे ईश्वर की दो प्रकृतियॉ परा तथा अपरा कही गयी है।[१०७] कही-कही इन दो प्रकृतियो को क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के नाम से सम्बोधित किया गया है।[१०८] परन्तु ईश्वर केवल इन्ही दो प्रकृतियो मे ही सीमित नही है, वह उनसे उत्तम पुरुष है। गीता मे तीन पुरुषो का उल्लेख मिलता है, जड़प्रकृति को क्षर पुरुष, जीव को अक्षर पुरुष एवं परमेश्वर को उत्तम पुरुष कहा गया है। गीता कहती है— 'इस संसार मे नाशवान तथा अविनाशी यह दो प्रकार के पुरुष है, इनमे से सम्पूर्ण भूत प्राणियो के शरीर को तो नाशवान और जीवात्मा को अविनाशी कहा जाता है। इन दोनो से उत्तम पुरुष तो अन्य है जो तीनों लोकों मे प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है, इसे अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा कहा गया है।'[१०९]

इसी उत्तम पुरुष को पुरुषोत्तम कहा गया है— 'मै नाशवान जड़ वर्ग से सर्वथा अतीत हूँ, और माया में स्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। इस प्रकार तत्व से जो ज्ञानी पुरुष मेरे को पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वर को ही भजता है।'[११०]

अतः भगवद्गीता का पुरुषोत्तम, विश्व से ऊपर उठा, सनातन, स्थानातीत और कालातीत ब्रह्म है, जो स्थान तथा

काल मे इस दृश्यमान जगत् को सँभाले हुए है। वह विश्व के रूपो और गतियो की सार्वभौमिक आत्मा है। राधाकृष्णन के शब्दो मे— गीता का परमेश्वर व्यक्तिगत आत्माओ और प्रकृति की गतियो का अध्यक्ष है। वह विश्व के अस्तित्व का नियन्त्रण करता है। वह पुरुषोत्तम भी है, सर्वोच्च पुरुष जिसकी विविध प्रकृति विश्व के विकास मे व्यक्त होती है। वह हमारे अस्तित्व को पूर्ण कर देता है, हमारी बुद्धि को प्रकाशित करता है।[१११]

साधारणत: यह माना जाता है कि ईश्वर अधर्म का दमन तथा धर्म की संस्थापना अर्थात् मानव धर्म की सुव्यवस्था करने के लिए ही, अवतार धारण करते है। गीता मे कहा गया है कि— 'जब-जब धर्म की हानि होती है, और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मै अपने रूप को रचता हूँ, अर्थात् प्रकट करता हूँ।'[११२]

भगवान अवतार ग्रहण करके जो लोक-कल्याण हेतु कार्य करते है, उसका अनुसरण करना ही मनुष्य का कर्तव्य है। वह आध्यात्मिक उन्नत करके ईश्वर का सामीप्य प्राप्त कर सकता है। अरविंद के शब्दो मे— 'प्राणियो के समक्ष ईश्वर मानव-रूप मे एक आदर्श है। अज्ञान तथा साधारण प्राणियो के बन्धन हटाकर इस आदर्श रूप की प्राप्ति ही मानव जीवन का मुख्य लक्ष्य है।'[११३]

ईश्वर योग-माया शक्ति द्वारा ही मानव रूप धारण करते है। श्रीकृष्ण ने कहा है— 'मेरा जन्म प्राकृत मनुष्यो के समान नही है; मै अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी तथा सब भूत-प्राणियों का ईश्वर होने पर भी, इसी प्रकृति को अधीन करके योग माया से प्रकट होता हूँ।[११४] पुन: अपनी योग-माया से छिपा हुआ मै सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिए यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्म से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नही होता हूँ, इसलिए यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्म रहित अविनाशी परमात्मा को तत्व से नही जानता है अर्थात् मुझे जन्मने, मरने वाला समझता है।[११५]ग्यारहवें अध्याय मे श्रीकृष्ण ने अपनी योग शक्ति द्वारा अर्जुन को अपने विश्व रूप का दर्शन करवाया है। इस योग शक्ति के कारण ही ईश्वर को योगेश्वर कहा गया है।

(ग) जगत्

सांख्य दर्शन में प्रकृति जो शक्ति का मूल श्रोत है, उसे अवचेतन कहा गया और पुरुष को चेतन कहा गया जो स्वरूपत: प्रकृति या शक्ति से भिन्न है। अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्म को अखण्ड चैतन्य के रूप में स्वीकार किया गया है जो नित्य शुद्ध, बुद्ध स्वभाव का है, ब्रह्म की माया शक्ति वस्तुत: शून्य मे जाल बुनने वाली एक अविद्या शक्ति है। यद्यपि माया रूपिणी इस शक्ति से मायिक या मिथ्या जगत् का भ्रम उत्पन्न होता है परन्तु स्वयं ब्रह्म इससे अछूता है अर्थात् ब्रह्म चैतन्य अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से शक्ति का अधिष्ठान नही है। स्वयं शंकराचार्य जिन्होंने जगत् को मिथ्या बताया, उन्हें भी अविद्या या माया रूपी शक्ति की कल्पना करनी पड़ी जिसका अस्तित्व कहीं नही है। अत: शक्ति को मानना अनिवार्य है।

यदि इस जगत् को प्रयोजनात्मक समझा जाए तो जगत् रचना की कार्यिका शक्ति को चेतन समझा जाना आवश्यक है अन्यथा जीवन निरूद्देश्य हो जायेगा और विश्व रचना को यंत्रात्मक मान लेना पड़ेगा। वस्तुत: जगत् विकास चेतन

शक्ति का ही क्रमिक विकास का इतिहास है। यह चेतन जड़ मे 'सुप्त' अथवा 'अव्यक्त' रहकर धीरे-धीरे वनस्पति तथा पशु जगत् में विकसित होती हुयी मानव के मनस मे सर्वाधिक विकसित दृष्टिगोचर होती है।

गीता के सप्तम अध्याय के प्रारम्भ मे श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है— भौतिक सृष्टि के मूलभूत पंचतत्व और मन, बुद्धि, अहंकार यह मेरी अष्टधा विभक्त प्रकृति है, पर इससे भिन्न मेरी जो दूसरी परा प्रकृति है उसे जान लो जो जीव बना करती है और जो इस जगत् को धारण करती है।[११६] यहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया कि परमेश्वर की प्रकृति या शक्ति मूलतः एक ही है जो एक रूप मे 'क्षर' जगत् की सृष्टि करती है और दूसरे रूप मे ब्रह्म चैतन्य के जिस पर यह जगत् आधारित है और जो जीव के अन्तर्गत आत्म चैतन्य है। परमेश्वर की दो प्रकृतियो मे, उच्चतर प्रकृति मेरी परा शक्ति है— 'प्रकृति विद्धिअपरा' और यहाँ जो 'मै' है वह पुरुषोत्तम अर्थात् परम पुरुष, परमात्मा, विश्वातीत और विश्व व्यापी का वाचक है। परमात्मा की मूल सनातन प्रकृति और उनकी परात्परामूल कारण शक्ति ही परा प्रकृति से अभिप्रेत है।[११७] परमेश्वर की इस मूल कारण शक्ति का परा प्रकृति की दूसरी अभिव्यक्ति क्रियाशील शक्ति या अपरा प्रकृति है। इस सम्बन्ध मे श्री अरविद कहते हैं— 'अपनी प्रकृति की क्रियाशील शक्ति की दृष्टि से जगत् उत्पत्ति की बात कहते हुए भगवान् का यह स्पष्ट वचन है कि 'यह सर्वप्राणियो की योनि है... एतद्योनी निभृतानि'।[११८] परमेश्वर मे से किसी चित् शक्ति का आविर्भूत होना ही श्री अरविंद के विश्लेषण के अनुसार जगत् की उत्पत्ति है।

श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्म के चित्-शक्ति के दो रूपों मे अर्थात् 'परा' एवं 'अपरा' प्रकृति में या सच्चिदानन्द ब्रह्म तथा जगत् की कार्यिका शक्ति मे मौलिक तादात्म्य की स्थापना की गयी है। भगवान् अपनी परा-प्रकृति की शक्ति के साथ इस विश्व के चेतन तथा अचेतन कहे जाने वाले प्राणियो में प्रकट होते है और कर्म करते है। विभिन्न उदाहरणों से गीता में यह समझाया गया है कि किस प्रकार इस विश्व प्रपंच की प्रत्येक वस्तु मे चाहे वह जड़ हो या चेतन, आन्तरिक ऊर्जा के रूप मे वह ब्रह्म शक्ति परिव्याप्त है। भगवान् शक्ति और सत्ता एवं महाभूतो में से होकर कर्म करते हैं— 'मै जल मे रस हूँ, आकाश मे शब्द, पृथ्वी में गन्ध और अग्नि मे तेज हूँ..... वायु में मैं स्पर्श हूँ। अर्थात् भगवान् ही अपनी परा प्रकृति के रूप मे इन सब विभिन्न इन्द्रिय विषयों के स्थित शक्ति है।'[११९] पुनः कहते हैं— 'मै राशि और सूर्य की प्रमा, मनुष्य मे पौरुष, बुद्धिमानों मे बुद्धि, तेजस्वियों मे तेज, बलवानों मे बल, तपस्वियो में तप हूँ, सब भूतों मे मै जीवन हूँ... सब वेदो मे मै प्रणव हूँ।[१२०] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि विश्व चराचर के प्रत्येक वस्तु मे जो ऊर्जा या शक्ति है, वह मूल में भगवान् की ही शक्ति है।

गीता सातवें अध्याय में परमेश्वर की दो प्रकृतियों का उल्लेख करती हैं— 'परा' एवं 'अपरा'। सांख्य दर्शन प्रकृति से जो कुछ समझता है, वह गीता के अनुसार परमेश्वर की अपरा या निम्न प्रकृति है 'भौतिक सृष्टि के मूलभूत पंच तत्व और मन, बुद्धि एवं अहंकार यह मेरी अष्टधा विभक्त प्रकृति है।'[१२१] परन्तु इस निम्न या अपरा-प्रकृति को गीता एक उच्च या परा-प्रकृति के साथ सम्बन्ध करती है और कहती है— 'इससे भिन्न मेरी जो दूसरी परा-प्रकृति है उसे जान लो जो जीव बना करती है और जो इस जगत् को धारण करती है।'[१२२] श्री अरविन्द के अनुसार— गीता में परमेश्वर

की जो इस द्वैत प्रकृति का उल्लेख है यह एक नवीन दार्शनिक सिद्धान्त है जिससे— 'सांख्य शास्त्र के मन्तव्यो से आरम्भ करके वह (गीता) उनके आगे बढ़ती है और साख्यो के शब्दो को रखती हुयी और उन्हे विस्तृत करती हुयी उनमे वेदान्त का अर्थ भर देती है।'[१२३] साख्य दर्शन केवल अष्टधा विभक्त प्रकृति का ही उल्लेख करता है और वही रुक जाता है और उसे प्रकृति और पुरुष के बीच एक ऐसा भेद करना पड़ता है जो दोनो को मिलाने नही देता और अन्त तक परस्पर सर्वथा भिन्न दो मूल तत्त्व 'प्रकृति' और 'पुरुष' को मान लेता है।

प्रकृति का जो स्वरूप गीता मे वर्णित है उसमे सांख्य वर्णित विश्व प्रकृति के साथ एक परा प्रकृति भी, एकात्मा की प्रकृति भी समाविष्ट है। गीता के अनुसार— प्रकृति मूल रूप मे एक ही है, जिसके दो विरुद्ध पक्ष है— परा और अपरा। एक तो विकास भूत अपरा और दूसरी मूलभूत परा। विश्व यन्त्र के परिचालन से सम्बद्ध एक निम्न प्रकृति है जिसके सघ के कारण प्रकृतिष्ठ जीव त्रैगुण्यमयी माया द्वारा जनित एक प्रकार के अज्ञान में निवास करता है, अपने आप को देहबद्ध मन और प्राण से निर्मित अहं समझता है, प्रकृति के गुणो को शक्ति के अधीन कार्य करता है। अपने आप को व्यक्तित्व द्वारा बद्ध, पीड़ित तथा सीमित जन्म के बन्धन तथा कर्म के चक्र से निगणित, कामनाओं का पुतला, नश्वर, भरणधर्म, अपनी प्रकृति का दास समझता है। सत्ता के इस अपरा शक्ति के ऊपर उसकी अपनी वास्तविक सत्ता को उच्चतर, दिव्य और आध्यात्मिक प्रकृति है जिसमे यह जीव सदा के लिए 'शाश्वत' और भगवान् का चिन्मय अंश है, आनन्दमय मुक्त, अपनी सम्भूति के आवरण से उत्कृष्ट, अमर, अविनाशी है, भगवान् की एक विभूति है।[१२४]

गीता के तेरहवें अध्याय के प्रारम्भ में केवल शरीर को ही क्षेत्र कहती है और शरीर में जो पुरुष है, जो इस क्षेत्र को जानता है उसे क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति का ज्ञाना कहती है, अर्थात् प्रकृति का व्यापार मन, बुद्धि हमारी सत्ता के वाह्यान्तर कारणो के सब स्वाभाविक कार्य है। इस सन्दर्भ मे श्री अरविन्द का विचार है कि उपनिषद् प्रकृति के पॉच प्रकार के शरीर पर कोष का उल्लेख करती है— अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा दिव्य शरीर। इन्हे सम्पूर्ण 'क्षेत्र', 'क्षेत्रज्ञ' समझा जा सकता है।[१२५]

गीता हमारी सत्ता की निम्नतर प्रकृति के स्वरूप का सक्षेप मे निरूपण भी करती है। इस संक्षिप्त तथा व्यावहारिक निरूपण मे गीता सांख्य विचारकों के विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखती है। वास्तव मे गीता अपरा प्रकृति का यह सारा व्यापार आध्यात्मिक दृष्टि बिन्दु से जैसा दिखाई देता है उसे विषद् रूप से समझने के लिए प्राचीन ऋषियों के छन्दों की ओर केवल संकेत करती है।[१२६] परन्तु उसके संक्षिप्त वर्णन मे सांख्य निरूपण से ही संतोष कर लेती है। 'सबसे पहले आती है निर्विशेष अव्यक्त ऊर्जा; तदनन्तर उसमे से एवं महाभूतों का बाह्य विकास फिर इन्द्रियों के पाँच विषय... वे शक्तियाँ जो विश्व ऊर्जा में अपने मूल बाह्य उपादान के द्वारा निर्मित एवं महाभूतों से उत्पनन किए हुए नाना रूप पदार्थों के साथ व्यवहार करने के लिए विकसित की है— वे ऐन्द्रियक सम्बन्ध जिनके द्वारा बुद्धि और इन्द्रियों से सम्पन्न अहं जगत् की रचनाओं पर अपनी क्रिया करता है, यह है क्षेत्र का स्वरूप।'[१२७]

भगवद्गीता के अनुसार प्रकृति अपना खेल करने, सृष्टि का कार्य चलाने के लिए स्वतन्त्र नहीं है; किन्तु उसे

यह काम ईश्वर की इच्छा के अनुसार करना पड़ता है।[१२८] कपिलाचार्य ने प्रकृति को स्वतन्त्र माना है। साख्यो का यह कथन है कि ज्यो ही पुरुष और प्रकृति का सयोग होता है, त्यो ही उसकी टकसाल जारी हो जाती है। जिस प्रकार बसन्त ऋतु मे नए पत्ते दीख पड़ते हैं; और क्रमश: फल और फूल लगते है[१२९], उसी प्रकार प्रकृति की मूल साम्यावस्था नष्ट हो जाती है और उसके गुणों का विस्तार होने लगता है। इसके विरूद्ध वेद, सहिता, उपनिषद् और स्मृति-ग्रन्थो में प्रकृति को मूल न मानकर परब्रह्म को मूल गया माना है; और परब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति होने के विषय मे भिन्न-भिन्न वर्णन किए गए हैं; — 'हिरण्य गर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्'— पहले हिरण्यगर्भ[१३०] और इस हिरण्यगर्भ से अथवा सत्य से सब सृष्टि उत्पन्न हुयी[१३१]; अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ[१३२]; और फिर उससे सृष्टि हुयी। इस पानी में एक अण्डा उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ; ब्रह्मा से अथवा उस मूल अण्डे से ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ[१३३]; वेदान्त सूत्रो मे[१३४]; अन्तिम निर्णय यह किया गया है कि आत्मरूपी मूल ब्रह्म से ही आकाश आदि पचमहाभूत क्रमश: उत्पन्न हुए है।[१३५] प्रकृति, महत् आदि तत्वो का भी उल्लेख कठोपनिषद्[१३६]„ मैत्रायणी[१३७]; श्वेताश्वतर[१३८] आदि उपनिषदो मे स्पष्ट रीति से किया गया है। वेदान्त मत के अनुयायी प्रकृति को स्वतन्त्र नही मानते है। कपिलाचार्य ने सृष्टि के उत्पत्ति क्रम का वर्णन शास्त्रीय दृष्टि से विशेष पद्धति पूर्वक किया है; और भगवद्गीता में भी विशेष करके इसी सांख्य क्रम को स्वीकार किया गया है।

वेद मे एक मन्त्र है कि पहले ब्रह्म रात्रि होती है, उससे अग्नि बनती है, तब प्रात: (ब्रह्म दिन का आरम्भ) होने पर सूर्य (हिरण्यगर्भ) बनता है। यह उदय होते हुए दिखाई देता है। (माया) प्रज्ञा से यज्ञ करते हुए (परमात्मा) जानते है। परमात्मा से (हिरण्यगर्भ) सब सृष्टि की रचना करते हैं।[१३९] इस मन्त्र के अर्थ करने में निरुक्त माया के अर्थ करता है (माया प्रज्ञा माया यज्ञियानां यज्ञ सम्पादिनाम्) माया को प्रज्ञा कहा है। किन की प्रज्ञा? यज्ञ करने वालों की या देव की। यज्ञ सम्पादन करने के लिए यह माना गया है कि सृष्टि की रचना परमात्मा द्वारा हुयी है, यही यज्ञ है।[१४०] माया परमात्मा की शक्ति है, जिससे सृष्टि का यज्ञ रचा जाता है। ब्रह्म दिन के आरम्भ ब्रह्म रात्रि में से अग्नि उत्पन्न होती है जो पीछे सूर्य (हिरण्यगर्भ) का रूप धारण कर लेती है और इससे चराचर जगत् बनता है।

भगवद्गीता मे भी इसी प्रकार कहा है, भगवान् कहते है कि इन तीन गुणो के प्रभाव से यह सब जगत् बनता है। इन गुणो से मोहित होकर सब संसार परम अव्यय परमात्मा को नही जान पाता। परमात्मा की अलौकिक माया (दिव्य कर्तव्य शक्ति) जो गुण वाली है और दुस्तर है। जो मनुष्य परमात्मा का भजन करते हैं वे इस माया को पार कर जाते है। इस माया से जिनका ज्ञान हरा गया है, वे आसुरी स्वभाव वाले हो जाते है। वे नीच पुरुष, दुष्ट कर्म करने वाले परमात्मा को नही भज सकते।[१४१]

यहाँ स्पष्ट अभिप्राय यह है कि प्रकृति त्रिगुणमयी है। उसके गुणों से परमात्मा अपनी माया (प्रज्ञा अथवा कौशल) द्वारा यह जगत् रचता है। जगत् रचने मे जो माया है वह गुणमयी है। जो लोग इस जगत् मे परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते और संसार को ही सब कुछ समझते हैं, वे गीता के मतानुसार व्यक्त जगत् में ही मोहित रहते हैं। व्यक्त जगत् परमात्मा की शक्ति से ही निर्मित होता है।

भगवद्गीता के मतानुसार पृथ्वी, आपः, अनिल, वायु और आकाश (पचमहाभूत) मन (इन्द्रियों सहित) बुद्धि और अहकार यह आठ प्रकार की परमात्मा की प्रकृति है। परन्तु इससे दूसरी प्रकृति के जीव भूतो की।[१४२] इन दोनो प्रकृतियो से ससार धारण किया हुआ है। यहाँ प्रकृति का अर्थ सृष्टि से है।

जगत् के सब पदार्थों का जो यह मूल है, उसे ही सांख्य शास्त्र 'प्रकृति' कहते है। प्रकृति का अर्थ 'मूल' का है। इस प्रकृति से आगे जो पदार्थ बनते है, उन्हे 'विकृति' अर्थात् मूल द्रव्य के विकार कहते है। यद्यपि सब पदार्थो में मूल द्रव्य एक ही है, जब हम इस जगत् के पत्थर, मिट्टी, पानी, सोना इत्यादि भिन्न-भिन्न पदार्थो की ओर देखते है, तब उनमे भिन्न-भिन्न अनेक गुण पाए जाते हैं। इसलिए सब पदार्थों के गुणों का निरीक्षण करके सांख्यवादियों ने इन गुणों का सत्व, रज और तम ये तीन भेद कर दिए हैं। सांख्यवादी कहते है कि सत्व, रज और तम सब पदार्थों के मूल द्रव्य मे अर्थात् प्रकृति मे आरम्भ से ही रहा करते है। यदि कहा जाए कि, इन तीन गुणो को ही 'प्रकृति' कहते हैं तो कोई अनुचित नही होगा। इन तीनो गुणो से प्रत्येक गुण का जोर आरम्भ में समान या बराबर रहता है, इसीलिए सर्वप्रथम यह प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। यह साम्यावस्था जगत् के आरम्भ में थी और जगत् के लय हो जाने पर वैसी ही फिर हो जायेगी। साम्यावस्था मे कुछ भी हलचल नही होती, सब कुछ स्तब्ध रहता है। परन्तु जब उक्त तीनो न्यूनाधिक होने लगते है तब प्रवृत्यात्मक रजोगुण के कारण मूल प्रकृति से भिन्न-भिन्न पदार्थ होने लगते है और सृष्टि का आरम्भ होने लगता है। सांख्यवादी इसी को प्रकृति का मूलभूत तत्त्व मानते हैं।[१४३]

वस्तुतः सत्व, रज और तम तीनो गुण अन्य पदार्थों के समान सात्विक पदार्थ भी विद्यमान रहते है। इन तीनो पदार्थो मे संहर्ष चला करता है ओर इस संहर्ष में जो गुण प्रबल हो जाता है उसी के अनुसार हम प्रत्येक पदार्थ को सात्विक, राजस या तामस कहा करते हैं।[१४४] उदाहरणार्थ— अपने शरीर में जब रज और तम गुणों पर सत्व का प्रभाव जम जाता है, तब अपने अन्तःकरण में ज्ञान उत्पन्न होता है, सत्य का परिचय होने लगता है, और चित् वृत्ति शान्त हो जाती है। उस समय यह नही समझना चाहिए, कि अपने शरीर में रजो गुण और तमो गुण बिल्कुल है ही नहीं; बल्कि वे सत्व गुण के प्रभाव से दब जाते है। इसलिए उनका कुछ चलने नही पाता।[१४५] यदि सत्व के बदले रजोगुण प्रबल हो जाए, तो अन्तःकरण में लोभ जागृत हो जाता है, इच्छा बढने लगती है, और वह हमे अनेक कर्मो मे प्रवृत्त करती है। इसी प्रकार जब सत्व और रज की अपेक्षा तमोगुण प्रबल हो जाता है, तब निद्रा, आलस्य, स्मृतिभ्रंश इत्यादि दोष शरीर में उत्पन्न हो जाते है। तात्पर्य यह है कि इस जगत् के पदार्थो में सोना, लोहा, पारा इत्यादि जो अनेकता या भिन्नता दीख पड़ती है, वह प्रकृति के सत्व, रज औरतम इन तीनो गुणो की ही परस्पर न्युनाधिकता का फल है।

सात्विक ज्ञान के विषय में गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जिस अभेदात्मक ज्ञान से यह मालूम हो, कि सब कुछ एक ही है, उसी को सात्विक ज्ञान कहते हैं।[१४६] सत्व गुण के वर्णन के बाद ही, गीता में चौदहवे अध्याय के अन्त में त्रिगुणातीत अवस्था का वर्णन है। परन्तु भगवद्गीता को यह प्रकृति और पुरुष वाला द्वैत मान्य नही है। इसलिए ध्यान रखना चाहिए कि गीता में 'प्रकृति', 'पुरुष', 'त्रिगुणातीत' इत्यादि सांख्यवादियों के पारिभाषिक शब्दों का

कुछ भिन्न अर्थो मे किया गया है; यह कहा जाए कि गीता मे सांख्यवादियो के द्वैत पर अद्वैत परब्रह्म की 'छाप' सर्वत्र लगी हुयी है। उदाहरणार्थ— साख्यवादियो के प्रकृति-पुरुष के भेद का ही गीता के तेरहवे अध्याय मे वर्णन है।[१४७] परन्तु वहाँ 'प्रकृति' एवं 'पुरुष' शब्दो का उपयोग क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अर्थ मे हुआ है। साख्य मत के अनुसार प्रकृति ने इस जगत् या सृष्टि को असंख्य पुरुषो के लाभ के लिए ही निर्माण किया है। 'दासबोध' मे श्री समर्थ— रामदास स्वामी ने भी प्रकृति से सारे ब्रह्माण्ड के निर्माण होने का बहुत अच्छा वर्णन किया है। इसी प्रकार भगवद्‌गीता के सातवे और आठवे अध्यायो में मुख्यतः इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है।

साम्यावस्था मे रहने वाली को साख्यशास्त्र मे 'अव्यक्त' अर्थात् इन्द्रियों को गोचर न होने वाली कहा है। इस प्रकृति के सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की परस्पर न्यूनाधिकता के कारण जो अनेक पदार्थ हमारी इन्द्रियों को गोचर होते है अर्थात् जिन्हे हम देखते है, सुनते है, चखते है या स्पर्श करते है, उन्हे सांख्यशास्त्र में 'व्यक्त' कहा है। व्यक्त पदार्थ अनेक है उनमे से कुछ, जैसे— पत्थर, पेड, पशु इत्यादि स्थूल कहलाते है और कुछ, जैसे— मन, बुद्धि आकाश सूक्ष्म कहलाते है।[१४८] इस प्रकार जब 'सूक्ष्म' और 'स्थूल', 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है, तब कहना पडेगा कि सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक पदार्थ सूक्ष्म और अव्यक्त प्रकृति के रूप मे रहता है। फिर वह (चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल हो) व्यक्त अर्थात् इन्द्रिय गोचर होता है, और जब प्रलयकाल मे इस व्यक्त स्वरूप का नाश होता है, तब फिर वह पदार्थ व्यक्त प्रकृति मे मिलकर अव्यक्त हो जाता है। गीता में भी यही मत दीख पड़ता है।[१४९]

सांख्यशास्त्र मे इस अव्यक्त प्रकृति ही को 'अक्षर' भी कहते है, और प्रकृति से होने वाले सब पदार्थो को 'क्षर' कहते है। यहाँ 'क्षर' शब्द का अर्थ सम्पूर्ण नही है; किन्तु सिर्फ व्यक्त स्वरूप का नाश ही अपेक्षित है। प्रकृति के और भी अनेक नाम हैं जैसे— प्रधान, गुणक्षोभिणी, बहुधानक, प्रसवधर्मिणी इत्यादि। सृष्टि के सब पदार्थो का मूल होने के कारण उसे (प्रकृति को) प्रधान कहते है। तीनों गुणो की साम्यावस्था का भंग स्वयं आप ही करती है, इसलिए उसे गुण-क्षोभिणी कहते हैं। गुणत्रय रूपी पदार्थ भेद के बीच प्रकृति में है, इसलिए उसे बहुधानक कहते हैं। प्रकृति से ही सब पदार्थ उत्पन्न होते है इसलिए उसे प्रसवधर्मिणी कहते हैं। इस प्रकृति ही को वेदान्तशास्त्र में 'माया' अर्थात् मायिक दिखावा कहते हैं। हेकेल के मतानुसार सारी सृष्टि का मूल कारण एक जड़ और अव्यक्त प्रकृति ही है। इसलिए उसने अपने सिद्धान्त को सिर्फ -अद्धैत' कहा है।[१५०] इसी कारण हम इसे जड़ाद्वैत या अधिभौतिक शास्त्राद्वैत कहेंगे।

सांख्य शास्त्रकार इस जड़ाद्वैत को नही मानते वे कहते हैं कि मन, बुद्धि और अहंकार पंचमहाभूतात्मक जड़ प्रकृति ही के धर्म हैं; अव्यक्त प्रकृति से ही बुद्धि, अहंकार इत्यादि गुण क्रम से उत्पन्न होते जाते है। परन्तु उनका कहना है, कि जड़ प्रकृति से चैतन्य की उत्पत्ति नही हो सकती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत् मे जो घटनाएँ होती रहती हैं, वे सब प्रकृति ही के खेल हैं। सारांश यह है, कि प्रकृति अचेतन या जड़ है; और पुरुष सचेतन है। प्रकृति सब काम किया करती है; और पुरुष उदासीन या अकर्ता है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है; और पुरुष निर्गुण है। प्रकृति अन्धी है; और पुरुष साक्षी है। इस प्रकार इस जगत् मे यही दो भिन्न-भिन्न तत्त्व अनादि सिद्धि, स्वतन्त्र और स्वयंभू हैं। इस बात

को ध्यान मे रखकर भगवद्गीता मे कहा गया है कि 'प्रकृति पुरुष चैव विद्धयनादी उभावपि' प्रकृति और पुरुष दोनो अनादि है।[१५१] यद्यपि गीता मे भी प्रकृति और पुरुष अनादि माने गए है, तथापि यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि साख्यवादियो के समान, गीता मे ये दोनों तत्व स्वतन्त्र या स्वयभू नही माने गए है। कारण यह है कि गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रकृति को अपनी माया कहा है[१५२], और पुरुष के विषय मे भी कहा है कि "ममैवांशो जीव लोके'[१५३] अर्थात् वह भी मेरा अंश है।

सांख्यो का सिद्धान्त है कि इन्द्रियो को अगोचर अर्थात् अव्यक्त, सूक्ष्म और चारों ओर अखण्डित भरे हुए एक ही निरवयव मूल द्रव्य से सारी व्यक्त जगत् उत्पन्न हुयी है। यह सिद्धान्त पश्चिमी देशों के अर्वाचीन अधिभौतिक शास्त्रज्ञो को ग्राह्य है। उपनिषदों मे भी सृष्टि के उत्पत्ति के विषय मे कहा गया है कि— 'बहुत्याप्रजायेय' और इसके बाद सृष्टि उत्पन्न हुयी।[१५४]

उपनिषदो मे जगत् ब्रह्म द्वारा अपने प्रसार रूप में वर्णित है। जैसे मिट्टी के पिण्ड मे विभिन्न मिट्टी के पात्र बनते है, मिट्टी के रूप से ही स्थित रहते हैं और फिर (नष्ट होने पर) मिट्टी मे मिल जाते हैं। किसी भी नाम व आकृत मे रहते समय उनका तत्व मिट्टी ही होती है और मिट्टी क्या है जान लेने पर उन विविध नाम रूपो मे स्थित तत्व को भी जान लिया जाता है, ऐसे ही समस्त जगत् ब्रह्म से ही उत्सृष्ट है। ब्रह्म मे ही स्थित है व ब्रह्म मे लीन हो जाता है।[१५५] मकड़ी की भॉति ब्रह्म अपने मे से ही, जाले की भॉति; प्रपंच को उत्पन्न करता है फिर अपने मे ही समेट लेता है। स्वयं ही इस विश्व के आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर सब ओर स्थिर है।[१५६] दूसरी ओर उपनिषदो मे प्रधानता है, ऐसे वाक्यो की जिसमे ब्रह्म या आत्मतत्त्व ही एक मात्र वस्तु है। इससे इतर कुछ है ही नही, अथवा असत्य है।[१५७] इन दोनों पक्षों का समन्वय करते हुए कहा जा सकता है कि केवल ब्रह्म ही सत्य है। यह तथ्य होने पर भी जगत् की अनुभूय मान प्रतीति को अस्वीकार नही किया जा सकता इसीलिए कहा गया है, कि ब्रह्म की सत्ता के अतिरिक्त जगत् की सत्ता नहीं है। जगत् जो भी है वह ब्रह्म मे से ही उत्पन्न हुआ है; उसी मे स्थित है, उसी मे लीन हो जाता है, उससे बाहर कुछ नही है।

जैसे कि मिट्टी मे से नाना प्रकार के पात्र उत्पन्न होते हैं; मिट्टी ही उनका सार है। जब तक वे स्थिर हैं; और मिट्टी मे भी उनका लय होता है, तत्त्व मिट्टी ही है; विविध पात्र उसके नाम व रूप पात्र है।[१५८] इससे कहीं ऐसा अर्थ न निकाला जाय कि जगत् भी वैसा ही सत्य है जैसा ब्रह्म, क्योंकि मिट्टी व पात्रो की सत्यता एक जैसी होती है; इसके लिए कहा गया है कि ब्रह्म के अतिरिक्त सब असत्य है। ब्रह्म अनाम अरूप है, अत: नाम व रूप असत्य है। जगत् नाम रूपात्मक ही है, अत: असत् है। इस पर शंका उठ सकती है कि सत् कारण से असत् कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है, जबकि सर्वत्र कार्य व कारण समान ही सत्ता वाले देखे जाते है; इस पर उत्तर दिया जा सकता है कि मिट्टी से उत्पन्न घट आदि भी मिट्टी के समान स्थायी नही, ये तो नाम व आकृतियाँ मात्र हैं, जो मिट्टी मे ही उदित, स्थित व लय हुआ करती हैं। वही स्थिति ब्रह्म में जगत् की है। ब्रह्म अविक्रिय है, अत: जगत् उसका विचार नहीं जैसे मिट्टी का विचार घट आदि है। जगत् की प्रतीति व प्रकृति अपने आश्रय ब्रह्म से विपरीत है। इसलिए आनन्द, अद्वय, निर्गुण, अविक्रिय तत्त्व से असत्, जड़ दु:खमय, नाना त्रिगुणात्मक सदा विकारशील जगत् के उत्पन्न होने व उसी में स्थित होने में कोई असंगति नही।

आचार्य गौड़पाद ने माण्डुक्यकारिका मे कहा है कि सृष्टि स्वप्न या माया (जादू) के समान है, अर्थात् कुछ न होते हुए दिखाई देना।[१५९] स्वप्न के समान होने से सभी जागतिक पदार्थ मिथ्या है; वितथ (जो है, उससे विपरीत अथवा जो दिखता है उससे विपरीत) है, स्वप्न पदार्थ जिन-जिन कारणो से मिथ्या सिद्ध होते है वे सब दशाएँ जाग्रत मे भी है, अत: यह भी मिथ्या है।[१६०]

योगवशिष्ठ मे गौडपाद के आशय का ही प्रस्तार है। कहा गया है; जो वस्तु दिखती तो है, किन्तु उसका कोई कारण नही है, वह विभ्रम स्वरूप ही होती है; यह जगत उसी प्रकार का है, अत: विभ्रम ही इसका स्वरूप ही होती है[१६१]; सृष्टि संविदात्मा (ज्ञान स्वरूप आत्मा) मे स्थित स्वप्न ही है, जो नाना आकृतियो मे आभासित है; यह माया (जादू) है, भ्रान्ति है, स्वप्न है, असत् चक्र है, मृगमरीचिका है।[१६२] आचार्य शंकर विवेक चूड़ामणि में संसार स्वप्न ही है, मन द्वारा कल्पित है, काल्पनिकत्व ही इसका स्वरूप है अभ्यास भी कल्पित ही है।

सुरेश्वराचार्य ने भी बृहदारण्यभाषवार्तिक मे अनेक बार दोहराया व सिद्ध किया है कि अवास्तविकता ही ससार का स्वरूप है। ससार 'कोकोलूकनिशक्त् है, अरा के प्रति तत्व असत् है और विज्ञ के प्रति जगत् असत् है।[१६३] अज्ञात द्वारा कल्पित होना ही जगत् का स्वरूप है, सुक्ति रजत की भॉति ब्रह्म मे समस्त अनात्म वस्तु अध्यस्त है।

विचार सागर मे निश्चलदास ने आचार्य शकर की भॉति ससार का स्वरूप दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुकूल बताते हुए कहा है कि संसार मन द्वरा कल्पित है। पुन: आचार्य गौड़पाद की तरह निश्चलदास जगत् के स्वरूप को स्वप्न के समान बताया तथा मिथ्या कहा है।[१६४] स्वप्न पदार्थो एव जाग्रत पदार्थो मे तुलना करते हुए उन सभी दशाओं का निरूपण किया गया है। जिनके कारण स्वप्न पदार्थ मिथ्या सिद्ध होते है।[१६५] योगवसिष्ठ की भॉति विचार सागर मे इस आशय का भी प्रस्तार किया गया है, जिसमें कहा गया है कि बिना सामग्री एव साधन के जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, वह मिथ्या है।[१६६]

व्यवसायात्मिक बुद्धि और अहंकार दोनों व्यक्त गुण जब मूल साम्यावस्था की प्रकृति मे उत्पन्न हो जाते हैं तब प्रकृति की एकता भंग हो जाती है; और उससे अनेक पदार्थ बनने लगते हैं। इस प्रकार जब अहंकार से मूल प्रकृति मे भिन्न-भिन्न पदार्थ बनने की शक्ति आ जाती है तब आगे उसकी वृद्धि की दो शाखाएँ हो जाती है— एक पेड़, मनुष्य आदि ऐन्द्रिय प्राणियों की सृष्टि और दूसरी निरिन्द्रयो की सृष्टि। इस जगत् मे ऐन्द्रिय और निरिन्द्रिय पदार्थो के अतिरिक्त किसी तीसरे पदार्थ का होना सम्भव नही। इसमें निरिन्द्रिय पदार्थों की अपेक्षा इन्द्रिय शक्ति श्रेष्ठ है। इसलिए इन्द्रिय सृष्टि को सात्विक (अर्थात् सत्व गुण के उत्कर्ष से होने वाली) कहते है; और निरिन्द्रिय सृष्टि को तामस (अर्थात् तमोगुण के उत्कर्ष से होने वाली) कहते हैं। सारांश यह है कि जब अहंकार अपनी शक्ति के भिन्न-भिन्न पदार्थ उत्पन्न करने लगता है, तब उसी मे एक बार तमोगुण का उत्कर्ष होकर एक और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पॉच कर्मेन्द्रियॉ और मन मिलकर इन्द्रिय सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इन्द्रियॉ उत्पन्न होती हैं; दूसरी ओर, तमोगुण का उत्कर्ष होकर उससे निरिन्द्रिय— सृष्टि के मूलभूत पॉच तन्मात्र द्रव्य उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रकृति की सूक्ष्मता अब तक कायम रही है; इसलिए अहंकार से उत्पन्न होने वाले ये

सोलह तत्व भी सूक्ष्म ही रहते है ।[१६७]

साख्यो का मत है कि ये सब इन्द्रियॉ किसी एक ही मूल इन्द्रिय से क्रमश: उत्पन्न नही होती; किन्तु जब अहकार के कारण प्रकृति मे विविधिता आरम्भ होने लगती है, तब पहले उस अहंकार से पॉच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियॉ, पॉच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियॉ और मन इन सबको मिलाकर ग्यारह भिन्न-भिन्न गुण (शक्ति) सबके सब एक साथ (युगपत्) स्वतन्त्र होकर मूल प्रकृति मे ही उत्पन्न होते है; और फिर इसके आगे स्थूल ऐन्द्रिय सृष्टि उत्पन्न हुआ करती है । उपनिषदो मे इन्द्रियो को ही 'प्राण' कहा है, और साख्यो के मतानुसार उपनिषत्कारो का भी यही मत है कि ये प्राण पचभूतात्मक नही है; किन्तु परमात्मा से पृथक् उत्पन्न हुए है ।[१६८] इन प्राणो की— अर्थात् इन्द्रियो की संख्या उपनिषदो मे कही सात, कही दस, ग्यारह, बारह और कही-कही तेरह बतलायी गयी है । परन्तु वेदान्त सूत्रो के आधार से श्री शंकराचार्य ने निश्चित किया है, कि उपनिषदो के सब वाक्यो की एकरूपता करने पर इन्द्रियो की संख्या ग्यारह ही सिद्ध होती है ।[१६९] गीता मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि 'इन्द्रियाणि दशैक च'[१७०] अर्थात् इन्द्रियॉ 'दस और एक' अर्थात् ग्यारह हैं । अब इस विषय पर साख्य और वेदान्त दोनो मे कोई मतभेद नहीं रहा ।

सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते समय वेदान्ती कहा करते है कि परमेश्वर से ही एक ओर जीव निर्माण हुआ; दूसरी ओर (महदादि सात प्रकृति-विकृति सहित) अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार की प्रकृति निर्मित हुयी ।[१७१] अर्थात् वेदान्तियो के मत से पच्चीस तत्त्वो मे से सोलह तत्त्वो को छोड़कर शेष नौ तत्त्वो के केवल दो ही वर्ग किए जाते है— एक 'जीव' और दूसरी 'अष्टधाप्रकृति' भगवद्‌गीता में वेदान्तियो का यह वर्गीकरण स्वीकृत किया गया है । परन्तु इसमे भी अन्त मे थोडा सा फर्क हो गया है । सांख्यवादी जिसे पुरुष कहते हैं, उसे ही गीता मे जीव कहा है, और यह बतलाया गया है कि वह (जीव) ईश्वर की 'परा प्रकृति' अर्थात् श्रेष्ठ स्वरूप है; और साख्यवादी जिसे मूल प्रकृति कहते है, उसे ही गीता मे परमेश्वर का 'अपर' अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप कहा गया है ।[१७२]

वेदान्ती तो प्रकृति अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार की मानते हैं । इस स्थान पर यह विरोध दीख पडता है, कि जिसं प्रकृति को वेदान्ती अष्टधा या आठ प्रकार की कहते हैं, उसी को गीता सप्तधा या सात प्रकार की कहती है । परन्तु गीताकार को अभिष्ट था कि उक्त विरोध दूर हो जावे; और 'अष्टधा प्रकृति' का वर्णन बना रहे । इसीलिए महान, अहंकार और पंचतन्त्रमात्राएँ, इन सातों में ही आठवे मन तत्त्व को सम्मिलित करके गीता में वर्णन किया गया है, कि परमेश्वर का कनिष्ठ स्वरूप अर्थात् मूल प्रकृति अष्टधा है ।[१७३] इनमे से केवल मन ही मे दस इन्द्रियॉ और पंचतन्त्रमात्राओ मे पंचमहाभूतो का समावेश किया गया है । अब यह प्रतीत हो जाएगा कि गीता में किया गया वर्गीकरण साख्यो और वेदान्तियो के वर्गीकरण से यद्यपि कुछ भिन्न है, तथापि इससे कुल तत्त्वो की संख्या में कुछ न्यूनाधिकता नही हो जाती, सब जगह तत्व पच्चीस ही माने गए हैं । गीता के तेरहवे अध्याय[१७४] में वर्गीकरण के झगड़े में न पड़कर, सांख्यो के पचीस तत्वों का वर्णन ज्यो का त्यों पृथक्-पृथक् किया गया है; और इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चाहे वर्गीकरण में कुछ भिन्नता हो; तथापि तत्त्वो की संख्या दोनों स्थान पर बराबर ही है ।

पच्चीस मूल तत्त्वों का वर्गीकरण

साख्यो का वर्गीकरण	तत्त्व	वेदान्तियो का वर्गीकरण	गीता का वर्गीकरण
न प्रकृति न विकृति मूल प्रकृति	१ पुरुष १ पुरुष	परब्रह्म का श्रेष्ठ स्वरूप	परा प्रकृति अपरा प्रकृति
७ प्रकृति-विकृति	१ महान १ अहंकार ५ तन्मात्राएँ	परब्रह्म का कनिष्ठ स्वरूप (आठ प्रकार का)	अपरा प्रकृति के आठ प्रकार
१६ विकार	१ मन ५ बुद्धिन्द्रियॉ ५ कर्मेन्द्रियॉ ५ महाभूत	विकार होने के कारण इन सोलह तत्वो को वेदान्ती मूल तत्व नही मानते।	विकार होने के कारण गीता मे इन पन्द्रह तत्वो की गणना मूल तत्वो मे नही की गयी है।
	(२५) तत्त्व		

उत्तर वेदान्त ग्रन्थो मे वर्णित पन्चीकरण प्राचीन उपनिषदो मे नही है। छान्दोग्योपनिषद् मे पॉच तंमात्राएँ या पॉच महाभूत नही माने गए है, किन्तु कहा गया है कि तेज, आप: (पानी) और अन्न (पृथ्वी) इन्ही तीन सूक्ष्म मूल तत्त्वो के मिश्रण से अर्थात् 'त्रिवृत्करण' से सब विविध सृष्टि बनी है। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे कहा गया है कि— 'अजामेका' लोहित शुक्ल कृष्णा बह्वी. प्रजा: सृजमानां सरूपा:'[१७५] अर्थात् लाल (तेजो रूप), सफेद (जल रूप) और काले (पृथ्वी रूप) रगो की (अर्थात् तीन तत्त्वो की) एक अजा (बकरी) से नाम रूपात्मक सृष्टि उत्पन्न हुयी। छान्दोग्योपनिषद् के छठवें अध्याय में श्वेतकेतु के पिता ने स्पष्ट कह दिया है, कि 'अरे इस जगत् के आरम्भ 'एकमेवाद्वितीयं सत्'[१७६] के अतिरिक्त अर्थात् जहॉ-तहॉ सब एक ही ओर नित्य परब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नही था।' जो असत् (अर्थात् नहीं है) उससे सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतएव आदि मे सर्वत्र सत् ही व्याप्त था। इसके बाद उसे अनेक अर्थात् विविध होने की इच्छा हुयी और उससे क्रमश: सूक्ष्म तेज (अग्नि), आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी) की उत्पत्ति हुयी। तत्पश्चात् इन तीन तत्वो मे ही जीव रूप से परब्रह्म का प्रवेश होने पर उनके त्रिवृत्करण से जगत् की अनेक नामरूपात्मक वस्तुएँ निर्मित हुयी।

संदर्भ

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:॥ — गीता, २/१६

२. वही, २/१७

३ गीता, २/१८

४ गीता, २/१९

५ गीता, २/२३

६ गीता, २/२४

७ गीता, २/२५

८. गीता, २/२६

९ गीता, २/२७

१० गीता, १३/५

११ महाभारत, शान्तिपर्व, ३२०

१२. इद शरीर कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहु· क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ — (गीता) १३/१

१३ गीता, ३/४२

१४ कठोपनिषद्, १/३/३-४

१५ गीता, १/३/३

१६. गीता, २/६०

१७. कठोपनिषद्, १/३/५, ६

१८ गीता, ६/६

१९. गीता, १३/२२

२०. गीता, १०/४१

२१. गीता, ७/२४

२२ गीता, ७/४

२३. गीता, १३/६

२४. गीता, ७/५

२५. गीता, ७/६

२६. गीता, १३/१९

२७ गीता, ७/१४, १४, ३

२८. गीता, १५/७

२९. गीता, १३/३४

३०. साख्यकारिका, ६१

३१ गीता, ८/१८

३२ गीता, ८/२०; ११/३७; १५/१६, १७

३३ राधाकृष्णन– द थीइज्म ऑफ भगवद्गीता, पृ० ४१

३४ गीता, १४/४

३५ गीता, ७/६

३६ गीता, ७/७

३७ गीता, १०/२०

३८ गीता, १०/४१

३९. गीता, ७/२४

४० गीता, ९/५

४१ गीता, १३/१२; १३/१४

४२ गीता, १५/१८

४३ राधाकृष्णन– भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ० ५०२

४४ गीता, १५/९

४५. वसासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा, न्यन्यानि संयाति नवानि देही। — गीता, २/२२

४६ गीता, १५/८

४७. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।— गीता, १५/७

४८. गीता, १०/४२

४९ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।— गीता, ६/२९

५०. सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो। —गीता, १५/१५

५१. (क) मैक्समूलर सिक्स सिस्टम ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ७०-७२

(ख) शर्मा, सी० डी०– आर्टिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलासफी, पृ० २

५२ (क) पच्चाप्नोति यदा दत्ते पच्चास्ति विषया निहं। — कठोपनिषद् शां० भा०, २/१/१

(ख) पच्चास्य संततो आवस्त स्मदात्मेति कीर्त्यते। — लिग०–ग० १/७०/९६

५३. कठोपनिषद्, १/३/१

५४. ब्रह्मसूत्र, १/२/११

५५. तस्मिन् तस्थुर्भुवनानि विश्वा। — यजुर्वेद, ३१/१९

५६. गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र — बालगंगाधर तिलक, पृ० ५५०

५७ गीतारवाणी का हिन्दी अनुवाद, (गीतोपदेश), अनिल वरुग राय, पृ० ७५

५८. गीता, ९/१८

५९ डब्ल्यू० डोवगल्स पी० हिल — द भगवद्गीता, पृ० २१

६० गीता, ९/१८

६१ गीता, १३/१५

६२ गीता, १०/३

६३ गीता, ११/३८

६४. गीता, ११/१६

६५ गीता, ११/१९

६६ गीता, ११/१९

६७ गीता, ९/१८

६८. गीता, १३/१३

६९ श्वेताश्वतर उपनिषद्, ३/३

७० अग्निर्मूधा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्ववृताश्च वेदाः।
वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य पन्दयां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ — मुण्डक० उ०, २/१/४

७१. गीता, ९/२४

७२ निर्गुणवादाश्च प्राकृत हेयगुणनिषेध विषयातया व्यवस्थिताः। —सर्वदर्शन संग्रह, में रामानुज, पृ० २१५

७३. वही, पृ० १८७

७४. सर्वकर्माः सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः। — छान्दोग्य उप०, ३/१४/२

७५. गीता, १३/३१

७६. तिलक- भगवद्गीता रहस्य, पृ० २०५

७७ गीता, ४/१४

७८ तिलक, गीता रहस्य, पृ० २०६

७९ भगवद्गीता पर शांकरभाष्य, पृ० १५६

८०. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं। — कठोपनिषद्, ३/१५

८१. माण्डुक्य उप०, ७

८२. तैत्ति० २/७

८३ नैवा वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुणा। — कठोपनिषद्, ६/१२

८४ अन्यदेव तिद्विदिता दथो अविदितादधि। — केन० उप०, १/३

८५ राधाकृष्णन — भगवद्गीता, पृ० २१

८६ ब्रह्मसूत्र, ३/२/११ पर शाकरभाष्य

८७ गीता, १३/१४

८८ गीता, १३/१५

८९ राधाकृष्णन — भगवद्गीता, पृ० २२

९० एम० सी० राय – द भागवद्गीता एण्ड मार्डर्न स्कालरशिप, पृ० १२-१३

९१ विष्णु पुराण, १/१/२

९२ भागवत, १/२/११

९३. भागवत, ७/९/४८

९४ ब्रह्मसूत्र, ३/२/२५

९५ भागवत, २/६/२९

९६ फ्रेंकलीन एडगरटन-द भागवद्गीता, पृ० १५१

९७ गीता, ७/१०

९८ तैत्ति०, ३/१

९९ ब्रह्मसूत्र, १/१/२

१०० सर्वं खल्विदम् ब्रह्म तज्जलानिति। — छान्दोग्य०, ३/१४/१

१०१. फ्रैंकलीन एडगरटन – द भगवद्गीता, पृ० १५२

१०२ गीता, ७/४-५

१०३ उमाशंकर शर्मा — सर्वधर्मसंग्रह, पृ० २३३

१०४ ब्रह्मसूत्र, १/४/१६ पर शांकर भाष्य

१०५ गीता, ९/१७

१०६. गीता, २/४७

१०७. गीता, ७/४-५

१०८ गीता, १३/१

१०९ गीता, १५/१६-१७

११०	गीता, १५/१८

१११	राधाकृष्णन – भगवद्गीता, पृ० २७

११२	गीता, ४/७

११३	अरविन्द – एस्से ऑन द गीता, पृ० १९५

११४	गीता, ४/६

११५	गीता, ७/२५

११६	गीता, ७/४, ५

११७	गीता, पृ० २७९

११८	गीता, पृ० २७९

११९	गीता, पृ० २८२

१२०	गीता, ७/८-११

१२१.	गीता, ७/४

१२२	गीता, ७/५

१२३	श्री अरविन्द – गीता प्रबन्ध, पृ० २७७

१२४	श्री अरविन्द गीता प्रबन्ध, पृ० ४२९

१२५	श्री अरविन्द – गीता प्रबन्ध, पृ० ४३० (पाद टिप्पणी)

१२५	गीता, १३/४

१२६	श्री अरविन्द – गीता प्रबन्ध, पृ० ४३१

१२८	गीता, ९/१०

१२९.	म० भा० शां०, ७३; मनु० १/३०

१३०.	ऋ०, १०/१२१/१

१३१	ऋ० १०/७२; १०/१९०

१३२	ऋ० १०/८२/६; तै० ब्रा०, १/१/३/७; ऐ० उ०, १/१/२

१३३	मनु०, १/८-१३; छां०, ३/१९

१३४.	वेदान्त सूत्र, २/३/१-१५

१३५.	तै० उ०, २/१

१३६.	कठ०, ३/११

१३७	मैत्रायणी, ६/१०

१३८ श्वेताश्वतर, ४/१०; ६/१६

१३९. मूर्धाभुवोभवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायसे प्रातरूद्यन्।
मायाम तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्॥ — ऋ०, १०/८८/६

१४० निरुक्त०, ७/२७

१४१ भ० गी०, ७/१३, १४, १५

१४२ भ० गी०, ७/५

१४३. सा० का०, ६१

१४४. सा० का०, १२; म० भा० अश्व० – अनुगीता ३६ और शा० ३०५

१४५. गीता, १४/१०

१४६ गीता, १८/२०

१४७. गीता, १३/१९-३४

१४८. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता अथवा कर्मयोगशास्त्र, पृ० १५९

१४९. गीता, २/२८; ८/१८

१५०. हेकेल का मूल शब्द (मोनिस्म) है और इस विषय पर उसने स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है।

१५१ गीता, १३/१९

१५२. गीता, ७/१४; १४/३

१५३ गीता, १५/७

१५४ छा०, ६/२/३; तै० २/६

१५५. यथा सोम्टोकेन मृत्पिण्डेन सर्व मृन्यमयं विज्ञातं त्याद् वाचारम्भणं विकाशे नामधेयं मृतिकत्येव सत्यम्। — छा०, ६/१/१४

१५६. यथोर्णनाभिः सृजते गृहणते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथा क्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥ — मु०, १/१/७

१५७. अतो न्यादर्तम्। — बृ० उ०, ३/४/२

१५८. सन्मूला सैम्येमा सर्वा प्रजाः सवयतनाः सत्प्रतिष्ठा। — छा०, ६/८/४
यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्व मृन्मथं विज्ञातं
त्याद् दायारम्भण विकारो नामधेय मृतिकेत्येव सत्मृ। — वही, ६/१/४

१५९. स्वप्न माये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्ट वेदान्तेषु विचक्षणैः॥ — मा० का०, २/३१

१६०. वैतर्थ्य सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।

अन्त स्थानातु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥
अत· स्थानातु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्
तथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ॥ — वही, २१/४

१६१ यस्त्वकारणको भाति स्वभावो विजृम्भते।
सर्वरूपेण सकल्प गन्धर्व नगरादिवस् ॥ — मा० का०, ६/५४/१६

१६२ तस्मात् स्वप्नवादाभासः सविदात्मनि सस्थित.।
मायेय स्वप्नवद्भ्रान्तिर्मिथयारयित चन्क्रिका ॥
मनोराज्य मिवालोलज्ञलिता वर्तसुन्दरी ॥ — वही, ६/१९५/४४, ४१

१६३ काको लूक निशेवायं संसारो ज्ञात्मवेदिनो । — वृ० भा० मा०, १/४/३१३

१६४ चेतन-भिन्न अनात्म, सव, मिथ्या स्वप्न समान ॥ १२ ॥ — विचारसागर, अर्धदोहा, षष्ट तरंग

१६५ विचार-सागर, तरंग ५, दो० १६२-१६६

१६६ वही, तरंग ६, दो० ७

१६७ गी० र०, १२

१६८ मुड०, २/१/३

१६९ वे० सू० शां० भा०, २/४/५/६

१७०. गीता, १३/५

१७१. म० भा० शां०, ३०६/२९; ३१०/१०

१७२. गीता, ७/४-५

१७३. गीता, ७/४

१७४. गीता, १३/५

१७५ श्वेता०, ४/५

१७६. छा०, अध्याय ६

चतुर्थ अध्याय

अनासक्ति योग

(लोक संग्रह , स्थित प्रज्ञ , पुनर्जन्म, सन्यास, कर्म, भक्ति)

अनासक्ति योग
(लोक संग्रह, स्थित प्रज्ञ, पुनर्जन्म, संन्यास, कर्म, भक्ति)

लोक संग्रह

चेष्टाएँ स्वार्थ सिद्धि के लिए नही होती। स्वार्थ से ही सभी प्रकार की विकृतियॉ और विपत्तियॉ उत्पन्न होती है। स्वार्थ से कर्म तुच्छ और बन्धन कारक हो जाते है। बन्धन को तोड़ना और मुक्ति का आनन्द लेना ही मानव का लक्ष्य है, उसी से हम दूसरो की सेवा करे तो वह सेवा लोक हितकारी होगी। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए गीता मे लोक संग्रह का उल्लेख किया गया है।

नैयायिक जयन्त भट्ट ने लोक स्थिति अर्थात् सामाजिक सन्तुलन को परम पुरुषार्थ कहा है। महानिर्वाण तन्त्र मे लोक श्रेय को नैतिक माना गया है। गीता मे व्यावहारिक नैतिकता के स्तर मे लोक संग्रह को यानि सामाजिक कल्याण मे परम पुरुषार्थ माना गया है। गीता की यह स्पष्ट मान्यता है कि आसक्ति रहित होकर लोक संग्रह को ध्यान मे रखकर किये गये कर्म से ही व्यक्ति ससिद्धि प्राप्त करता है।

गीता मे सर्वभूत हित को सर्वोच्च माना गया है— "सर्व भूत हिते रता:" जो व्यक्ति समस्त भूतो के हित मे रत है वे ईश्वर को प्राप्त करते है। सर्वभूत हित के लिए विद्वान् पुरुष को अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए। आसक्ति रहित एव हेतु रहित होकर समस्त भूतो के प्रति अहिंसा, अक्रोध, अद्रोह, करुणा, सत्य सद्भावना, परोपकार आदि धर्मो का पालन दैवी सम्पदा के लक्षण माने गये है। दैवी सम्पदा देव तुल्य पुरुष के गुण या ईश्वरीय गुणो को कहते है जिनके अभ्यास से मनुष्य परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

सामाजिक कल्याण को परम पुरुषार्थ के रूप में मानते हुए गीता मे स्वधर्म के पालन पर बल दिया गया है। गुण और कर्म के आधार पर जो चार प्रकार के वर्णों की स्थापना हुई है उन वर्णो के लिए निर्धारित कर्म करना ही स्वधर्म है। इसे ही सहज कर्म, स्वकर्म, नियत कर्म आदि कहा गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि यहॉ धर्म शब्द कर्म या कर्त्तव्य के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

गीता में स्वधर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है। स्वभाव से नियत कर्म करने वाला मनुष्य पाप को प्राप्त नही होता। गीता का यह आदेश है कि दोष युक्त होने पर भी सहज कर्म को नही त्यागना चाहिए क्योकि जिस प्रकार

धुएँ से अग्नि आवृत्त रहती है। उसी प्रकार सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त है। प्रत्येक कर्म से दोष के आवृत्त होने के बावजूद भी आसक्ति रहित कर्म करने वाला व्यक्ति नैव कर्म सिद्धि को प्राप्त करता है। यदि व्यक्ति स्वधर्म का पालन करने के लिए युद्ध भी करता है तो उसे गीता में क्षत्रिय के लिए कल्याण कारक कहा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि गीता का विचार आधुनिक दार्शनिक ब्रेडले के "मेरा स्थान और उससे सम्बन्धित कर्त्तव्य" की धारणा के समरूप है। ब्रेडले की यह मान्यता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान उसकी मानसिक रुचियों के अनुरूप निर्धारित है। यदि व्यक्ति समाज मे अपने स्थान के अनुरूप कर्त्तव्य का पालन करता है तो वह सामाजिक हित के साथ ही साथ स्वहित भी करता है।

गीता के अनुसार सामाजिक हित के लिए स्वधर्म का पालन व्यक्ति को अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्त्तव्य के पालन के रूप मे करना चाहिए। गीता में स्वीकृत चारो वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) का विभाजन गुण और कर्म के आधार पर किया गया है। प्रत्येक वर्ण के सदस्य को अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्म का फलेच्छा से रहित होकर पालन आवश्यक है। अन्यथा वह कर्त्तव्य च्युत समझा जायेगा। गतिशील सृष्टि चक्र मे यदि एक व्यक्ति भी कर्त्तव्यच्युत होता है तो उसका विपरीत प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टि पर पड़ता है।

इस प्रकार गुण और कर्म के आधार पर विभाजित वर्ण व्यवस्था को स्वीकार कर गीता मे निष्काम भाव से स्वधर्म पालन को आवश्यक माना गया है। श्रीमद्‌भगवद् गीता की यह भी मान्यता है कि स्वकर्म के आचरण मे फलाशा का परित्याग पर कार्यरत पुरुष स्वर्ग नरक न जाकर पवित्र होकर विशुद्ध ज्ञान एव पराभक्ति प्राप्त कर लेता है जिससे उसका परम श्रेय निश्चित है।

स्वधर्म के नियत कर्म को करना साध्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है। कर्मो का निर्धारण उनका विहित यानि सिद्ध होना देश काल कर्म आयु आदि पर निर्भर है। इतना निश्चित है कि फलाशा का परित्याग करके जो व्यक्ति करणीय कर्म करता है वह संन्यासी और योगी है। नियत कर्म का त्याग उचित नही है। समस्त कर्मो का त्याग तो संभव ही नही है। इसलिए जो व्यक्ति कर्म फल का त्याग कर देता है वही त्यागी है।

गीता के अनुसार कर्म के त्याग अर्थात् अकर्म की तुलना मे कर्म श्रेयस्कर है। कर्मों का त्याग सच्चा सन्यास नही कहा जा सकता। इससे व्यक्ति साध्य को प्राप्त नही कर सकता। कर्म न करने से शरीर निर्वाह भी सम्भव नहीं है। इसलिए गीता में शास्त्र विहित कर्म करने नियम कर्म करने, फलाशा से रहित होकर कर्म करने को श्रेष्ठ बतलाया गया है।

वस्तुतः नैकर्म के लिए गीता की मान्यता है कि जो व्यक्ति अहंकार रहित की गयी सम्पूर्ण चेष्टाओ अर्थात् कर्मो मे अकर्म देखे और जो अकर्म में कर्म को वह व्यक्ति ज्ञानी है और वह सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी बन्धन में नहीं पडता।

गीता में विकर्म शब्द का भी प्रयोग किया गया है। विकर्म के दो अर्थ होते हैं– निषिद्ध कर्म और विशेष कर्म। आचार्य विनोबा भावे ने गीता प्रवचन में विकर्म का अर्थ विशेष कर्म ही लिया है। उनके अनुसार कर्म के साथ मन का

मेल होना चाहिए। इस मन के मेल को ही गीता विकर्म कहती है। इस विशेष कर्म (विकर्म) का या इस मानसिक अनुसधान का जब भी योग करेगे तभी उसमे निष्कामता की अनुसंधान का जब भी योग करेंगे तभी उसमे निष्कामता की ज्योति जगेगी। कर्म के साथ जब आन्तरिक भाव का मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। कर्म के साथ विकर्म का मेल होने से निष्कामता आती है। कर्म मे विकर्म सम्मिलित होने से वह अकर्म बन जाता है तथा मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है।, मानो कर्म करके फिर उसे पोंछ दिया गया हो। इस मत को विनोबा भावे गणितीय सूत्र मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

कर +विकर्म = अकर्म। नैष्कर्म की सिद्धि के लिए गीता मे स्थित प्रज्ञ को आवश्यक माना गया है। स्थित प्रज्ञ वही है जिसकी बुद्धि स्थिर है। सामान्य व्यक्ति की बुद्धि विभिन्न इच्छाओं के प्रति आकर्षित होती रहती है। उसकी इन्द्रियाँ अपने विषयो में भटकती रहती है। इसके विपरीत स्थित प्रज्ञ वह है जो सम्पूर्ण कामनाओ को त्याग कर आत्मा तुष्ट रहता है। वह दुःख में मन से उद्विग्न नही होता। सुख के प्रति स्पर्धा नही रखता और राग भाव एवं क्रोध से परे होता है, वह शुभ वस्तुओ की प्राप्ति पर प्रसन्न नही होता और अशुभ वस्तुओ की उपलब्धि पर द्वेष नही रखता।

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है उसी प्रकार स्थित प्रज्ञ अपनी इन्द्रियो को विषयो से समेट कर अपने वश में कर लेता है तथा अपने चित्त को ईश्वर मे लगाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति मन से विषयो का ही चिन्तन करता रहता है उसकी आसक्ति उन विषयो मे हो जाती है। आसक्ति से उन विषयो मे कामना होता है और कामना सिद्धि मे विघ्न पड़ने से क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से मोह अथवा अविवेक उत्पन्न होता है। अविवेक से स्मृति भ्रमित हो जाती है जिससे ज्ञान शक्ति का नाश होता है। ज्ञान शक्ति के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति अपने श्रेय साधन से च्युत हो जाता है। गीता की मान्यता है कि जो व्यक्ति राग द्वेष से रहित होकर इन्द्रियो को पूरी तरह आत्मा के वशीभूत कर विषय भोग करता है वह प्रसाद अर्थात् अन्तःकरण की प्रसन्नता प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति मे उसके समस्त शोक नष्ट हो जाते है और उसकी बुद्धि शीघ्र ही प्रतिष्ठित हो जाती है जिसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नही होती उसकी ईश्वर मे आस्था भी नही होती और जिसे ईश्वर मे आस्था नही होती उसे शान्ति की प्राप्ति भी नही होती। अशान्त व्यक्ति को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है।

जो व्यक्ति मन और इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है वह स्थित प्रज्ञ हो जाता है। उसकी बुद्धि निश्छल रहती है। वह काम तृप्ति के पीछे पागल नही होता। जिस प्रकार विभिन्न नदियों के मिलते रहने पर भी समुद्र शान्त रहता है उसी प्रकार स्थित प्रज्ञ व्यक्ति में सभी भोग बिना विकार उत्पन्न किये हुए समा जाते हैं और वह परम शान्ति को प्राप्त करता है। ऐसा व्यक्ति सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता रहित एवं अहंकार रहित होकर शान्ति को प्राप्त करता है। यह स्थिति ब्राह्मी स्थिति है जब व्यक्ति इस स्थिति में पहुँच जाता है, तब वह मोह ग्रस्त नहीं होता अपितु ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करता है।

यह ब्राह्मी स्थिति परम शान्ति की अवस्था है। इसके बावजूद भी यह स्थिति व्यक्ति को निष्क्रिय नहीं बनाती।

इस अवस्था मे रहते हुए भी व्यक्ति कर्म करता है लेकिन उसका कर्म निष्काम होता है। इस अवस्था मे पहुँचने के लिए समत्व आवश्यक होता है।

गीता मे समत्व का योग कहा गया है। योग का मान्य अर्थ है चित्तवृत्तियो का निरोध। सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि में समान समझने की स्थिति को समत्व कहा गया है और यह समत्व काम ही योग है।

गीता मे कर्मों की की कुशलता को योग कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि समत्व बुद्धि रखने वाला व्यक्ति पुण्य-पाप को त्याग देता है उनमें लिप्त नही होता। इसलिए गीता में समत्व बुद्धि रूप योग के लिए ही चेष्टा करने का उपदेश दिया गया है। समत्व बुद्धि रूप योग ही कर्मो में कुशलता है। इसी से कर्म बन्धन से छुटकारा मिलता है।

ईश्वरार्पण भाव से किये जाने के कारण बन्धन कारक नही होते। स्वार्थ पूर्ति उनका उद्देश्य न होने के कारण उन्हे भी निष्काम कर्म की श्रेणी मे लाया जा सकात है।

गीता का निष्काम कर्म योग तत्कालीन प्रचलित दो आदर्श-निवृत्ति और प्रवृत्ति के बीच समन्वय प्रस्तुत करता है। समस्त कर्मो से सन्यास लेना और समाज से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना निवृत्ति का आदर्श है। प्रवृत्ति का आदेश समाज मे रहते हुए कर्म करना है। गीता इन दोनों के बीच निष्काम कर्मयोग के माध्यम से समन्वय लाती है। कर्मफल के प्रति अनासक्ति या त्याग निवृत्ति का प्रतीक है और लोकहित को ध्यान मे रखकर कर्म करते रहना प्रवृत्ति का द्योतक है। गीता का यह उपदेश कर्म से सन्यास को स्वीकार नही करता, फिर भी कर्म फल के त्याग का विचार देकर त्याग की भावना को सुरक्षित रखता है। इस सन्दर्भ में हिरियन्ना की मान्यता है कि गीता का उद्देश्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के आदर्शो की जिन्हे हम क्रमश: कर्म और ध्यान का आदर्श कह सकते हैं अच्छाइयो को बनाये रखते हुए दोनो के बीच का स्वर्णिम मार्ग खोज निकालना है। कर्म योग ही यह मध्यम मार्ग है।

भारतीय वाङ्मय मे गीता का अद्वितीय स्थान है। इसकी महत्ता इस तथ्य में सन्निहित है कि इससे अपने समय के प्रचलित सभी विरोधी विचारों को आत्मसात् करके उनका एक समन्वित रूप प्रस्तुत किया है लेकिन विवाद इसके महत्व को बढा देते है।

गीता को दर्शन, धर्म और नीति शास्त्र का अनन्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। विलियम हम्बोल्ट के अनुसार— यह सबसे अधिक सुन्दर और यथार्थ अर्थों में सम्भवत: एक मात्र दार्शनिक गीता है जो किसी ज्ञात भाषा मे लिखा गया है।

गीता की महत्ता प्रतिदिन के जीवन मे इसकी व्यावहारिक उपादेयता से सिद्ध होती है। इसका उपदेश प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी सार्थकता रखता है। जो व्यावृत्ति गीता के प्रति आस्था रखते हुए उसे जीवन मे उतारता है, वह कभी निराश नही होता। उसका मोह नष्ट हो जाता है और वह जीवन में संघर्ष विजयी होता है।

गीता का उपदेश सार्वभौमिक है। लोक संग्रह का विचार उसकी सार्वभौमिकता को सिद्ध करता है। ज्ञान और भक्ति से युक्त निष्काम कर्म व्यावृत्ति को स्वार्थ से परार्थ की ओर अग्रसर करता है। ऐसा व्यावृत्ति स्व और पर में कोई

अन्तर नही मानता उसमे सामाजिकता का भाव आध्यात्मिकता का रूप ले लेता है ।

निष्काम कर्म का सन्देश हमारे आवेगो का आध्यात्मीकरण कर देता है जो आवेग व्यावृत्ति को हीन आत्मा के धरातल पर प्रस्तुत करते है उनके नियन्त्रण एव जिनसे व्यक्ति उच्च आत्मा के धरातल पर पहुँचता है उसके उन्नयन का विचार गीता मे स्पष्ट झलकता है ।

गीता की मान्यताये मनोवैज्ञानिक आधार पर रखती है । ज्ञान भक्ति और कर्म क्रमशः ज्ञानात्मक, भावात्मक और इच्छात्मक मानसिक क्रियाओं से सम्बद्ध हैं । गीता में जिस वर्णावस्था का वर्णन है वह भी मूलत: गुण और कर्म के आधार पर है । सत्व, रजस और तमस विभिन्न मनोवैज्ञानिक स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ है । मनोवेगो और संवेगो के संयमन के सम्बन्ध मे गीता के विचार उसकी मनोवैज्ञानिकता की व्यावृत्ति करते है । काण्ट की भाँति गीता में भी कर्त्तव्य के विचार को स्वीकार किया गया है । लेकिन काण्ट के अनुसार गीता संन्यासवाद या कठोरतावाद मे विश्वास नही रखती । गीता को यदि किसी नैतिक सिद्धान्त की श्रेणी मे रखने की चेष्टा की जाय तो इसे पूर्णतावाद की श्रेणी मे रखा जा सकता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि लोक सग्रह का समस्त गीता दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

स्थित प्रज्ञ

गीता मे नैतिक शिक्षा और आध्यात्म विद्या की अक्षय निधि विद्यमान है । उसमें नैतिक लक्षणो से युक्त जिस आदर्श पुरुष की कल्पना की गई है, वह है स्थित-प्रज्ञा, भगवद भक्त या गुणातीत । स्थित प्रज्ञ का अर्थ है, जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो, अर्थात् जो दु:ख-सुख क्लेष-आनन्द, ईर्ष्या-द्वेष आदि द्वन्दो से सम बुद्धि रखता हो । जो मन के द्वन्द्वो और अस्थिरताओं से प्रभावित न होता हो । वही पुरुष स्थित प्रज्ञ है । श्रीकृष्ण अर्जुन को स्थित प्रज्ञ का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि– 'हे अर्जुन जब मनुष्य अपने मन की सम्पूर्ण इच्छाओं का परित्याग कर देता है और अपनी आत्मा में आत्मानन्द द्वारा सन्तुष्ट रहता है, तो उसे स्थित प्रज्ञ कहते हैं ।[१]

'गीता भाष्य' मे शंकराचार्य ने इसको इस प्रकार कहा है— 'जब मनुष्य मन में स्थित, हृदय मे प्रविष्ट, सम्पूर्ण कामनाओ को, सारे इच्छा भेदों को भली प्रकार त्याग देता है अर्थात् पुत्र धन और लोभ की समस्त तृष्णाओ को त्याग देता है, तब वह आत्मा राम, आत्म क्रीड़ और स्थित प्रज्ञ कहलाता है ।[२]

इसके प्रश्चात् श्रीकृष्ण ने कहा है कि– 'जो खिन्न नही होता, सुख की प्राप्ति होने पर जिसकी सुखोपभोग की इच्छा बढ़ती नही, जिसकी प्रीति, भय और क्रोध नष्ट हुए है जो स्नेह विरहित रहता है, शुभ-अशुभ प्राप्त होने पर आनन्द अथवा दु:ख नही करता, उसको स्थित प्रज्ञ कहते हैं ।[३]

जब ज्ञान निष्ठा मे स्थित हुआ सन्यासी कछुए के अंगों की भाँति सम्पूर्ण विषयों से इन्द्रियो को खीच लेता है तो उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित अर्थात् स्थिर हो जाती है । वह केवल विषयाशक्ति से ही नही उसके राग से भी मुक्त हो जाता है ।[४]

इन्द्रिय दमन का प्रयत्न करते हुए अनिरुद्ध इन्द्रियाँ विद्वान् पुरुषों का मन बलात्कार से हर लेती हैं । उन सब

इन्द्रियो को स्वाधीन रखकर योगी को युक्त और सत्य परायण होना चाहिए, क्योकि जिसकी इन्द्रिय अपने वश मे है, उसकी बुद्धि स्थिर है ।[५]

गीता के दूसरे अध्याय मे स्थित प्रज्ञ के जो लक्षण दिए है, उनका १४वे अध्याय के गुणातीत लक्षणो से तथा १२वे अध्याय के भगवद भक्त के लक्षणो से बहुत कुछ साम्य है । किं बहुना ! स्थित प्रज्ञ, गुणातीत और भगवद् भक्त यह तीनो समान कोटि के समान योग्यता वाले ज्ञाननिष्ठ योगी है । गीता के १३वे अध्याय के ७-११ श्लोक मे ज्ञानी के लक्षण दिए गए है उन लक्षणों से युक्त ज्ञानी को भी स्थित प्रज्ञ कह सकते है । गीता के स्थित प्रज्ञ, त्रिगुणातीत और भगवद् भक्त तथा दास बोध के उत्तम पुरुष, सिद्ध, निस्पृह और महापुरुष, ये सब एक ही उच्च कोटि के संसार मे रहकर संसार से निराला आचरण करने वाले, स्वयं उत्तीर्ण होकर लोगों को पार लगाने वाले महान योगी है । ग्रीक दार्शनिको ने जिनका दर्शन किया है, वे पूर्ण मनुष्य भी इसी उच्च कोटि के हैं । प्लेटो ने भी तत्व ज्ञानी पुरुष को आदर्श मानकर कहा है कि जो कार्य उसे उचित लगे वही शुभ और न्याय है । सर्वसाधारण मनुष्य क्योकि अज्ञानी होते है, इसलिए उन्हे तत्वज्ञ पुरुष के निर्णय को प्रमाण मान लेना चाहिए । अरस्तू ने भी कहा है कि ज्ञानी पुरुष का निर्णय और व्यवहार ही प्रमाण है ।

स्थित प्रज्ञावस्था या जीवन्मुक्तावस्था कितनी ही दुष्प्राप्य क्यो न हो, पर जिस पुरुष को यह परमावधि की सिद्धि एक बार प्राप्त हो जाये उसे उचित अनुचित के नियम बताने की आवश्यकता नही है ।[६] क्योकि परमावधि की शुद्ध सम और पवित्र बुद्धि ही नीति का सर्वस्व है । इस कारण ऐसे स्थित प्रज्ञ पुरुषो के लिए नीति नियमो का उपयोग करना मानो स्व प्रकाशित सूर्य के समीप अन्धकार होने की कल्पना करके उसे मशाल दिखाने के समान है । किसी एकाध पुरुष के इस पूर्व अवस्था में पहुॅचने या न पहुॅचने के सम्बन्ध में शंका हो सकेगी परन्तु किसी भी रीति मे एक बार निश्चय हो जाये कि कोई पुरुष इस पूर्ण अवस्था में पहुॅच गया है, तब उसके पाप पुण्य के सम्बन्ध में अध्यात्म शास्त्र के उल्लिखित व्रत सिद्धान्त को छोड़कर और कोई कल्पना ही नही की जा सकती ।

श्री शंकराचार्य ने कहा है कि 'निस्त्रगुण्ये, पथि विचरतां को विधि: को निषेध:' जो पुरुष त्रिगुणातीत हो गए, उनको विधि, निषेध रूपी नियम बॉध नही सकते । बौद्ध लेखको ने भी लिखा है कि— 'जिस प्रकार उत्तम हीरे को घिसना नही पड़ता, उसी प्रकार जो निर्वाण पद का अधिकारी हो गया, उसके कार्य को विधि-नियमों की बाधा नही होती । कौसीत्की उपनिषद् मे इन्द्र ने प्रतर्दन मे कहा है कि आत्मज्ञानी पुरुष को मातृ हत्या, पितृ हत्या, भ्रूण हत्या, आदि पाप भी नही लगते । गीता में वर्णन है कि अहंकार बुद्धि से सर्वथा विमुख पुरुष यदि हत्या भी करे तो भी वह पाप पुण्य से सर्वथा अछूता ही रहता है ।[७] 'न्यू तेस्तामेंट' मे पाल ने भी कहा है कि मुझे सभी बातें एक ही समान धर्ममय है ।[८]

नियमो से परे होने का अर्थ यह नहीं कि स्थित प्रज्ञ को भला बुरा करने की मनमानी छूट दे दी गई है । वास्तविकता यह है कि जिस पुरुष ने ब्रह्मनिष्ठा को पा लिया है उससे कोई अनीति होने की सम्भावना ही नहीं है, क्योकि उसकी बुद्धि पूर्ण शुद्ध और सम रहती है ।

सृष्टि कर्ता परमेश्वर सब कर्म करने पर भी जिस प्रकार पाप पुण्य से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार इन ब्रह्मभूत साधु-पुरुषो की स्थिति सदैव पवित्र और निष्पाप रहती है । स्वेच्छया से किए गए इनके व्यवहारो से ही आगे चलकर विधि नियमो के निर्बन्ध बन जाते हैं । इसी से उन्हे नैतिक नियमो का जनक कहा गया है ।

स्थित प्रज्ञ जो व्यवहार करता है, वह प्राय: सब लोगो के हित मे ही होता है । गीता मे २ बार कहा गया है कि परम ज्ञानी सत्पुरुष प्राणी मात्र के कल्याण मे निमग्न रहते है । अधिकाश लोगो के कल्याण वाला नीतिशास्त्र केवल वाह्य कर्म के लिए उपयुक्त होने के कारण संकुचित दृष्टि वाला है, किन्तु प्राणि मात्र में एक आत्मा वाली स्थित प्रज्ञ की 'साम्य बुद्धि' मूल ग्राही है । इसी को नीति निर्णय मे श्रेष्ठ मानना चाहिए ।

निष्कर्ष यह है कि गीता के निर्द्वन्द्व, शान्त, आत्मनिष्ठ आहूत काम और स्थित प्रज्ञ अध्यात्म मार्गी कर्मयोगी को ही नैतिक निर्णय का मापदण्ड मानकर धर्माधर्म कर्तव्य कर्म, विधि, निषेध, शुभाशुभ आदि का निर्धारण करना चाहिए । स्थित प्रज्ञ हमारे नैतिक आचरण का मानदण्ड ही नही, लक्ष्य भी होना चाहिए । हमे प्राणिमात्र के प्रति निर्वैरता, प्रेम और दया का भाव रखना चाहिए ।

गीता के विभिन्न भाष्यकर अपने-अपने मतानुसार गीता मे वर्णित आदर्श पुरुष को कर्मयोगी (तिलक) पूर्णज्ञानी (शकर) और पूर्ण भक्त (रामानुज) जानते है । वास्तव मे तीनों मे कुछ भी भेद नही है । ज्ञान कर्म और भक्ति को लेकर तीन प्रकार से एक ही बात कही गई है ।

स्थित प्रज्ञ मे कर्म ज्ञान और भक्ति का अनूठा समन्वय है । वह एक समन्वित, सर्वागपूर्ण व्यक्तित्व है । वह न तो मात्र कर्मयोगी है, न मात्र ज्ञान योगी है, न मात्र ध्यान योगी है और न मात्र भक्ति योगी है । वह यह सब कुछ है गीता की भाषा मे हम उसे समत्व योगी कह सकते हैं, क्योंकि उसके व्यक्तित्व मे जीवन के सभी मूल्यो और आदर्शो का समत्व उपलब्ध होता है ।

स्थित प्रज्ञ सिद्धान्त का श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में विशेष महत्व है । इसके पूर्व इसका प्रयोग अन्य ग्रन्थो मे नही मिलता । वेद और उपनिषद मे स्थित प्रज्ञ अवधारणा का नितान्त अभाव पाया जाता है । यद्यपि गीता उपनिषदो का सारांश है पर उपनिषदो के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ गीता में अनेक नवीन अवधारणाओ का समावेश किया गया है । उदाहरण के लिए पुरुषोत्तम की अवधारणा तथा स्थित प्रज्ञ की अवधारणा विभिन्न समस्याओं पर अपनाया गया, गीता का मौलिक योगदान है । जिस प्रकार पुरुषोत्तम की अवधारणा में सगुण और निर्गुण सत् भावो का समन्वय किया गया है । उसी प्रकार स्थित प्रज्ञ मे तीनो योगो से सम्बन्धित विशेषतओ को एक ही आदर्श पुरुष के सम्बन्ध में स्थापित किया गया है ।

स्पष्ट है कि स्थित प्रज्ञ मानवीय सत्य का आदर्श है स्थित प्रज्ञ व्यक्ति एक ही साथ आसक्त कर्मयोगी भक्त एवं ज्ञानी तीनों ही है । यद्यपि स्थित प्रज्ञ की अवधारणा का विवेचन अत्यन्त सीमित श्लोकों में किया गया है पर आदर्श के रूप में इसका महत्त्व सर्वोपरि है ।

गीता मे मनुष्य के आदर्श का विवेचन करते समय उसके सम्बन्ध में तीन मुख्य प्रश्न उठाये गये है और तीनो अवधारणाओ मे भेद करते हुए स्थित प्रज्ञ के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है, ये तीनो प्रश्न इस प्रकार है—

(i) मनुष्य के आदर्श रूप के लक्षण क्या है ? (ii) समाधि क्या है ? (iii) स्थित प्रज्ञ का स्वरूप क्या है ? प्राय यह समझा जाता है कि स्थित प्रज्ञ स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति है। स्थिर बुद्धि होने की आध्यात्मिक स्थित की एक अवस्था है या इसे स्थित प्रज्ञ से भिन्न मानना भी उचित है। इसका कारण यह है कि बुद्धि और प्रज्ञा में अन्तर है, बुद्धि का सम्बन्ध साधारण विषयो से होता है बुद्धि ज्ञान तथा अज्ञान दोनो से सम्बन्धित रहती है यही कारण है कि बुद्धि के स्थिर हो जाने पर भी ज्ञान के पूर्ण योग की अवस्था नही हो पाती। जब बुद्धि पूर्णतः सात्विक हो जाती है, रज और तम से मुक्त हो जाती है तो उसका स्वरूप प्रज्ञा का हो जाता है और प्रज्ञा मे स्थित रहना ही स्थित प्रज्ञ है।

स्पष्ट है कि स्थित प्रज्ञ अज्ञान से प्रभावित नही होता है उसे ज्ञान योग की पूर्णता प्राप्त हो जाती है। समाधिस्थ अवस्था ध्यान से उत्पन्न होती है ध्यान लगाने पर भी सभी वाह्य विषयो से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है किन्तु समाधिस्थ पुरुष समाधि के समाप्त होने पर पुनः व्यावहारिक सम्बन्धों मे पड़ जाता है। समाधि की अवस्था मे भी केवल लय होता है और आलय की अवस्था में विभिन्न विषयो के बीज शेष रह जाते हैं किन्तु स्थित प्रज्ञ की अवस्था व्यावहारिक जीवन के साथ ही समाधि अवस्था है। इसे जागृत अवस्था की समाधि कहा जा सकता है। इस अवस्था मे मनुष्य व्यावहारिक जीवन जीता है किन्तु ईश्वर से निरन्तर सम्बन्ध होने के कारण समाधिस्थ व्यवहार सांसारिक भोगो से प्रभावित होता है और न ही अपने कर्त्तव्य पालन को छोड़ता है किन्तु स्थित प्रज्ञ व्यक्ति अनास्थित रूप से लोक कल्याण के लिए सभी कर्त्तव्यो का पालन करता है। इस प्रकार स्थित प्रज्ञ, समाधिस्थ का पालन करता है। इस प्रकार स्थित प्रज्ञ, समाधिस्थ और सामान्य व्यक्ति इन दोनों से उच्चतर है।

स्थित प्रज्ञ के सम्प्रत्यय का विश्लेषण करने पर उससे सम्बन्धित अनेक विशेषताओ का ज्ञान होता है। स्थित प्रज्ञ व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी वासनाओं और कामनाओ पर ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वासनाये दो प्रकार की होती है— शुद्ध और मलिन। शुद्ध वासनायें सत्व गुण से प्रभावित है और मलिन वासनाये तमो व रजोगुण से प्रभावित है। सर्वप्रथम शुद्ध वासनाओ के आधार पर मलिन वासनाओं पर नियन्त्रण किया जाता है जिससे मलिन वासनाये समाप्त हो जाती है। स्थित प्रज्ञ के द्वारा सभी कामनाओ और वासनाओ का अन्त हो जाता है किन्तु स्थित प्रज्ञ किसी कामना या वासना से प्रभावित नही होता है।

उपरोक्त अवस्थाओं की प्राप्ति हेतु इन्द्रियो पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। सांख्य के समान गीता में भी ११ इन्द्रियो (५ कमेन्द्रियाँ, ५ ज्ञानेन्द्रियॉ और १ मन) मानी गयी हैं। मन के द्वारा ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो को सयमित किया जाता है और फिर मन भी शुद्ध अव्यक्त द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। इस प्रकार स्थित प्रज्ञ की तुलना बुद्ध से की जाती है। जिस प्रकार बुद्ध अपने अंगों को अपने भीतर समेट लेता है उसी प्रकार स्थित प्रज्ञ अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने अन्तः मन में समेट लेता है स्थित प्रज्ञ बुरी तरह काम, क्रोध, लोभ, मोह को अपने वश में कर लेता है।

वास्तव मे इन इन्द्रियों को नियत्रित कर लेने के बाद विषयो मे भोग की इच्छा समाप्त हो जाती है। काम के समाप्त हो जाने पर क्रोध व लोभ स्वत: समाप्त हो जाते है, इसकी उत्पत्ति काम से ही होती है।

स्थित प्रज्ञ सभी परिस्थितियो मे सम बनाये रखता है। न वह आपत्तियो से दु:खी होता है और न सुख के होने पर सदैव उनकी लालसा करता है, उसके लिए दु:ख और सुख समान है और इस प्रकार हानि-लाभ का उसके लिए कोई प्रभाव नही पडता है। स्थित प्रज्ञ सभी व्यक्तियों व वस्तुओ के प्रति समानता का व्यवहार करता है उसके लिए शत्रुता व मित्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

स्थित प्रज्ञ की इन विशेषताओ का आधार ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति है उसे सर्वत्र आत्मा एवं ईश्वर का ही दर्शन होता है इसकी वस्तुएँ ईश्वर में निहित है और ईश्वर सभी वस्तुओं मे निहित रहता है। इस प्रकार स्थित प्रज्ञ निरन्तर परमात्मा मे ही ध्यान रखता है।

पुनर्जन्म— कर्म फल भोग की सम्भावनायें क्या है ? प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ फल धनात्मक या निषेधात्मक अवश्य होता है। किन्तु यदि किसी कर्म का पुल प्राप्त नही होता तो इसका कारण यह है कि फल की प्राप्ति मे कोई अन्य शक्ति प्रतिबन्धक है। प्रतिबन्धक शक्ति के सम्बन्ध मे यह स्वीकार किया जा सकता है कि उसके कारण वर्तमान समय मे फल प्राप्त नही हो सकेगा तब कर्मफल भोग कैसे सम्भव है। अत: स्थूल रूप से पुनर्जन्म धारणा का जन्म हुआ। ऋग्वेद मे पुनर्जन्म का रूप अविकसित अवस्था मे था।[९] मनुष्य मृत्यु के पश्चात् या तो 'पूर्वजो' के ससार को अथवा 'मृण्मयगृह' को जाया करते थे। जहाँ वे अनिश्चित काल तक रहते थे, किन्तु एक पश्चात्कालिक मंत्र से सांकेतिक भाषा मे निर्देश किया गया है कि, वे जल मे जा सकते थे अथवा वनस्पतियो में रह सकते थे। (स्थूल रूप में) यह पुनर्जन्म की ओर संकेत है जिस पर अनेक आदिम जातियो का विश्वास था और जिसके अनुसार मृतको की आत्माये मनुष्य रूप मे जन्म-ग्रहण करने से पूर्व पशु-पादप अथवा किसी प्राकृतिक पदार्थ का रूप धारण कर सकती थी।[१०]

ऋग्वैदिक पुनर्जन्म सम्बन्धी धारणा का विवेचन करने के लिए राना डे ने कुछ मंत्रों का आश्रय लिया है। वे लिखते है[११] कि यह सत्य है कि ऋग्वेद में स्पष्टत: पुनर्जन्म की कल्पना का प्रसंग नहीं प्राप्त होता। आर्यों की आमोद-प्रमोदशील प्रवृत्ति के कारण मरणोत्तर-जीवन के विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार करना उनके लिये एक प्रकार से असम्भव सा था। देवलोक एवं पितृलोक में विश्वास रखने के साथ उन्हे अन्य किसी मे विश्वास रखने की चिन्ता नही थी। उनके लिये यह ज्ञात कर लेना पर्याप्त था कि दिव्य पुरुष उस स्वर्ग को जाते हैं, जिसमे मधु की प्रचुरता है।[१२] तथा साधारण पुरुष यम लोक में जाते है जहॉ यमराज अपने चारो ओर मनुष्यो के दल एकत्र कर बैठते है। यह लोग भी अस्पृहणीय नही, जहॉ जाने से ऐसा प्रतीत होता है, कोई भी वंचित नही किया जा सकता।[१३] यह स्वीकार कर लेने पर भी कि पुनर्जन्म की कल्पना ऋग्वेद मे प्रमुख नही है, इस तथ्य को नकारा नही जा सकता कि उसके अनेक स्थलो मे पुनर्जन्म की कल्पना तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। इस कल्पना का प्रथम चरण जगत् की समस्त वस्तुओं को सजीव मानना है। एक मंत्र में ऋषि ने मृत पुरुष की ऑख को पुन: सूर्य में विलीन हो जाने का आदेश दिया है जो

ब्रह्माण्ड मे इसका सागंतिक तत्व है, प्राण को वायु मे, जो उसका सागतिक विश्वरूप है तथा आत्मा को अपने धर्मानुकूल स्वर्ग या पृथ्वीलोक मे जाने का आदेश दिया गया है।[१४]

यद्यपि इस मंत्र मे पुनर्जन्म के यथेष्ट-भाव का ग्रहण नही हो सकता है फिर भी वस्तु प्राणवाद की ओर इसका सकेत स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। लेकिन इसका 'धर्म' शब्द महत्वपूर्ण है। इसमे कर्म-सिद्धांत का प्राचीनतम स्वरूप मिलता है। विशेषकर जब कि आत्मा को अपने धर्मानुसार स्वर्ग या संसार मे जाने का आदेश दिया है किन्तु इसी मण्डल से एक अन्य मत्र मे इससे भी अधिक निश्चित अवतरण मिलता है जहॉ वस्तु प्राणवाद का प्रतिपादन और भी दृढता से किया गया है। मंत्र में नियुक्त आत्मा का पुन: जीवन धारण के लिये आह्वान किया गया है।[१५] इस सूक्त के समस्त मंत्र वस्तु प्राणवाद के वातावरण से ओत प्रोत है और यह अनुभव किया जा सकता है कि आत्मा मृत्योपरान्त पूर्णत: नष्ट नही होती वरन् पच महाभूतों मे मिल जाती है।[१६]

यज्ञ और कर्म नियम

मृत्यु के पश्चात् क्या होता है? इस प्रश्न पर दिये हुए तथ्य के रूप मे विचार नही किया जा सकता। इसकी सम्भावना कर्म के स्वरूप पर आधारित है। इसके साथ यह प्रश्न संसार के स्वरूप की व्याख्या एव आत्मा के शरीरान्तरण की सम्भावना की ओर ले जाता है। जिस प्रकार वृक्ष का बीज अपने अन्तर मे एक सम्पूर्ण नवीन वृक्ष का वहन करता है उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् मनुष्य के कर्म अंकुर के रूप मे जीवित रहते है।[१७] ऋग्वेद मे, कर्मफल प्राप्ति की ओर सकेत किया गया है यद्यपि यह विकसित नही है, जिसमें कि नैतिकता सम्बन्धी बीज को भी देखा जा सकता है। यहॉ यज्ञ 'इष्ट' ओर पुरोहित को प्राप्त होने वाला दान या देवताओं द्वारा दिया गया उपहार 'पूर्व' नाम से वर्णित है।[१८] कालान्तर में इन दोनो शब्दों को संयुक्ताक्षर बना दिया गया और 'हष्टापूत' को संचित फल के रूप मे समझा जाने लगा। मृत्यु के पश्चात् भी यह फल— (फल का प्रभाव) सुरक्षित रहता है[१९] जिसका समयानुसार उपयोग किया जा सकता है, इस धारणा ने जन्म लिया।'हष्टापूत' का यह नियम कर्मवाद के बीज के रूप मे विकसित हुआ[२०] और फिर इसका सम्बन्ध केवल यज्ञ द्वारा उत्पन्न फल या यज्ञ द्वारा प्राप्त होने वाले फल से ही नहीं रह गया, वरन् उसने मनुष्य के प्रत्येक क्रिया-कलापों को आवृत्त कर लिया[२१] इसमें सबसे बड़ा परिवर्तन उस समय हुआ जब कर्मफल के इस अविकसित विचार के साथ 'कर्मचक्र और पुनर्जन्म' का सिद्धान्त जुड़ गया।

गीता के पुनर्जन्म की वेद के पुनर्जन्म से तुलना

'पुनर्जन्म' की भावना के उदय के साथ-साथ अमरत्व प्राप्त करने की आकाक्षा भी उदित हो रही थी। अमरत्व किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं। वैदिक ऋषि इसके लिए यज्ञ परम्परा पर आश्रित थे। औपनिषदिक नित्य कूटस्थ आत्मा के विचार का पूर्णत: विकास नही हो सकता था। शुभ कर्मों के आधार पर अमरत्व प्राप्त करने की आशा व्यक्त की जाती थी। इसके साथ ही यह धारणा भी विकसित हो रही थी कि अशीररत्व भाव से अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है। अग्निचयन को अमृत्व प्रदाता माना गया। शतपथ ब्राह्मण में यह वर्णन मिलता है कि प्रजापति के आदेशानुसार अग्निचयन

का कार्य विधिवत सम्पन्न करने से देवगण अमर हो गये। लेकिन अग्नि चयन मे कौन सा ऐसा तत्व है जिससे यजमान बार-बार की मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। अग्निचयन का कर्म प्रतीकात्मक है। अग्निचयन के लिए चुनी जाने वाली ईटे वर्ष के दिन और मानव शरीर की अस्थियो की संख्या एक है जो प्रति प्रतीक का एक-दूसरा रूप है। जो, कुछ सृष्टि मे हो रहा है यज्ञ द्वारा किया जाता है। इसके दो लाभ है एक तो याज्ञिक को सृष्टि-नियम का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। दूसरे सृष्टि नियम को यह यज्ञ सहायता पहुँचाता है।[२२] यह आदि विराट् पुरुष के शरीर-विच्छेद के समान ब्रह्माण्ड रचना का (ऋग्वेद मे पूर्वत: प्राप्त विचार को), कर्मकाण्ड द्वारा साकार करने का एक पुरोहितीय प्रयास है, जो अपनी इच्छा पूर्ति के लिए (ब्रह्माण्ड की प्रतीक) अग्निवेदि की रचना तथा सदैव आवृत रहने वाला सृष्टि सम्बन्धी यज्ञ, की अपेक्षा रखता है। इसलिये इसे ब्राह्मणों के यज्ञ-सिद्धात की महत्वपूर्ण व्याख्या समझा जाता है।[२३]

अग्निचयन का फल क्या है ? इस कर्म का सम्पादन किसलिए अपेक्षित है ? शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि 'अग्निचयन कर्ता अग्नि-देव-स्वरूप का हो जाता है। अग्नि ही अमृत है। दिव्य गुण वाले पदार्थ इसकी विभूतियाँ हैं। वह विभूतिवाला हो जाता है।[२४] जो व्यक्ति विद्या तथा पवित्र कर्मो द्वारा अमर होना चाहता है वह इस शरीर के नाश के पश्चात अमर हो जायेगा। जो इस अग्नि चयन को जानते है या जो इस कर्म को सम्पन्न करते है मृत्योपरान्त एक बार और जन्म प्राप्त करने के उपरान्त अमर-जीवन प्राप्त करते है किन्तु जो इसे सम्पन्न नही करते, मरने पर पुर्नजीवन प्राप्त करते है और बार-बार मृत्यु का भोजन बनते है।[२५] तैत्तिरीय संहिता के अनुसार यज्ञ विशेष का अनुष्ठान कर मनुष्य जीवितावस्था में स्वर्ग पहुँच जाता है।[२६] स्वर्गीय सुख सबसे अधिक उन्हें प्राप्त होता है जो एकाग्रता के साथ यज्ञ करते है। वे स्वर्ग मे निवास करते हैं, द्युलोक मे उच्चस्थान एवं हिरण्य के अधिकारी होते है।[२७] स्वर्ग मे पुनीत व्यक्तियो के लिये सुमधुर संगीत, घृत, सोम, सुरा के स्रोत प्रस्तावित होते रहते हैं।[२८]

शतपथ ब्राह्मण में[२९] आत्मा का अस्तित्व और पुनर्जन्म स्वीकार किया गया है। तैंत्तरीय ब्राह्मण में नचिकेता की कथा है जो कठोपनिषद् के समान है। इस संदर्भ मे नचिकेता का तीसरा वरदान कठोपनिषद् से भिन्न है। यह तीसरा वरदान है– मैं पुर्नमृत्यु को किस प्रकार दूर करूँ, इसकी घोषणा मुझसे करो।[३०] मृत्यु ने नचिकेता को अग्नि का उपदेश दिया, जिससे नचिकेता पुर्नमृत्यु को दूर कर सका।

शतपथ ब्राह्मण यह भी प्रतिपादित करता है कि मनुष्य की इच्छा (और उसी के अनुरूप कार्य) पर यह निर्भर है कि उसे मृत्योपरान्त कौन सा लोक प्राप्त होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुकूल-निर्मित लोक मे जन्म ग्रहण करता है। जो देवताओ के लिए यज्ञ करता है वह इस लोक को प्राप्त नही करता है। यकर्त्ता अपने शरीर से उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त करता है जिस प्रकार सर्प अपने केचुल से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[३१]

ब्राह्मण ग्रन्थो मे समस्त शुभ कर्मों का फल स्वर्ग कहा गया है। जो मनुष्य पुण्य कर्म करने वाले है वे स्वर्ग लोक को जाते हैं। स्वर्ग लोक यज्ञ-तप आदि से प्राप्त होता है। जैसा कि कहा गया है देवों ने यज्ञ से, श्रम से, तप से और आहुतियाँ देकर स्वर्ग प्राप्त किया है।[३२] इस जन्म के पुण्य कर्मो के श्रेष्ठ फल अगले जन्म में ही विशेष सुख के

रूप मे प्राप्त होते है। अनेक पदार्थ भी स्वर्गलोक के नाम से पुकारे जाते है, जिनका भाव यह हो सकता है कि सुख विशेष का नाम ही स्वर्ग है। वह इस पृथ्वी पर या ईश्वर की अनन्त सृष्टि मे से किसी अन्य लोक मे भोगा जाये। उस लोक का स्वरूप इसी प्रकार का होगा। सम्भवत: वहॉ दुख की मात्रा कुछ कम हो।[३३] इस प्रकार ससरण (आवागमन चक्र) की भावना (आंशिक रूप से) विद्यमान थी, और मुक्ति का उपाय था 'कर्म— विशेषत: यज्ञ कर्म'।

उपनिषद् काल मे सुख से ऊपर भी अधिक श्रेष्ठ 'आनन्द'लोक'[३४] की स्थापना की चेष्टा होने लगी थी। यह चेष्टा भौतिकवादिता से आगे बढ़कर आध्यात्मिकता की ओर प्रगति थी। वेदो और ब्राह्मणो मे पुर्नजन्म के विकास के कुछ रहस्यात्मक सकेत है। जिनका कुछ स्पष्ट विकास उपनिषदों में हुआ है। यह बताने के पश्चात् कि मृत्योपरान्त मानव शरीर के समस्त भाग अनेक शक्तियो मे समाहित हो जाते हैं। (मनुष्य के नेत्र में, श्वासवायु मे, अग्नि मे वाणी, चन्द्रमा मे मन, दिशाओं मे कान, स्थूल शरीर मिट्टी में, आत्मा आकाश में, केश पेड़-पौधो में समाहित हो जाते हैं।)[३५] याज्ञवल्क्य से पूछा जाता है कि व्यक्ति का तब क्या बचा रहता है वे प्रश्नकर्ता को एकान्त में ले जाते हैं और उससे गुप्त रूप से विचार विमर्श करते है। वस्तुत: मनुष्य शुभ कर्मो से पुण्यवान और अशुभ कर्मो से पापी होता है। उन्होने कहा, वह केवल कर्म था, उन्होने जिसकी प्रशसा की वह कर्म ही है।

कर्म का स्वरूप और उसकी नैतिक दृष्टि यह थी कि मनुष्य जैसा कर्म या आचरण करता है वैसा ही होगा। शुभ कर्मों से अच्छा जन्म प्राप्त होगा दुष्कर्मों से बुरा जन्म पायेगा। पुण्य कर्म से मनुष्य पवित्र होता है, दुष्कर्म से अपवित्र। 'मनुष्य काममय है, उसकी जैसी कामना होती है वैसी ही उसकी इच्छा शक्ति, उसकी जैसी इच्छा होगी वैसी ही उसका कर्म होगा। जिस प्रकार का वह कर्म करता है उसी प्रकार का[३६] वह फल प्राप्त करेगा। इस विषय के सम्बन्ध मे कहा गया है कि जिसके साथ मनुष्य का मन एवं सूक्ष्म देह संलग्न रहता है, उसी के पास वह अपने कर्म फल के साथ जाता है। जो कुछ कर्म वह इस लोक में करता है उसका फल प्राप्त करने के उपरान्त वह पुन: इस लोक से (जहॉ वह फल प्राप्ति के कारण कुछ काल के लिये गया था) कर्मजगत् मे आ जाता है। यह कथन उस व्यक्ति के लिये है जो काम्यमान है (जो कामनाओ में डूबा हुआ है)। अकाम्यमान के विषय में— जो व्यक्ति काम रहित है, निष्काम है, जिसके काम शान्त हो गये है, जो स्वयं आत्मकाम (स्वयं अपनी इच्छा) है उसके प्राण कहीं और नही जाते, वह स्वयं, ब्रह्म होने के कारण ब्रह्मलीन हो जाता है।— 'जब मनुष्य के हृदय ही काम भावना (इच्छा) दूर हो जाती है तो वह मर्त्य है, अमृत हो जाता है, यही इसी शरीर में वह ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है।[३७]

वर्तमान जीवन में किये गये कर्म एव आचरण मनुष्य के भावी जीवन का निर्माण करते हैं। 'पुर्नमृत्यु' एवं 'पुनर्जन्म' से मुक्त होने की कामना इस कर्म प्रक्रिया के कारण उदित होती है। कर्म-फल भोग के लिये एक जन्म के पश्चात् दूसरा जन्म लेना पड़ता है जिससे एक शृंखला का निर्माण होता है। इस शृंखला से मुक्ति कैसे प्राप्त हो। कर्मत्याग से या अन्य कोई दूसरा विकल्प हो सकता है? गीता[३८] दूसरा विकल्प प्रस्तुत करती है। कर्म एवं आचरण मनुष्य की इच्छा (संकल्प) पर निर्भर रहते हैं और यह संकल्प कामनाओं के कारण ही जाग्रत होता है। मनुष्य की कामनाये कई प्रकार की होती

है, वह उनमे कुछ का दमन कर सकता है, किन्तु कुछ कामनाओ की निष्पत्ति अथवा सिद्धि के लिये वह संकल्प ले सकता है। अत: कामनाये (अथवा केवल 'काम') एवं संकल्प कर्मो का आधार है और अन्ततोगत्वा वही जन्म-मरण चक्र के मूल मे भी है। ब्राह्मण-ग्रन्थ ब्रह्म प्राप्ति की अभिलाषाओ से जिन मार्गों का प्रतिपादन करते थे। उनमे स्वाध्याय, दान और तपस्या के साथ-साथ यज्ञ का भी उल्लेख है। छान्दोग्य[३९] मे तीन धर्मस्कंधो मे 'यज्ञ' को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। 'यज्ञ' शब्द से कर्म का बोध होता है किन्तु प्रत्येक कर्म को यज्ञ नही कहा जा सकता, जिस कर्म से शुद्धि होती है जो कर्म स्वार्थ नही वरन् परार्थ है, जिस कर्म से नवीन आवरण का निर्माण नही होता, वरन् प्राचीन आवरण का क्षय ही होता है वही कर्म 'यज्ञ' है। अत: गीता का प्रतिपादन है कि यज्ञार्थ के अतिरिक्त अन्य कर्मो से बंधन होता है। यज्ञ हीन का इह लोक भी नही है और परलोक भी नही है।[४०] यज्ञ की धारणा मे गीता द्वारा प्रतिपादित अर्थ का समावेश क्रमश किस प्रकार हुआ उसकी विवेचना उपनिषदिक साहित्य मे उपलब्ध हो सकती है। 'यज्ञ' कर्म वास्तविक रूप में कौन सी उपलब्धि प्रदान करा सकते हैं। कर्म के प्रति आसक्ति एवं निरासक्ति की भावना का क्या महत्व है। गीता के इन प्रश्नो को क्रमबद्धता औपनिषदिक जगत् से उपलब्ध हुई है।

संन्यास

औपनिषदिक चिन्तन का विकास

उपनिषद् पूर्व तक की जिज्ञासा का इस प्रश्न का उत्तर पाने की चेष्टा कर रही थी कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता है।[४१] अथवा क्या सम्भव हो सकता है। इन प्रश्नो के उत्तर मे तीन प्रकार के विचार प्रकाश मे आ चुके थे— सम्पूर्ण विलोप (नाश), स्वर्ग या नरक में प्रतिकार (फल-भोग) एवं पुनर्जन्म।[४२] जो लोग आत्मा की अमरता मे विश्वास नही करते वे प्रथम मत का प्रतिपादन करते है। कठोपनिषद् में इसका प्रमाण मिलता है।[४३] नचिकेता ने मृत्योपरान्त आत्मा की अति जीविता के प्रति शंका व्यक्त की है। जो लोग अति जीवन में विश्वास नही करते थे वे अन्य प्रश्नों से चिन्तित नही होते।

मृत्योपरान्त अति-जीवन सम्बन्धी प्रश्न सबसे अधिक महत्वपूर्ण है अर्थात् क्या भौतिक शरीर की मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति का कोई चिन्ह शेष रहता है। श्वेताश्वतर उपनिषद की चार समस्याये है।[४४]— क्या जगत् का कारण ब्रह्म है। हम किससे उत्पन्न होते हैं और किसके द्वारा जीवित रहते हैं। हम कहाँ प्रतिष्ठित हैं एवं किसके द्वारा सुख-दुख से प्रेरित होकर व्यवस्था (संसार यात्रा) का अनुवर्तन करते हैं। अंतिम चतुर्थ प्रश्न मनुष्य के अति-जीवन का समर्थन करता है।

उपर्युक्त उपनिषद् कथन से ज्ञान होता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषद् काल मे किस प्रकार विकसित हो रहा था। पुनर्जन्म सम्बन्धी प्रश्न में दार्शनिक जटिलतायें निहित है। ऋग्वेद मे देवयान एवं पितृयान नामक दो मार्ग विदित थे। यह भी ज्ञात था कि स्वर्ग में आनन्द एवं आह्लाद प्राप्त होता है, किन्तु यह ज्ञात नही होता कि स्वर्गीय आनन्द की अवधि क्या थी। न वहाँ पुनर्जन्म संबंधी सिद्धान्त के विषय में स्पष्ट एवं निश्चित उक्ति ही मिलती है। ब्राह्मण ग्रन्थो में दोनों भागो की ओर बहुधा संकेत किया गया है। इस धारणा का भी संकेत मिलता है कि मनुष्य को कई बार मरना

होगा लेकिन सत्कर्मो एवं दुष्कर्मों पर आधारित पुनर्जन्म के विषय मे कोई स्पष्ट एवं निश्चित सिद्धान्त नही मिलता।

बृहदारण्यक उपनिषद्[४५] के दो उद्धरण इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है। ये पुनर्जन्म के उद्‌गम पर प्रकाश डालते है। जिसके अनुसार अपने कर्मो के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य नवीन जन्म ग्रहण करता है। छान्दोग्य[४६] से विदित होता है कि यज्ञादि कर्म से प्राप्त होने वाला फल द्विपक्षीय है। यज्ञकर्ता जब तक कर्मक्षय होता है चन्द्रलोक में रहकर पुन: इस लोक मे नवीन जन्म ग्रहण करता है। मनुष्य का आचरण (कर्म) उसके आगामी जीवन का निर्माण करता है। इसलिए पुनर्जन्म की धारणा को दिये हुए तथ्य के रूप मे ग्रहण नही किया जा सकता। माना जाता है कि इसकी सम्भावना के सम्बन्ध मे यदि कुछ कहा जा सकता है तो वह कर्म के स्वरूप के आधार पर ही कहा जा सकता है। इस प्रकार इस विचार का प्रवाह-क्रम कर्म से पुनर्जन्म की ओर होगा। इस विचार-क्रम के आधार पर प्रश्न उठता है या उठ सकता हैं कि क्या यह अनिवार्य सम्भावना है कि यदि 'कर्म' है तो पुनर्जन्म अवश्य होगा।

उपनिषदो में पुनर्जन्म के सम्बन्ध में तीन मन्तव्य उपलब्ध होते हैं— छान्दोग्य मे वर्णन है कि धार्मिक और सामाजिक शुभ कर्मो को करने वाले मनुष्य की आत्मा मृत्योपरान्त धूम्र और अंधकार को पार करती हुई पितृयोनि मे शुभ फलो का भोग कर पुन: इस संसार में नवीन जीवन धारण करती है।[४७] दूसरे मन्तव्य के अनुसार तपस्वी और महान व्यक्तियो की आत्माएँ (प्रकाश के मार्ग से देवयोनि मे जाकर) ब्रह्म में लीन हो जाती हैं। उनका पुनर्जन्म नही होता।[४८] तीसरा मन्तव्य जो बृहदारण्यक[४९] मे मिलता है बताता है कि आत्मा किसी योनि मे फल भोग नही करती वरन् शुभ-फलो के कारण ब्रह्मत्व प्राप्त कर सकती है। यदि उसे कर्म करने की इच्छा होती है तो वह पुनर्जन्म लेती है। मुण्डकोपनिषद में[५०] एक और तथ्य उपलब्ध होता है कि पुनर्जन्म के मूल मे काम है। उपनिषदों में कर्म-सिद्धान्त की वे बारीकियॉ नही पायी जाती जो हिन्दू धर्म के उत्तरकालीन कर्मवाद के दर्शन मे मिलती है। यह सम्पूर्ण प्रणाली काम के सिद्धान्त को लेकर स्थापित की गई हैं। कर्म, काम एवं मनुष्य के बीच की कड़ी है।[५१]

पुनर्जन्म की वास्तविकता की सम्भावना संसार की श्रेष्ठता के प्रति जीव को शंकालु बनाती है। इसलिए हिन्दू धर्म का तत्व-चिन्तन किसी परम उद्देश्य की सिद्ध के लिए किया जाता था। जिसे प्राप्त करने के लिए इस लोक मे मनुष्य का प्रयास सम्भव है।[५२] मोक्ष प्राप्ति की धारणा दार्शनिक चिन्तन की चरम परिणति है। दूसरे शब्दों मे हिन्दू धर्म की दार्शनिकता का लक्ष्य तर्क से परे पहुँचना है। उसके दृष्टिकोण में यह विलक्षणता इस तथ्य से आई है कि उसका उद्‌भव और विकास जीवन में नैतिक एवं भौतिक बुराई की उपस्थिति से उत्पन्न होने वाली व्यवहारिकता से हुआ। जिस अवस्था मे यह बुराई समाप्त हो जाती है उसे मोक्ष कहा गया। जिन विचारकों को प्रारम्भ मे यह विचार मान्य नही था वे भी मोक्ष के आदर्श को इसी जीवन में प्राप्त हो सकने वाला मानने लगे थे। इस अवस्था को जीवन्मुक्ति के रूप में स्वीकार किया जाने लगा (ऋग्वेद कालीन स्वर्ग प्राप्ति की धारणा के विपरीत यह एक नवीन विचारधारा थी क्योंकि स्वर्ग मृत्योपरान्त ही प्राप्त किया जा सकता था।) इस प्रकार यद्यपि इस आदर्श की प्राप्ति दुष्कर अवश्य थी लेकिन महत्वपूर्ण परिवर्तन जिसे लक्ष्य किया जा सकता है, वह यह था कि अब इसे ऐसी उपलब्धि मानने की आवश्यकता नहीं थी जिसे परलोक

मे ही प्राप्त किया जा सकता हो। उपनिषद की उद्घोषणा है : कि हृदय की समस्त कामनाये समाप्त होने पर मनुष्य इस लोक मे ही अमृतत्व और ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है।[५३] (इस प्रकार) उपनिषद् युग में मनुष्य का लक्ष्य किसी काल्पनिक लोक मे पूर्णत्व प्राप्त करना नही रह गया वरन् इसी जीवन में निरन्तर आगे बढते रहना हो गया।

उपनिषद् चिन्तन का महत्वपूर्ण पक्ष क्या हो सकता है ? मनुष्य के कर्म कैसे हो, जिससे वह जन्म-मरण चक्र से मुक्त हो सके। उसकी सम्भावना ज्ञान प्राप्ति मे निहित है। किस वृत्ति को त्याग दिया जाय जिससे कि शाश्वत-जीवन प्राप्त किया जा सके। मैत्रेयी ने इस दृष्टि को सामने रखकर अपनी शंका व्यक्त की है।[५४] जिस संसार से मुक्त होने की इच्छा व्यक्त की गई है उसका स्वरूप कैसा है। ससार 'तमस्' के रूप मे कल्पित किया जाने लगा था। उस 'तमस्' से त्राण पाने के लिए असत्य से सत्य की ओर, अधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर जाने की आकांक्षा परिलक्षित की जा सकती है।

वैदिक ऋषिगण पुनर्जन्म की निरन्तरता से परचित नहीं थे। वह जीवन के सम्पूर्णता एवं उल्लासपूर्ण भाव को ग्रहण करने वाला था। उपनिषद् काल में इस विचारधारा ने एक नवीन-रूप ग्रहण किया जिसमे संसार गति को जुगुप्सापूर्ण बताया। मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् समझा जाता था कि आवागमन चक्र से मुक्ति प्राप्त हो जायेगी और मनुष्य पूर्णानन्द की अनुभूति कर सकेगा। जिस रूप में पुनर्जन्म एवं कर्म सिद्धान्त को विकसित किया गया इसमे एक जन्म से अनन्त जन्म तक आत्मा की निरन्तर यात्रा का भाव सन्निहित था। मनुष्य ने जैसा आचरण किया है उसकी वैसी ही भावी स्थिति होगी– उत्कर्षपूर्ण, अपकर्षपूर्ण, सुखी अथवा दुःखी। छान्दोग्य उपनिषद् मे पुरुष को 'क्रतुमय' कहा गया है।[५४]

मोक्ष की अवधारणा और आकांक्षा का प्रमुख कारण 'कर्म-सिद्धान्त' और 'पुनर्जन्म' है। युग के विचारको के लिए पुनर्जन्म का भाव उत्साहजनक नही था। मृत्यु सदैव भयप्रद रही है और अनेक बार जीवन-मरण की सम्भावना किसी भी रूप में सुखप्रद नही रही होगी। स्वर्ग मे पुनर्जन्म (जो ब्राह्मण कालीन आशा थी) प्राप्त करना पर्याप्त नही था। जन्म-मरण चक्र से मुक्ति का मार्ग खोजना ही था और तत्कालीन चिन्तको को उस मार्ग की प्राप्ति ज्ञान द्वारा हुई। इस ज्ञान को तप एवं सन्यास द्वारा उपलब्ध बताया गया।[५६] अतः मोक्ष, ज्ञान, संन्यास और निवृत्ति मूलक विचारो को अधिक उच्च कोटि एवं उत्कृष्ट श्रेणी का समझा जाने लगा था। परिणामस्वरूप जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष निर्धारित करने का प्रयास ऋषियो द्वारा किया जा रहा था, जिससे पुनः-पुनः संसार चक्र में न फँसना पड़े। व्यवहारिक जीवन का अन्तिम चतुर्थ आश्रम इस दृष्टिकोण का 'आश्रय ग्रहण कर संन्यास' के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ।

संन्यास के तत्त्व

व्यवस्थित आश्रम के रूप मे प्रतिष्ठित होने के पूर्व संन्यास ज्ञानाश्रयी होकर भावात्मक रूप से विकासमान था। एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में यह विकास हो रहा था जिसे जीवन व्यवस्था में सर्वोच्चता प्राप्त थी। संन्यास भाव के तत्व संहिता काल में सूक्ष्म रूप में देखे जा सकते हैं। यज्ञ-पुरुष, यज्ञकर्ता एवं स्वयं यज्ञ (यज्ञ यजमान और प्रजापति) मे रहस्यपूर्ण एकाकारता दिखाई पड़ती है।[५७] यज्ञ व्यवस्था, संन्यास-भाव के उदय का मूल कारण थी।[५८] ब्राह्मणो मे

चूँकि यज्ञ, यज्ञकर्ता और प्रजापति मे समानता सम्भावित की गई है । इस धारणा की ओर सकेत प्राप्त होता है कि यज्ञ द्वारा अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है ।[५९]

यज्ञ का उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति है : 'यज्ञ वह साधन है जिससे यजमान स्वर्ग प्राप्त कर सकता है । दूसरे दृष्टिकोण से यजमान अपने स्वाध्याय के विशिष्ट वाचन द्वारा स्वर्गारोहण कर सकता है ।[६०] शतपथ ब्राह्मण अग्नि रहस्य[६१] का प्रस्फुटन कर इस विषय को दार्शनिक रूप प्रदान करता है । परम सत्ता का, जो प्रकाश-स्वरूप, लोक व्याप्त एव विश्वधारक है, आत्मा के रूप मे उपसंहार किया गया है । यद्यपि वह वाणी एवं मानसिक व्यापार से मुक्त है । यहीं पर यह भी कहा गया है कि 'पुरुष' हृदय मे स्थित है एवं समस्त दृश्यात्मक-अदृश्यात्मक सत्ताशील वस्तुओ की अपेक्षा महत्तर है ।[६२] शतपथ ब्राह्मण की इस आध्यात्मिक मूल तत्व की एकात्मक अभिव्यक्ति का अन्वेषणात्मक आधार वही सदर्भ है जो व्यक्ति के समक्ष बार-बार होने वाली मृत्यु को उपस्थित करता है । यहॉ ब्राह्मण उपनिषदों की दार्शनिक पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं ।[६३] तत्संदर्भ मे यज्ञ का स्वरूप किंचित् रहस्यात्मक हो गया है ।

यज्ञ

उपनिषद् काल में धर्म सम्बन्धी तीन प्रमुख धाराये दिखाई देती है, प्रथम धारा 'कर्मकाण्डात्मक' है । यज्ञ का प्रचलन धीरे-धीरे सामान्य जीवन को प्रभावित करता जा रहा था । (पंच यज्ञों की प्राक्कल्पना ऋषि, पितृ एव समाज के प्रति दायित्वो से उत्पन्न होने की भावना से प्रभावित थी । कालान्तर मे मनु के समक्ष में प्रत्येक गृहस्थ के लिए पच यज्ञ प्रतिदिन के कर्तव्य मे सम्मिलित कर लिये गये)[६४] लेकिन यज्ञ के कर्मकाण्डात्मक स्वरूप का आशिक विरोध वैदिक काल मे ही प्रारम्भ हो गया था । यातियो ने, जिन्होने स्वय को एक पृथक समूह अथवा सम्प्रदाय के रूप मे एकत्रित एव केन्द्रित कर लिया था, यज्ञ परम्परा के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया । इस विरोध का कारण बाह्य-धार्मिक दृष्टि के विपरीत आंतरिक अनुभूति विकसित करना था ।[६५] यज्ञ के बाह्य अभिचारिक एवं उसके कर्मकाण्डात्मक पहलू के प्रति यह विद्रोह क्रमशः विकसित हो रहा था । दूसरी विचार धारा तपस्या या शरीर-पीड़न की थी— अलौकिक शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से शरीर को कष्ट तथा अभाव का अभ्यस्त बनाना । यह धारणा धीरे-धीरे विकसित हो रही थी कि तपस्या द्वारा 'दिव्य-शक्ति' के रहस्य को सरलता पूर्वक जाना जा सकता है । तपस्या से प्राकृतिक शक्तियों पर भी विजय पाई जा सकती है । इस समय तपस्या जीवन को अनुशासनबद्ध करने में भी सहायक समझी जाती थी । इन्द्रियजयी होने के लिये तपस्या की आवश्यकता अनुभव की जाती थी ।

धर्म सम्बन्धी तीसरी धारा, जो अधिक महत्वपूर्ण थी, के अनुसार यज्ञ और तपस्या साध्य नही वरन् ज्ञान प्राप्ति के साधन है । अत: ज्ञान को सर्वोच्च समझा जा रहा था । 'ज्ञानी' (आत्मज्ञानी) उपनिषद्काल के प्रारम्भ मे तपस्वी और यज्ञ कर्त्ता से अधिक सम्माननीय एवं महत्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता था । राजा बृहद्रथ की कथा इस जीवन आयाम की ओर स्पष्ट संकेत करती है, जिन्होंने तपस्या के लिये अपने राज्य का त्याग कर दिया था । लेकिन कठिनतम तपश्चर्या के पश्चात् भी उनकी यह वेदना शेष थी कि वे 'आत्म ज्ञानी' नही हैं ।[६६] उचित ज्ञान के अभाव में कोई भी यज्ञ कर्म

या तपश्चर्या लाभप्रद नही है ।[६७] तपस्या के द्वारा परमतत्व का ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता । केवल तपस्या ही नही वरन् विभिन्न शास्त्रादि ग्रंथो के ज्ञान से भी 'आत्म ज्ञान' नही प्राप्त किया जा सकता । नारद, यद्यपि विभिन्न विद्याओ के ज्ञाता है लेकिन वे केवल मंत्रवेत्ता हैं आत्मवेत्ता नही । शास्त्रीय ज्ञान से 'शोक' पर विजय प्राप्त नही की जा सकती । सनत्सुजात ने भी इनकी समस्त विद्या को केवल नाम मात्र बताया है ज्ञान नही ।[६८] अत: वह निरर्थक है । अत: आत्म ज्ञान को प्रमुखता प्राप्त हुई और बाद मे सन्यास आत्मज्ञान प्राप्त करने का साधना माना जाने लगा । संन्यास के प्रेरक तत्वो को इस प्रकार (किसी सीमा तक) क्रमबद्ध रूप दिया जा सकता है ।

यज्ञ वाछित वस्तुओ की प्राप्ति के अमोघ साधन है और इसलिये उसे हिन्दू धर्म की जीवन व्यवस्था मे प्रधान स्थान प्राप्त हुआ । इस आधार पर यज्ञ त्रिऋृण के रूप मे प्रतिष्ठित है । यज्ञ[६९], देव, पितृ और ऋषि ऋृण से उऋृण होने मे सहायक है । अत: मनुष्य के नित्य-प्रति कर्म के अन्तर्गत इसकी गणना की गई है । यज्ञ की क्रियात्मकता से भौतिक पदार्थों की उपलब्धि देवताओ के साथ एकरूपता (समीपता और सायुज्यता) की स्थापना और स्वर्ग की प्राप्ति होती है । एक मत, (कर्मकाण्ड से प्रभावित होकर), विश्व को यज्ञ कर्म से उत्पन्न मानता है । यह कल्पना वेद में विशेष रूप से पुरुष सूक्त मे पाई जाती है । जहॉ विराट् से पुरुष की उत्पत्ति परिकल्पित है । वहॉ कहा गया है कि पुरुष को हवि बनाकर किये गये यज्ञ से ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुओं को निर्मित करने की सामग्री प्राप्त हुई । इसके अतिरिक्त यज्ञ एक भावामय-ससार का निर्माण करते है । ऋृग्वेद का कथन है कि जो अकेले भोजन करता है वह पाप का भागी होता है ।[७०]

वैदिक विचारधारा के आधार पर विकसित परम्परा के सम्बन्ध मे कुछ विचारकों का मत है कि उसमे यज्ञ को अत्यधिक महत्व मिलने के कारण नैतिक विचारधारा की उपेक्षा हुई । कर्मकाण्ड की यथार्थता को सदाचार की कसौटी माना जाने लगा । लेकिन कर्मकाण्ड प्राचीन विचारधारा के विकास के अनेक आयामो मे से एक था । अत: यह स्वीकार करना अधिक उचित प्रतीत होता है कि जिन वर्गों मे यज्ञ का प्राधान्य था उनमे नैतिक और कर्मकाण्डीय आदर्श परस्पर सघर्षरत हो गये होंगे । इस संघर्ष की समाप्ति के उद्देश्य से ही सम्भवत: प्रजापति को, जो न केवल यज्ञ का प्रधान देवता था, यज्ञ रूप ही स्वीकार किया गया, वरन् ऋृत के अधिपति के रूप मे भी दिखाया गया है ।[७१] यह सदर्भ इस मत को स्पष्ट करता है कि यज्ञ-परक विश्व-व्यवस्था की स्थापना के साथ-साथ नैतिक व्यवस्था की स्थापना करना भी देवताओं का दायित्व है ।ब्राह्मण, (जिसमे प्रमुख रूप से यज्ञ कर्म की श्रेष्ठता का विवेचन है), यज्ञ की कमी की ओर संकेत करता है । वहॉ कहा गया है कि उन्होंने ज्ञान द्वारा वह उच्च स्थिति प्राप्त की जहॉ कामनायें समाप्त हो जाती है । उसे यज्ञ कर्म या अज्ञानपूर्वक तपस् द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता । केवल जो जानते हैं उन्ही के लिए यह स्थिति है ।[७२]

उपनिषदों में अनेक सन्दर्भ यज्ञ की कमी की ओर संकेत करते हैं । यज्ञ परम्परा का वहॉ उपहास किया गया है । उनकी प्रकृति कर्मकाण्ड विरोधी है । विश्व के सम्बन्ध मे उनका सिद्धान्त ब्राह्मणों के यज्ञ-परक सिद्धान्त से भिन्न है । लगभग सभी प्राचीन उपनिषदों में यह विरोध दिखाई देता है । कहीं-कहीं उसका स्वर स्पष्ट रूप से उपहासात्मक है । यज्ञ परम्परा का उपहास उसकी निरर्थकता एवं उसके क्षणिक फलों को लेकर दिया गया है । मुण्डकोपनिषद् मे एक

क्षणिक-फल प्रदाता के रूप मे यज्ञ का स्पष्ट विरोध किया गया है, यज्ञ से जो नि:श्रेयस् की कामना करता है वह पुरुष मूढ है। उसे बारम्बार जरा-मरण के चक्र मे फॅसकर दु:ख भोगना पडता है।[७३] वे मूढ़ पुरुष अन्धे के समान पीडित होकर ससार मे भटकते फिरते है। कर्मशील मनुष्य रागवश 'तत्व' को जानने मे असमर्थ है। इसलिए कर्म-फल क्षीण होने पर वह स्वर्ग से च्युत हो जाता है।[७४] यज्ञ अस्थिर जीवन-सागर की तरंगो के समान है।

यज्ञ उपहास का स्वर भी उपनिषदो मे स्थिर नही रहा। उसमें परिवर्तन उस समय आया जब ब्राह्मण-परम्परा के बाह्य विधान अर्न्तयज्ञ के रूप मे परिवर्तित हुए। (यद्यपि बाह्य-यज्ञ के क्रियात्मक स्वरूप का यह परिवर्तन नवीन नहीं था। आन्तरिक यज्ञ की परिकल्पना ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' मे ही देखी जा सकती है।) उपनिषदो की प्रकृति यद्यपि ब्राह्मणो के कर्मकाण्ड के विपरीत है, लेकिन वह यज्ञ का समर्थन भी करती है। ऋषियो ने जिन कर्मो का मत्रो मे साक्षात्कार किया था उन्ही कर्मो का अनेक प्रकार से विस्तार हुआ। 'सत्य (कर्मफल) की कामना से उनका (यज्ञ का) नित्य आचरण सुकृत (कर्मफल प्राप्ति का) का मार्ग है।[७५] मुण्डकोपनिषद् में (विशेष रूप से) एक ओर यज्ञ का समर्थन किया गया है, दूसरी ओर वहॉ यज्ञ विरोधी मत भी प्राप्त होते हैं। यज्ञादि कर्म यद्यपि सुकृत प्रदाता है फिर भी उनसे अमृतत्व प्राप्त नही किया जा सकता। लेकिन अन्य (कुछ) उपनिषदो मे इस प्रकार की अनिश्चितता नही है। वे यज्ञ सन्दर्भ का भाव परिवर्तित कर देते हैं। छान्दोग्य मे अर्न्तयज्ञ की भी महत्ता स्थापित हो चुकी थी।

'हमारा वास्तविक यज्ञ अपने अन्तर्गत प्राणो की आहुति देना ही है'। इस प्राण यज्ञ को न जानकर वर्हियज्ञ विधान धूल मे आहुति देने के समान है। इसके विपरीत प्राणयज्ञ (अर्न्तयज्ञ) का ज्ञाता अपने पापो से मुक्त हो जाता है। उसके पाप अग्नि द्वारा भस्मीभूत हो जाते है। कौषीतकि उपनिषद मनोयज्ञ की ओर संकेत करता है। यह जानकर कि मनुष्य के अन्तर्मन मे एक अखण्ड यज्ञ निवर्तमान है। ऋृषिगण बाह्य-यज्ञ (विधान) की चिन्ता नही करते। मनुष्य जब तक वाक्य बोलता है, तब तक पूर्णतया श्वास नही ले सकता। उस समय वह प्राण का वाणी रूप अग्नि मे हवन करता है। जिस समय पुरुष श्वास खीचता है, मौन रहता है, उस समय वह वाणी का प्राणरूपमय अग्नि मे हवन करता है। ये वाक् और प्राण दो आहुतियॉ अनन्त एवं अमृत स्वरूपा है। (वाक् और प्राण का व्यापार कर्म जीवन मे निरन्तर चलता रहता है इसलिए ये दोनो अनन्त है। इन दोनों के व्यापारों का जो एक दूसरे में लय होता है उसमे अग्निहोत्र बुद्धि हो जाने से ये आहुतियॉ अमृतरूप फल को प्रदान करने वाली होती हैं। इसलिए इन्हें अमृत कहा गया है। वाक्-प्राण रूपा आहुतियो के अतिरिक्त जो अन्य द्रव्यमयी आहुतियॉ है वे कर्ममयी हैं।[७६] इस प्रकार ब्राह्मणयुगीन बाह्य-यज्ञ विधान दार्शनिक रूप से और अधिक विकसित एवं नवीन स्वरूप के साथ मनोयज्ञ के रूप मे परिणित हुआ।

बृहदारण्यक में इस संदर्भ में अधिक स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। उपनिषद् आन्तरिक चिन्तन-प्रक्रिया का उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'उषा यज्ञ सम्बन्धी अश्व का सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, मुख (खुला हुआ) वेश्वानर अग्नि है और सवत्सर यज्ञीय अश्व का आत्मा है। द्युलोक उसका पृष्ठ-प्रदेश आन्तरिक्ष उदर, पृथ्वी पैर रखने का स्थान एवं दिशाये पार्श्व मार्ग हैं। यह अर्न्तयज्ञ का विस्तृत विवरण है।

यहाँ अश्व मेघ यज्ञ का अश्व विश्व स्वरूप के रूप मे वर्णित है । बृहदारण्यकोपनिषद् इसकी व्याख्या समाधि के रूप मे करती है । जिसमें व्यक्ति अश्व के स्थान पर सम्पूर्ण विश्व को समर्पित करता है । इस यज्ञ का प्रतीक संसार-त्याग है, जिससे आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त होता है । होम मे, मंत्र के अंत मे कहे जाने वाले 'स्वाहा' शब्द का अभिप्राय स्वत्व हनन— अहं त्याग से है । पाल डायसन, अश्व सम्बन्धी इस प्रतीक के विषय मे लिखते है कि सम्भवत: इस प्रतीक की पृष्ठभूमि इस विचार पर आधारित है कि संन्यासी संसार का त्याग उसी प्रकार कर देता है जिस प्रकार पिता यज्ञीय उपहार का त्याग करता है । (यहाँ अश्व आध्यात्मिक प्रगति और अनुभूति का प्रतीक है । जैवालि-दर्शन (जैवाल्युपनिषद्) ने एक विचित्र रूप से श्रद्धा की आहुति को चन्द्रमा से, चन्द्रमा को वृष्टि से, वृष्टि को अन्न से, अन्न को बीज से और बीज को पुरुष से सम्बद्ध किया है । लेकिन उनका यह दर्शन मोक्ष-प्रदाता नही है क्योंकि 'अन्त मे जब पुरुष का दाह होता है तो चिताग्नि की वेदिका से एक तेजमय पुरुष प्रकट होता है जो अपने गुणानुकूल देवलोक या पितृलोक को जाता है । जैवालि ऋषि का मत यह है कि विश्व प्रत्येक अवस्था मे एक यज्ञ क्रिया द्वारा संचालित हो रहा है ।

अर्न्तयज्ञ के विचार से ब्रह्ममय जगत की धारणा बलवती हो रही थी । इस मान्यता को भी प्रश्रय मिला कि जब सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय है तो उसे केवल अपनी कामना और अहंकार के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरी वस्तु अर्पित करना उचित नही है ।

तप

यज्ञ (अर्न्तयज्ञ) और तप दोनों एक दूसरे के समीपवर्ती तत्व हैं । दोनों तत्व कालान्तर मे आन्तरिक क्रियाओ के रूप मे प्रतिष्ठित हुए । ऋग्वेद के दशम-मण्डल मे सत्य का वर्णन आया जिसे सायण ने 'मनन की स्थिरता' के प्रतीक के रूप मे स्वीकार किया है । अथर्ववेद मे पृथ्वी के धारक तत्वो , ऋत, ब्रह्म, सत्य और यज्ञ के साथ तप का भी उल्लेख किया गया है । तप को उपर्युक्त तत्वो के साथ यज्ञ का उच्छिष्ट भी कहा गया है । तपस् प्रथम तत्व है, लेकिन सृष्टिकर्ता सर्बन के लिए तप करता है । तप क्या है (हिन्दू) लोक भाषा में तप 'काम' का विरोधी तत्व है, जबकि हिन्दू धर्म की पौराणिक दृष्टि मे तप स्वत: एक सर्जन शक्ति है । ऋग्वेद के सृष्टि सूक्त में तपस् से परम पुरुष की उत्पत्ति होती है और तप द्वारा ही वह (परम पुरूष) सृष्टि सर्जन करता है । सृष्टि सर्जन के संदर्भ मे यज्ञ और तप दोनों का समान रूप से उल्लेख प्राप्त होता है एवं उस अर्थ में यज्ञ और तप दोनों समान हैं । उत्पत्ति एवं सृष्टि संचालन कर्म मे यज्ञ के साथ-साथ तप का भी स्थान है । यह विश्वास दृढ़ हो गया था कि यज्ञ या तप के बिना कुछ भी प्राप्त नही किया जा सकता । तैत्तिरीय संहिता में प्रजापति को सृष्टि सर्जन (दोनों देवों एवं असुरों की) के लिए यज्ञ-निर्माण करते हुए एवं मनुष्यो और पशुओ को उत्पन्न करने के लिए तप करते हुए, उल्लिखित किया गया है । प्रजापति ने सन्तति की कामना से तप किया । इस प्रकार आदित्य, चन्द्र, अग्नि, वायु और उषा की उत्पत्ति हुई । उसने तप द्वारा ही प्राण से पृथ्वी, अधान से अन्तरिक्ष और व्यान से स्वर्गलोक का निर्माण किया । केवल तप से ही नही यज्ञ द्वारा भी उसने सृष्टि रचना की । यहाँ तक कि प्रजापति ही वास्तव मे यज्ञ है जिसमे काम (इच्छायें) एवं अमृतत्व केन्द्रित हैं । प्रजापति ने यज्ञ की सर्जना की । देवताओ ने यज्ञ से प्रजापति को उत्पन्न

किया और उन्हे इसके द्वारा सभी इच्छित पदार्थो की उपलब्धि हुई। इस प्रकार तप प्रत्येक वस्तु का प्रदाता है या तप द्वारा प्रत्येक वस्तु उत्पन्न की जा सकती है।

शतपथ ब्राह्मण मे आये 'तप' शब्द का अर्थ विन्टरनित्ज ने ऊर्जा अथवा तपस्या से ग्रहण किया है। तप शक्ति प्रदाता के साथ ही साथ वाछित वस्तुओ का प्रदाता भी है। तप का अर्थ महान शक्ति प्रदान करने एवं भौतिक समृद्धि आदि प्राप्त करने के संदर्भ मे किया गया है। देवताओ की विजय का कारण तप है। इन्द्र ने तपस्या के द्वारा अन्तरिक्ष लोक (स्वर्ग) पर विजय प्राप्त की। अथर्ववेद मे तपस् काल से उद्‌भूत है, जो प्रत्येक वस्तु का प्रथम कारण है। यही ब्रह्मचर्य के महत्व का वर्णन करते समय श्रम और तपस् का उल्लेख किया गया है। 'ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म (ज्ञान अथवा ब्रह्म) को धारण करता है। उसमे (ब्रह्मचारी मे समस्त देवगण अधिवास करते है। (वह समस्त देवताओ से प्रकाश और शक्ति प्राप्त कर सकता है।) तपस् इस प्रकार दृढ़ और तीव्र 'पृथक्करण' का रूप है। डॉ० राथ इस अर्थ को स्वीकार करते है। मैक्समूलर ने भी, इसे आन्तरिक ऊर्जा के अर्थ मे, स्वीकृत कर, राथ के मत का समर्थन किया है। शक्ति के अर्थ मे प्रयुक्त तप—(तप + असुन् - तपस्) - ताप, गर्मी तपश्चर्या कड़ी साधना, आत्म-नियन्त्रण आदि के आर्थ में प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त शम, दम, सत्य भाषण यज्ञादि आदर्शो का जीवन मे पालन ही वास्तविक तप है।

तप के सन्दर्भ मे (जिसका आश्रय लेकर सन्यास परम्परा विकसित हुई) सामान्य रूप से दो विरोधी विचारधाराये प्राप्त होती है। जिसमे से एक उसके मौलिक रूप को स्थाई रखती है, जिसके अनुसार तप का अर्थ शरीर को किसी एकान्तिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नियंत्रित करना है। आत्मनियंत्रण या इच्छाओ पर विजय प्राप्त करने की तपस् पूर्ण साधना, इस अर्थ के अनुसार तप शरीर को अनुशासित करने की प्रक्रिया है। इसमें शरीर के प्रति-आदर-भाव विद्यमान है। लेकिन दूसरी विचारधारा इसके नितान्त विपरीत है, जो शरीर को नष्ट (क्षीण) करने मे विश्वास रखती है। इसके अनुसार तप के प्रति एक सामान्य धारणा बनती है कि शरीर-पीडन या देह के प्रति नितान्त उपेक्षा का भाव ही तप है। तप के अर्थ के विषय मे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि प्रारम्भ में (वैदिक युग में) तप ऊर्जा-शक्ति प्राप्त करने अथवा अपनी किसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए किया जाता था। लेकिन कालान्तर में तपस्या को 'काम', कामना एवं इन्द्रिय नियंत्रण का कारक माना जाने लगा।

क्लेशपूर्ण तपस्या का लक्ष्य केवल आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं है, कभी-कभी उसका उद्देश्य सांसारिक एवं भौतिक भी हो सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण मे एक विवरण मिलता है, जिसमे नारद ने तपस्यारत पुत्रहीन राजा हरिश्चन्द्र से प्रश्न किया है कि उनके शरीर को मल युक्त रखने एवं अजिन वस्त्र धारण करने से (उनको) क्या लाभ है, जटाये बढाने एव तपस्या करने का उनका उद्देश्य क्या है? हरिश्चन्द्र का उत्तर है कि पुत्र प्राप्ति के लिए वे ऐसा कर रहे है। यहाँ सायण ने 'मल' का अर्थ गृहस्थाश्रम और 'अजिन' का ब्रह्मचर्य किया है। श्मश्रु को और कर्म से रहित होने के कारण वानप्रस्थाश्रम एव 'तप' को चतुर्थ आश्रम माना है। लेकिन उनके इस अर्थ को ठीक नही कहा जा सकता। क्योंकि गृहस्थाश्रम यदि

'मल' है तो पुत्राकांक्षा किसलिए। गृहस्थाश्रम की उपेक्षा और पुत्र-प्राप्ति के लिए तपस्या जैसा कठिन कर्म दोनो परस्पर विरोधी है। यदि उपर्युक्त चारो पदो को अन्तिम आश्रम (सन्यास) के सन्दर्भ मे ग्रहण किया जाय तो इस विरोधाभास को समाप्त किया जा सकता है। तब मल का अर्थ (धूलधूसरित शरीर) ऋग्वैदिक मुनि के लिए प्रयुक्त किये गये अर्थ के समान, अजिन, मृग छाल पहनकर योगमुद्रासीन जिसकी जटाये बढ़ गई है और जो तपस्या मे लीन है, के लिए प्रयुक्त होगा। सहिता और ब्राह्मणो की धारणा है कि यज्ञ कर्म व्यक्ति को मृत्युपर्यन्त करते रहना चाहिए। यज्ञ-कर्म का त्याग समाज के लिए श्रेयस्कर नही है। उस समय यज्ञ सर्वश्रेष्ठ कर्म था और आदर्श स्वर्गप्राप्ति। यह धारणा थी कि स्वर्ग उनके लिए अप्राप्य है जो 'पुत्रहीन' हैं। उपर्युक्त उद्धरण से दो तथ्य सामने आते है— पहला पुत्र प्राप्ति के लिए (सयासाश्रम जैसा) तप और दूसरा तथ्य यह कि सम्भवत: यज्ञ कर्म से यह इच्छा पूर्ण नही हो सकती थी। एक ओर संकेत यह भी है कि तप काल-सापेक्ष हो सकता था क्योकि आकांक्षापूर्ति के पश्चात् तप-कर्म समाप्त किया जा सकता था।

तपस्-कर्म यद्यपि भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धि का साधन है लेकिन उसकी (यज्ञ के समान) निरर्थकता का भी सकेत उपनिषदो मे प्राप्त होता है। मैत्री उपनिषद् में सबसे अधिक प्रस्फुट अभिव्यक्ति हुई है। राजा वृहद्रथ ने सूर्य की ओर देखते हुए हजारो वर्षो तक तपस्या की। लेकिन अन्त मे उन्हे अनुभव हुआ कि आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिए तपस्या प्रभावहीन है। इस दृष्टिकोण को दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है, प्रथम तपस्या से (आत्म) ज्ञान नही प्राप्त हो सकता, द्वितीय आत्म ज्ञान के अभाव मे तपस्था अर्थहीन है। राजा बृहद्रस्थ ने केवल तपस्या की ओर सकेत किया ही नही वरन् सम्पूर्ण वस्तु-जगत् की क्षणिकता की ओर भी संकेत किया है एवं उसे निरर्थक बताया है। उनका प्रश्न है कि वासनाओ की तृप्ति से क्या लाभ है। काम, क्रोध, मय, विषाद, लोभ, जरा, मृत्यु, तृष्णा, क्षुधा आदि से पीड़ित शरीर की वासनाओ की तृप्ति की क्या उपयोगिता है। वास्तव मे संसार क्षयशील है। कीट-पतंगे, पशु-पक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदि सभी नश्वर है। ऐसी स्थिति मे वट शाकायन की अभ्यर्थना करता है, जैसे कोई एक जलहीन कूप से मेढक की रक्षा करे। वृहद्रथ की यह स्थिति वैराग्य की सूचक है। इसे 'सुखनिरपेक्ष वृत्ति' कहा जा सकता है।

वैराग्य

वैराग्य, सांसारिक वस्तुओ के प्रति रागात्मकता का अभाव एवं त्याग दोनो अर्थों की ओर संकेत करता है। जो समस्त सांसारिक वासनाओ से मुक्त है या जिसने उन वासनाओ का दमन कर दिया है वह वैराग्यवान् (वैरागिक) है। वैराग्य को जागतिक वस्तुओं के प्रति घृणा एवं जुगुप्सापूर्ण या सांसारिक चिन्ताओं (वासनाओं) से निर्मुक्त होना भी कहा जा सकता है। वैराग्य 'त्याग' या संसार त्याग (संन्यास) का प्रमुख तत्व है। ससार का मानसिक त्याग वास्तव मे वैराग्य की अवस्था है। (इस अवस्था को संन्यास के प्रभाव में प्राप्त किया जा सकता है)। तपस्या के समान वैराग्य भी अनुशासन की प्रक्रिया है। लेकिन दोनों में भेद है। तपस्या प्रमुखत: शारीरिक-अनुशासन है और वैराग्य मानसिक। तपस्या से यदि (वैराग्यपूर्ण) मानसिक अनुशासन उपलब्ध नही हो सकता तो वह व्यर्थ है। तपस्या वास्तव में वैराग्य के लिए पृष्ठभूमि निर्मित करती है।

वैराग्योत्पत्ति का कारण क्या है ? पुनर्जन्म (ससार संसरण) और कर्म सिद्धान्त के विकास को इसका प्रमुख कारण कहा जा सकता है । दोनो सिद्धान्त अन्योन्याश्रित हैं । पुनर्जन्म एव कर्मवाद के कारण मनुष्य अनन्तकाल तक बन्धग्रस्त है । उसे बार-बार जीवन मृत्यु का सामना करना होगा । कर्मवाद का सिद्धान्त है कि मनुष्य काम, सकल्प और कर्म का समीकरण है । जैसी उसकी कामना होगी वैसा उसका संकल्प होगा । संकल्पानुसार उसका कर्म होगा एव कर्मानुसार वह फल (पुनर्जन्म) प्राप्त करेगा । मनुष्य बारम्बार जन्म ग्रहण करता है क्योकि उसमे कामनायें है और कामनाओ के कारण वह कर्म करता है । यदि उसे इस श्रृंखला से मुक्ति प्राप्त करनी है तो कर्म-त्याग आवश्यक है । लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण है कामनाओ का त्याग क्योकि कामना-त्याग के बिना कर्म-त्याग निरर्थक है । अनासक्ति (कामना-त्याग) भाव प्राप्त करने के लिए ससार या गृहत्याग की आवश्यकता नही है । गीता की मान्यता है कि संसार के मध्य रहकर भी अभ्यासपूर्वक इसे विजित किया जा सकता है ।

वैराग्य 'आत्मनिग्रह' की आवश्यकता है । आत्मनिग्रह वैराग्य द्वारा ही सम्भव है । अभ्यास के द्वारा वैराग्य की प्राप्ति का उद्देश्य, मानसिक दशा को अनुशासित करना, सासारिक वासनाओ पर नियंत्रण प्राप्त करना एवं ईश्वर का अनुचितन है । इस प्रकार वैराग्य मानसिक अवस्था है, जिसके द्वारा परमतत्व का चिन्तन किया जाता है, वैराग्य द्वारा जिस आत्मा के विषय मे जाना जाता है वह सबकी आत्मा है । जिसने आत्मविषयक ज्ञान प्राप्त कर लिया है वह जरा और मृत्यु से शोक मुक्त हो जाता है ।' आत्मा में स्थित ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ ज्ञातव्य पदार्थ नही है । भोक्ता, भोग्य (ससार और प्रेरक (ईश्वर)— इन तीन और प्रकार से कहा हुआ पूर्ण ब्रह्म ही (ज्ञेय) है । अत: आत्मज्ञान प्राप्ति के मध्य जो बाधा है उसे नष्ट कर देना चाहिए । आत्मज्ञान की प्राप्ति मे कौन सी बाधा हो सकती है । प्रथम स्तर पर ये बाधायें आसक्ति और मनुष्य की इच्छाये हैं जो उसे बन्धन में डालती है । द्वितीय स्तर पर इन बाधाओं के पीछे घृणा, भय, अभिमान, कर्तृव्य-अह आदि (निम्नस्तरीय) भाव है । प्रथम बाधा के विषय में कठोपनिषद् का कथन है कि 'जब सम्पूर्ण कामनाये उसके हृदय मे आश्रय करके रहती है (छूट जाती हैं) उस समय वह मर्त्य अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है ।' गीता द्वितीय प्रकार की बाधाओ को विजित करने के लिए अभ्यास और वैराग्य का आश्रय लेती है ।

आत्मज्ञान और संन्यास

वैराग्य से प्राप्त 'अकामता' सर्वश्रेष्ठ आनन्द है । निष्कामता वैराग्य से प्राप्त होती है और वैराग्य भावना ज्ञान के अभाव में उत्पन्न नही हो सकती । आत्म ज्ञान क्या है ? मुण्डकोपनिषद में दो प्रकार की विद्याओं का वर्णन है, अपरा विद्या और परा विद्या । अपरा विद्या वेद, व्याकरण, निरुक्त छन्द, ज्योतिष आदि शास्त्रों का ज्ञान है । परा विद्या वह है जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जाता है । अपरा विद्या से ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकता । दोनों का भेद नारद और सनत्कुमार के संवाद से स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है । नारद का कथन है कि 'मैंने समस्त वेद, इतिहास, पुराण, गणित शास्त्र, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, अस्त्रविद्या, मंत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, भूतविद्या, देवविद्या, आदि का ज्ञान प्राप्त किया है । लेकिन यह सब ज्ञान भी शोक सागर से पार नही करा सका है । विविध मन्त्रों का अध्ययन करने पर मुझे आत्म-तत्व का ज्ञान नही है । यह अवतरण

अपना विद्या की निरर्थकता को स्पष्ट करता है ।

आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए तपस्या और यज्ञ आदि कर्म अनुपयोगी हैं । बृहदारण्यक मे यज्ञ और तप दोनो को पितृलोक की प्राप्ति का मार्ग बताया गया है । तप और यज्ञ दोनो ही ज्ञान के सम्मुख निरर्थक हैं । छान्दोग्य मे तप का स्थान वानप्रस्थी को प्राप्त है । मुण्डकोपनिषद मे कहा गया है कि आत्मा की प्राप्ति सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य से हो सकती है, लेकिन साथ ही आत्मा को प्रवचन, अथवा श्रवण द्वारा अलभ्य माना गया है । (संन्यास युक्त ज्ञान और तपस्या एवं कामना-त्याग से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है । वास्तविकता यह है कि आत्म तत्व उसी को प्राप्त होता है जिसकी वह इच्छा करता है ।) तैत्तिरीय उपनिषद् वेदाध्ययन एवं तपक ो समान रूप से महत्व प्रदान करती है । महानारायणोपनिषद् ने त्याग (न्यास) को तप से श्रेष्ठ बताया है । तप आदि कर्म को यद्यपि ज्ञान प्राप्ति के लिये निरर्थक कहा गया है लेकिन कुछ उपनिषदो मे तप को महत्वपूर्ण माना जाता है ।

ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति उन व्यक्तियो को होती है जो शान्त श्रद्धा और तप का आचरण करने वाले है । पूर्ववर्ती उपनिषदो मे तप को ब्रह्म प्राप्ति का साधन स्वीकार नही किया गया है जबकि पश्चातवर्ती उपनिषदो मे वह साधन के स्वीकृत है । तप के अर्थ मे परिवर्तन भी हुआ । परिवर्तित अर्थ के अनुसार 'तप' वेद मे उल्लेखित कुच्छ्र और चान्द्रायण आदि व्रतो द्वारा शरीर को क्षीण करने की क्रिया है । मोक्ष क्या है एवं आत्मा किस प्रकार और कैसे बन्धनग्रस्त होता है आदि प्रश्नो पर विचार करने को ही तत्वज्ञ तप कहते हैं । वृहदारण्यक ने तो रोग और मृत्यु को भी तप के समकक्ष रखा है । 'जरादि व्याधियों से जो कष्ट होता है, उसको परम तप समझना चाहिए । जो यह जानता है, वह परमलोक पर विजय प्राप्त कर लेता है । (तप की भावना के कारण शारीरिक कष्ट होते हुए भी दु:ख नहीं होता और तप का फल प्राप्त होता है ।) मृत मनुष्यो को वन में जलाने के लिये ले जाना भी तप है । (मृत्यु में तप की भावना से मरण-कष्ट नहीं होता और अन्तकाल में मन में तपस्वरूप परमात्मा की स्मृति रहने से परम तत्व की उपलब्धि होती है ।)

उपनिषद् में प्राय: तप के साथ ब्रह्मचर्य का उल्लेख आया है । 'समिधा, मेखला' द्वारा अपने व्रत का पालन करता हुआ ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को समुन्नत करता है । छान्दोग्य के अनुसार वास्तविक यज्ञ ब्रह्मचर्यावस्था है । 'जिसे परम पुरुषार्थ का साधन रूपी यज्ञ कहते है वह ब्रह्मचर्य ही है क्योकि जो ज्ञाता है वह ब्रह्मचर्य द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है जिसे 'इष्ट' कहते हैं । वह भी ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि उसके द्वारा उपासना करके पुरुष आत्म तत्व को प्राप्त होता है । यज्ञ के समान तप भी ब्रह्मचारी का प्रतीक (साधन) कहा गया है ।' उस परम तत्व को ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और निष्काम तप द्वारा जानने की आकाक्षा करते है । इस प्रकार ब्रह्मचर्यावस्था तप का साधन मात्र नही है वरन् उससे आत्म तत्व को जानने का प्रयास किया जाता है । छान्दोग्य उपनिषद् में नैष्ठिक ब्रह्मचारी का उल्लेख आया है जिसके अनुसार गुरु के आश्रम में जीवनपर्यन्त निवास करना नैष्ठिक ब्रह्मचर्य है । नैष्ठिक ब्रह्मचारी संन्यास की समीपवर्ती अवस्था है जिसे ब्रह्मचर्य काल में ही ग्रहण किया जा सकता है । (नैष्ठिक ब्रह्मचारी की स्थिति विविदिषा संन्यासी के समान है । वह जीवनपर्यन्त आचार्यकुल में निवास करता हुआ आत्म चिन्तन करता है ।) इस प्रकार ब्रह्मचर्यावस्था

केवल तपश्चर्या की अवस्था नही है वरन् ब्रह्म प्राप्ति का एक साधन है । छान्दोग्य में ब्रह्मचर्य को 'ब्रह्म' अनासक्तमन) कहा गया है । ब्रह्मचर्यावस्था जीवन के प्रति अनासक्ति-भाव का विकास क्रम भी है । शरीर और आत्मा के मध्य कोई खाई नही है । खाई केवल पतित और रूपान्तरित शरीर के मध्य है । मन को आत्म-चिन्तन मे सचरित करना ब्रह्मचर्य की सर्वोत्तम अवस्था है । इसलिए छान्दोग्य मे उसे मौन कहा गया है । क्योकि ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मा को जानकर पुरुष मनन करता है । जिस आत्मा को जानकर जीव सम्पूर्ण लोको और सम्पूर्ण भोगो को प्राप्त कर लेता है उस आत्मा को जानने के लिए इन्द्र और विरोचन ने ब्रह्मचर्यवास किया । जिस प्रकार ब्रह्मचर्य से ब्रह्म को जाना जाता है उसी प्रकार 'तप' के द्वारा भी ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हो सकता है, 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा करें । तपस् एक प्रकार से मानसिक समर्पण या मानसिक अवस्था है, जिसके अभाव में तपस्या अर्थहीन है । तपस्या की सार्थकता (सफलता) श्रद्धा एवं ब्रह्मचर्य (भाव) पर निर्भर है । जो तप और ब्रह्मचर्य का आचरण करते है उन्हे ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है । भिक्षा चर्य्या (संन्यासवृत्ति) का आचरण करते हुए तप और श्रद्धा का सेवन करने वाले (वानप्रस्था: सन्यासिनश्च) अमृत और अव्ययात्म स्वरूप पुरुषं— लोक को प्राप्त होते है । यही पर कहा गया है कि तप ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या (ज्ञान) द्वारा, जो आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करते है, वे परम गति को प्राप्त होते है । इस प्रकार ज्ञान को भी तपस्या और ब्रह्मचर्य के समान परमतत्व का साधन माना गया है । स्वाध्याय भी तप का एक रूप है । मुण्डकोपनिषद् में तप को ज्ञानमय कहा गया है ।

ब्रह्मचर्यावस्था संन्यास के अत्यधिक समीप है, क्योकि ब्रह्मचर्य में वैराग्यसाधना और आत्म ज्ञान प्राप्ति दोनो की सम्भावना अधिक रहती है । आत्म ज्ञान का अभाव होने पर भी जो तपस्या आदि क्रियाओ मे लीन है, वह हजारो वर्ष तपस्या करने पर भी केवल सीमित पुण्य प्राप्त कर सकता है । यज्ञ और तप की सफलता आत्म ज्ञान की उपलब्धि मे निहित है न कि साधारण भौतिक फलों की प्राप्ति में । अत: जो इस संसार में अक्षर तत्त्व को न जानकर यज्ञ करता और अनेक सहस्र वर्षों पर्यन्त तप करता है उसका वह सब कर्म नाशवान् (व्यर्थ) ही होता है । इस अक्षर ब्रह्म को जाने बिना जो मृत्यु को प्राप्त होता है वह दीन है । जो व्यक्ति इस अमृतत्व (आत्मतत्व) का ज्ञान प्राप्त कर इस लोक मे मुक्ति प्राप्त करता है वह 'ब्राह्मण' है । ब्रह्मसंस्थ, ब्रह्म मे सम्यक् रूप से स्थित हो, अमृतत्व को प्राप्त होता है ।

उपनिषदो की घोषणा है कि संसार और आत्मा ब्रह्ममय है— समस्त विश्व ब्रह्म है । उसी से उत्पन्न होने वाला, उसी मे लीन एवं चेष्टा करने वाला है । सर्वकाम, सर्वकर्म, सर्वगन्ध एवं सर्वरस को परिव्याप्त करने वाला मेरी आत्मा हृदय के मध्य स्थित है । यही ब्रह्म है । इस प्रकार यज्ञ परम्परा मे कर्मकाण्ड का स्थान एक नवीन रहस्यात्मक चिन्तन ले रहा था । इससे यज्ञ पर भी इस चिन्तन का प्रभाव पड़ रहा था । (औपनिषदिक अवधारणा परम तत्व को जानने का प्रयास कर रही थी ।) ब्राह्मण परम्परा ने इस नवीन आयाम और चिन्तन को (संभवत: अपने पौरोहित्य स्वभाव के कारण) सहिष्णुतापूर्वक स्वीकार करने की चेष्टा की । ब्राह्मणों ने इस चिन्तन को अपने दृष्टिकोण के अनुसार एक नवीन स्वरूप प्रदान किया और उसने अपनी व्यवस्था में चार आयामों की स्थापना की चेष्टा की, जहाँ वानप्रस्थ एवं संस्थापक को हिन्दू धर्म का आवश्यक और महत्वपूर्ण अंग के रूप मे प्रतिष्ठित किया ।

आश्रम व्यवस्था की महत्ता प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य संतुलन स्थापित करने मे है। प्रवृत्ति केवल स्वार्थपूर्ण वृत्ति (कर्म) नही है, वरन् उसकी सफलता स्वार्थपूर्ण वृत्तियों को वश मे करने मे है। निवृत्ति और प्रवृत्ति मे भेद गुणात्मक नही है वरन् परिमाणगत है। निवृत्ति सम्पूर्ण वृत्तियो का पूर्ण निरोध है और प्रवृत्ति सीमित वृतियो पर नियत्रण है। सांसारिक जीवन को भी सुखमय बनाने के लिये प्रवृत्तियो पर नियत्रण होना अनिवार्य है।

छान्दोग्य मे आश्रम अवस्था के स्वरूप का सीमित वर्णन है। धर्म को तीन स्कन्धो के रूप मे स्वीकृत किया गया है। प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत 'यज्ञ अध्ययन और दान' की गणना की गई है। जो गृहस्थ के कर्तव्य है। द्वितीय स्कन्ध तप का है— कुच्छ्चान्द्रायणादि से मुक्त तपस्वी या परिब्राजक। वानप्रस्थी से आशा की जाती है कि वह यज्ञ मे व्याप्त रहस्यात्मक तत्वो का अनुचिन्तन और अन्वेषण करेगा। आचार्य कुल में रहने वाला ब्रह्मचारी जो अपने शरीर को क्षीण कर देता है, तीसरा स्कन्ध है। (इसका तात्पर्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी से है)। चतुर्थ आश्रम के रूप मे उस संन्यासी की प्रतिस्थापना है जिसने ब्रह्म और आत्म तत्व की एकता का अनुभव कर लिया है। प्रथम दो स्तरो पर मनुष्य इस ससार मे अपनी समस्त शक्तियो के साथ अनुरक्त रहता है। अन्तिम दोनो दशाओ मे उसका कर्तव्य सांसारिकता से अपने आप को क्रमश: मुक्त कर ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा करना है।

प्रवृति एव निवृति के उपर्युक्त मार्ग आत्मस्वरूप की परिपूर्णता के लिए आधार स्वरूप है। जावालोपनिषद् मे सर्वप्रथम चारो आश्रमों का क्रमानुसार उल्लेख मिलता है। प्रारम्भ में चारो आश्रमो मे एक क्रमबद्धता थी लेकिन समस्या उस समय उठी जब एक आश्रम को अतिक्रमित कर द्वितीय आश्रम मे प्रवेश करने की आकांक्षा तीव्र होती गयी। वास्तविकता यह थी कि आश्रम-व्यवस्था की स्थापना प्रत्येक मानव को आध्यात्मिक शिखर तक पहुँचाने के लिए की गई थी, लेकिन कुछ लोक एकाएक इस व्यवस्था के क्रम की उपेक्षा कर संन्यासाश्रम ग्रहण कर लेते थे।

यदि आश्रम-व्यवस्था की क्रमिकता को अक्षुण्ण रखा जा सके तो कर्म और संन्यास के बीच किसी प्रकार की विवादपूर्ण स्थिति शेष न रहे। क्योकि आश्रम व्यवस्था मानव को उसके अर्न्तमन में स्वाभाविक रूप से स्थित जगत् से एकाएक विरक्त हो जाने की आशा नही करती। यह अंतर्मन को विकसित करने की एक प्रणाली है, जिसके द्वारा क्रमश: संसार और सांसारिक कर्मो के प्रति आसक्ति भाव का त्याग संभव हो सकता है।

उपनिषद्काल में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम में सम्भवत: भेद नही था। दोनो आश्रमो की अभियोजना मे संसार-त्याग का आधार एक ही था। अत: उपनिषदो में इन दोनो आश्रमो को एक साथ वर्णित किया गया है, पृथक-पृथक नही। इसका कारण यह है कि 'मुनि' शब्द वानप्रस्थी और संन्यासी दोनों सन्दर्भो में समान रूप से प्रयुक्त है। चतुर्थ आश्रम क्रमश: आश्रमेतर रूप ग्रहण कर रहा था। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने संन्यासी को 'अत्याश्रमिभ्य:' की संज्ञा दी है।

संन्यासियों का आत्याश्रमी और अतिवर्णात्मक रूप क्रमश: विकसित हुआ। उनके इस स्वरूप ने उन्हें 'ज्ञान' अथवा ब्रह्मज्ञान के समीप पहुँचा दिया। लेकिन वे वैदिक परम्परा से पूर्णतया मुक्त नहीं थे। संन्यास-परम्परा की महत्ता इस तथ्य में विहित है कि उसका क्षेत्र 'अन्तर्जगत्' प्रभावित है। 'मनन' का यहाँ प्रमुख स्थान है। जिसके प्रभाव से यज्ञ

के अर्थ मे भी परिवर्तन हुआ था। मनन आत्म-चिन्तन की प्रक्रिया है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ज्ञान को सन्यास से समायोजित करते हुए प्रतिपादित करती है कि 'ब्रह्मज्ञानी लौकेष्णा वित्तेषणा एव पुत्रेषणा का त्याग कर देता है और परम मुक्त भाव से विचरण करता है। ज्ञान का स्वरूप क्या है ? श्वेतकेतु यह स्वीकार करते है कि समस्त वेदो का अध्ययन करने पर भी उन्हे वह वास्तविक ज्ञान नही प्राप्त है जिसके द्वारा बिना सुना, सुना हुआ हो जाता है और बिना सोचा, सोचा हुआ हो जाता है एवं न समझा हुआ समझने योग्य हो जाता है। अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने पर भी आत्म ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती।

वेद अध्ययन, यज्ञ, दान, तप, उपवास आदि क्रियाये बाह्य रूपा है। जबकि शान्त– (इन्द्रिय व्यापारो से उपशान्त) दात (अन्तःकरण की तृष्णा से निवृत्ति, उपरत (सम्पूर्ण एषणाओ से रहित) तितिक्षा (सर्दी, गर्मी, सुख– दुःखादि द्वन्द्वो को सहन करना) एवं समाहित (ध्यानावस्था) ज्ञान के आन्तरिक स्वरूप है।

उपनिषदो के उपर्युक्त उद्धरण संन्यास को ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के साधन के रूप मे अभिनियोजित हुए समझे जा सकते है। संन्यास मात्र नकारात्मक पहलू नही है। वरन् यह आध्यात्मिक प्रगति की पूर्णता का द्योतक है परम ब्रह्म एवं आत्म तत्व की एकता का ज्ञान परमज्ञान की अवस्था है और संन्यास इसे ज्ञान को प्राप्त करने का एक साधन है। संन्यास के दो रूप हो सकते है। पहला– ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् सन्यास ग्रहण, दूसरा ज्ञान प्राप्ति के लिए संन्यासाश्रम मे प्रवेश। दोनो दशाओ मे प्रथम पक्ष आश्रम की क्रमबद्धता की उपेक्षा करता है। उपनिषद् इस संदर्भ मे सचेत है कि मनुष्य संन्यास कब ग्रहण करे।

मुण्डकोपनिषद् की यह प्रतिस्थापना सीमित है जिसमे कहा गया है कि शिष्य जब तक अपने शिर पर अग्नि वहन, जैसा कठोर कार्य पूर्ण न कर ले तब तक वह आत्म ज्ञान का अधिकारी नहीं है। यह अवतरण एक चेतावनी जैसा है। जिसका अभिप्राय निकाला जा सकता है कि जब तक मनुष्य 'मुण्डित' (संन्यासी) नहीं है अध्यात्म-मार्ग में प्रवेश का अधिकारी नही है। इसका अर्थ क्या यह है कि केवल संन्यासी ही अध्यात्म योग का साधक हो सकता है, क्या उपनिषद् सन्यास को ही अध्यात्म ज्ञान का एक मात्र साधन ही मानते है ? उपनिषद् संन्यास को ही अध्यात्म ज्ञान का एक मात्र साधन नही मानते, वरन् 'शरीर जब समस्त कल्पसो से मुक्त होकर शुद्ध होता है तभी मनुष्य ब्रह्म की महत्ता का अनुभव कर सकता है।

सन्यास नही वरन् आत्म शुद्धि परम तत्व की प्राप्ति का कारण है। संन्यासी यदि काममय है तो उसे ज्ञान प्राप्य नही हो सकता। (काममय संन्यासी वास्तविक संन्यासी नही कहा जा सकता, (वह केवल अपने बाह्य आवरण के कारण संन्यासी कहा जा सकता है)। विविध आनन्द वासना-विमुक्त संन्यासी को ज्ञान का अधिकारी माना गया है। अकामता या निष्कामना सर्वश्रेष्ठ आनन्द है लेकिन यदि वासनामुक्ति वास्तविक आनन्द है तो यह नही कहा जा सकता कि उसकी तुलना भौतिक आनन्द से किसी प्रकार हो सकती है। ब्रह्म ज्ञानी संन्यासी का आनन्द किसी पुरुष के भौतिक सुख के परिणाम से मापित नहीं किया जा सकता, चाहे उसके भौतिक जीवन का आनन्द कितना ही उच्च या श्रेष्ठ क्यो न हो।

दोनो मे परिमाणात्मक नही वरन् गुणात्मक भेद है।

आत्मज्ञानी का आदर्श क्या है ? उसकी भावनाये कैसी होती है। ईशोपनिषद् बताती हैं कि जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है उसके लिए समस्त वस्तुये आत्मा ही हो जाती है। उसके समक्ष किसी प्रकार का शोक मोह कामना आदि शेष नही रहती। जिस प्रकार जल बिन्दु कमल पत्र पर स्थिर नही रह पाते उसी प्रकार वासना रहित मनुष्य अनासक्त रहता है। उसके लिए न कोई कर्म प्रायश्चित स्वरूप है, न पाप, न पुण्य। वह अपने किये गये कर्म के विषय मे पापकृत् या पुण्यकृत नही सोचता। वह द्विविधाओ से विमुक्त है। वह नैतिक एव अनैतिक भाव से परे है। यह संसार के प्रति उपेक्षा का भाव नही है, वरन् संसार की विषमताओं और उसके द्वन्दो पर विजय है। साथ ही उसका अर्थ यह नही है कि वह इच्छाओ को महत्व नहीं देता है। इतना अवश्य है कि इच्छाओ मे उसकी आसक्ति नही है। उनसे वह मुक्त है ज्ञानी के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति से उपर्युक्त आचरण की आशा नही की जा सकती। कृष्ण अर्जुन को जब कर्मशील होने का उपदेश देते हैं तो इसका तात्पर्य यही है कि सांसारिक कर्मो को भी पूर्ण योग्यता के साथ उसी अवस्था में किया जा सकता है जब परिस्थितिजन्य ज्ञान व्यक्ति को हो एव वह कर्म मात्र से आबद्ध न रहे। कर्म का त्याग नही वरन् कर्म मे निहित आसक्ति पर विजय प्राप्त की चेष्टा करना गीता का प्रमुख संदेश है।

गीता का यह विचार कि व्यक्ति को कर्मवान् होने के साथ-साथ ज्ञान प्राप्ति के लिए भी सचेष्ट रहना चाहिए, विरोधात्मक प्रतीत हो सकता है। हिन्दू धर्म मे ज्ञान को संन्यास का (प्रधान) लक्षण माना गया है। ज्ञान की व्यावहारिक चरमावस्था 'संन्यास' है। श्रुति का कथन है कि, क्षुधा-पिपासा, शोक, मोह जरा और मृत्य से परे आत्मतत्व को जानकर ब्राह्मण विरक्त होकर भिक्षाचर्या के लिए विचरण करते हैं। आत्मवेक्ता ब्रह्म को जानकर भयहीन हो जाता है। ज्ञान के अतिरिक्त परम्परा की प्राप्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है अत: ज्ञान प्राप्ति के लिए संन्यास न लेने पर अनेक सांसारिक बन्धन या कर्म ज्ञान प्राप्ति मे बाधक हो सकते हैं। यह वैचारिक दृष्टिकोण संन्यास (भावना) को सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित करता है।

एकाएक संन्यास ग्रहण करने की भावना क्या अपने आप में विरोधात्मक नही है। उसकी स्थिति क्या है ? संन्यास (ग्रहण) की दो स्थितियाँ हैं। प्रथम है आश्रमव्यवस्थानुसार वृद्धावस्था में संन्यास लेना। यह स्थिति एक प्रकार से सामाजिक कर्मों से निवृत्ति है। समस्त पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यो को पूर्ण करने के पश्चात् शांतिपर्वूक जीवन यापन करने की आकांक्षा भी इसमें विद्यमान रहती है। संन्यास की इस स्थिति का कर्म से कोई विरोध नही है क्योकि मनुष्य ने अपने करणीय कर्तव्य सम्पूर्ण कर लिया है उसके लिए अब कुछ भी करणीय नही है। भावी कार्यक्रम वह अपने पुत्र पौत्रादि को समर्पित कर चुका है। द्वितीयावस्था ज्ञानपूर्वक संन्यासग्रहण करने की है। इसमे वैराग्य वृत्ति की प्रधानता यहाँ ससार की नश्वरता और परिवर्तनशीलता के प्रति निर्वेद भाव विद्यमान है। जाबालोपनिषद् मे इस प्रसग का वर्णन इस प्रकार किया गया है संन्यास लेने में कोई नियम नहीं है व्रती हो या अव्रती स्नातक हो या नही स्त्री के मरने के उपरान्त अग्नि त्याग किया हो या अग्नि ग्रहण संस्कार न किया गया हो, किसी भी अवस्था में जब मन में वास्तविक वैराग्य उत्पन्न

हो जाय उसी समय संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। वैराग्य स्थिर रहे इसके लिए ज्ञानोपलब्धि आवश्यक है। ज्ञान के अभाव मे वैराग्य की स्थिति कुछ समयोपरान्त समाप्त हो सकती है लेकिन वैराग्य उत्पन्न हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नही है। पश्चात् 'सर्वान्कामनाप्त' होने की सम्भावना अधिक है जब हृदय मे आश्रित सम्पूर्ण कामनाओ का नाश हो जाता है तो वह 'मरणधर्मा' अमृतत्व प्राप्त कर लेता है और उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

समस्त आकांक्षाओ के समाप्त हो जाने पर क्या संन्यास ग्रहण करना अनिवार्य ही है। यह प्रमुख प्रश्न है। गीता ने दूसरा समाधान किया है। कर्म को योग्यतापूर्वक सम्पादित करने के लिए ज्ञान आवश्यक है। पुन: कर्मबन्धन से मुक्त हो सकने के लिए कामना मुक्ति भी अनिवार्य है। कामना पर विजय ज्ञान के अभाव मे नही पाई जा सकती। इन परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्धो की व्याख्या के पश्चात् गीता का निष्कर्ष है कि सम्यक् ज्ञान होने पर कर्मबन्धनकारक नही हो सकते क्योंकि कामनाओ पर ज्ञानी का पर्याप्त नियंत्रण है। अत: ऐसी अवस्था में यदि कर्म बन्धनकारक नही है तो उन्हे प्रत्येक ज्ञानी को करना ही चाहिए क्योकि कर्म संसार की गतिशीलता के लिए अनिवार्य है। गीता के अनुसार लोक सग्रहार्थ कर्म आवश्यक हैं उनके अभाव मे ससार नष्ट हो सकता है। साधारण पुरुष ज्ञानी के आचरण का अनुसरण करते है अत: उसे कर्म-त्याग नही करना चाहिए, इसलिए हे अर्जुन, कृष्ण का कथन है, 'यद्यपि मुझे तीनो लोको मे कुछ भी कर्तव्य शेष नही है तथा प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नही है, तो भी मै कर्म मे ही बरतता हूँ।' यदि मैं सावधान हुआ कर्म बरतूं तो सब प्रकार से मनुष्य मेरे बरताव को बरतने लग जाये।

सामान्य दृष्टि से कहा जा सकता है कि अपनी समस्त तर्कपूर्ण प्रतिस्थापनाओ के पश्चात् भी गीता की प्रवृत्ति सन्यास-भाव को प्रतिष्ठित करना है। गीता संन्यास की अनिवार्यता को महत्व नही देती है लेकिन उसके निष्कर्ष का स्वरूप ज्ञानात्मक है। कृष्ण का अर्जुन के परामर्श है कि 'शरीर और आत्मा दोनो पृथक है। शरीर के अवसान का अर्थ आत्मा की मृत्यु नही है। संसार के समस्त कर्म शरीर द्वारा ही होना सम्भव है फिर शरीर को महत्वहीन बताने का क्या अर्थ है। शरीर महत्वहीन नही है केवल नश्वर प्रकृति के कारण उसका शाश्वत आत्मा के समकक्ष नही रखा जा सकता। गीता की अपेक्षा यह है कि निष्काम प्रवृत्ति को सुदृढ करने के लिए कर्ता, शरीर और आत्मा के मध्य के विभेद के प्रति सचेत होना अनिवार्य है।

सन्यास संकल्पना के विषय मे एक महत्वपूर्ण जिज्ञासा है जो उसमें व्याप्त विरोधाभास को अधिक मुखरित करती है। प्रश्न हो सकता है कि वैदिक कर्म प्रधान मान्यता और उस समय के जीवन का उत्साह किस प्रकार आत्म ज्ञान की ओर उत्सुक हो उठा या संन्यास जैसी 'नीरस वृत्ति' का पोषक बना। अल्बर्ट श्वात्जर इसका कारण कर्मवाद एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त से जोड़ते हैं। क्योकि कर्म और पुनर्जन्म का चक्र निर्मित होते ही मुक्ति का प्रयास प्रारम्भ हो जाता है। कुछ विचारको की दृष्टि मे मुक्ति का अन्तिम साधन ज्ञान-मात्र हो सकता है। लेकिन सम्पूर्ण हिन्दू धर्म की परम्परा इसे स्वीकार नही करती है। हिन्दू धर्म ने संसार से परे नहीं वरन् संसार में रहकर ही उससे मुक्त होने के विषय मे अधिक रुचि प्रदर्शित की है। गीता इसका उदाहरण है। यह (अनिवार्य रूप से) नहीं कहा जा सकता कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त निराशावादिता या पलायनवादिता को प्रश्रय देता है और संन्यास उसकी मुक्ति प्राप्त कर सकने की अनिवार्य शर्त है।

पुनर्जन्म को यदि, निराशा उत्पन्न करने वाला सिद्धान्त कहा जा सकता है तो उसी नैतिकता का आधार प्रस्तुत करने वाला भी कह सकते है । पुनर्जन्म का सिद्धान्त हमारे समक्ष नैतिकता का एक आधार भी प्रस्तुत करता है और नैतिक व्यवस्था के सुदृढ नियम को स्थापित किया है । पुनर्जन्म के प्रति एक और आशावादी धारणा सम्भव है । व्यक्ति को सन्तोष हो सकता है कि उसका अस्तित्व वर्तमान जीवन के पश्चात् ही समाप्त नही हो जायेगा । अत: इसकी सम्भावना है कि वह यह विचार भी करे कि इस जन्म मे जिन कर्मो को पूर्ण नही कर सका है अगले जन्म मे करेगा । लेकिन इस तथ्य की भी उपेक्षा नही की जा सकती कि हो सकता है कि साधारण व्यक्ति को इस प्रकार का विचार अरुचिकर प्रतीत न होता हो, किन्तु युग के विचारको के लिये पुनर्जन्म का भाव आकर्षक नही था । अत: उनकी दृष्टि मे जन्म-मरण चक्र से मुक्ति का मार्ग खोजना अनिवार्य था और उस मार्ग को कर्म-संन्यासयुक्त ज्ञान द्वारा पाने की चेष्टा की गई ।

तप और संन्यास दु:खमय, असन्तोषपूर्ण संसार से पलायन का साधन मात्र नही था । संन्यास ग्रहण करने का कारण ज्ञान प्राप्ति की आकांक्षा थी जिसे उस समय तीव्रता से अनुभव किया जा रहा था । यज्ञ और तप तो निरर्थकता के विषय मे भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया । छान्दोग्य उपनिषद् में वह ज्ञान एवं अन्य समस्त प्रकार की विधाओं की व्यर्थता के विषय मे सकेत किया गया है । इससे ज्ञात होता है कि आत्म ज्ञान के लिये शास्त्रीय अध्ययन तप और सन्यास दु:खमय एवं संतोषपूर्ण ससार से पलायन मात्र नही था । विधायात्मक रूप से इसकी प्रेरणाज्ञान की आकाक्षा थी । तप के महत्व को स्वीकार करते हुए मैक्सबेवर ने लिखा है कि मनुष्य अपने तपोबल से देवो को अपनी सुखोपलब्धि के लिए विवश कर सकते है । इसके साथ ही ओम् के जप से भी मानव मन को शांति का भौतिक पदार्थो से निवृत्ति प्राप्त हो सकती है अन्त मे मोक्षोपलब्धि का वर्णन किया गया है । तप के क्षीण होने पर पुन. मानव जन्म मे आकर ही मोक्षा प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार ब्राह्मणिक विचारधारा का स्वर्ग ही चरम लक्ष्य नहीं रहा । सन्यास के विकास का कारण ज्ञान प्राप्ति की आकांक्षा थी जिसे उस समय तीव्रता से अनुभव किया जा रहा था । यज्ञ और तप की निरर्थकता के विषय मे भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया । छान्दोग्य उपनिषद् में वेद-ज्ञान एवं अन्य समस्त प्रकार की विधाओ की व्यर्थता के विषय में संकेत मिलता है । इससे ज्ञात होता है कि आत्मज्ञान के लिए शास्त्रीय अध्ययन (ज्ञान) की नही वरन् विशेष प्रकार की साधनाओ की आवश्यकता थी । इन साधनाओं ने ही प्रकारान्तर से संन्यास-भावना को अधिक दृढ़ किया । उपनिषद्काल मे विकसित आत्मज्ञान प्राप्त करने की परम्परा में उस समय परिवर्तन आया जब आश्रम-व्यवस्था मे ब्राह्मणयुगीन पुरोहित वर्ग ने 'वर्णाश्रम व्यवस्था एवं पुरुषार्थ' का आदर्श स्थापित करने की ओर दृष्टि डाली । समायोजन की यह योजना 'आत्मज्ञान' को अपने उदर में समाहित कर लेने का प्रयास थी, जिसके साथ महाकाव्यकालीन परम्परा का विकास हुआ ।

कर्म

गीता के द्वितीय अध्याय का सैंतालिसवां श्लोक उसके सिद्धान्त की व्याख्या करता है । श्लोक के शाब्दिक अर्थ से ज्ञात होता है कि उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय फलत्याग के साथ कर्म करना है लेकिन शंकर ने इसकी व्याख्या इस अर्थ को ध्यान में रखकर की है कि अर्जुन अभी तत्वज्ञान का अधिकारी नही है इसलिए उसे अनासक्त भाव से कर्म

करना चाहिए।[७७] श्लोक की उपर्युक्त व्याख्या शंकर के इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है कि कर्म किसी रूप मे क्यो त्याज्य है। अनासक्त कर्म भी जिनको गीता अत्यधिक महत्त्व प्रदान करती है, उनकी दृष्टि मे केवल चित्त शुद्धि के साधन मात्र है।

शकरानुयायी मधुसूदन सरस्वती ने अर्जुन के लिए 'अयोग्य' शब्द का प्रयोग किया है। वे उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते है : कि तुम (अर्जुन) अशुद्ध अन्तःकरण वाले हो और तात्विक-ज्ञान प्राप्त करने मे अयोग्य हो, अतः चित्त की शुद्धि करने वाले कर्मो मे ही तुम्हारा अधिकार है, ज्ञाननिष्ठा रूप विचारादि कर्म-त्याग (सन्यास) मे नही।[७८]

मोक्ष प्राप्ति के लिए ब्राह्मणयुगीन कर्म मार्ग के साथ सन्यास मार्ग पहले से ही प्रचलित था। यह भी कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही इन दोनो स्वतत्र मार्गों का मोक्ष प्राप्ति के लिए अनुसरण किया जाता था। शंकर ने भी इसी धारणा को स्वीकार किया है। गीता भाष्य के उपोद्घात मे उन्होने वैदिक धर्म को दो प्रकार का कहा है— प्रवृत्ति लक्षण युक्त और निवृत्ति लक्षण युक्त। दोनों ही मार्गो का प्रयोजन निःश्रेयस् की प्राप्ति है। लेकिन शंकर अपनी इस धारणा पर स्थिर नही रह सके। उन्होंने अन्ततः गीता का निष्कर्ष निकाला कि प्रवृत्ति-मार्ग निवृत्ति रूप मे ही परिणित होकर मोक्ष प्राप्ति मे सहायक हो सकता है। कर्म, निष्काम भाव पूर्वक ईश्वरार्पण मे बुद्धि से अनुष्ठित होने पर भी, केवल चित्त शुद्धि में सहायता दे सकता है। गीता का प्रयोजन उनके मत मे संसार से मुक्ति ही है, और यह मुक्ति सर्वकर्म सन्यास पूर्वक केवल आत्मज्ञान द्वारा ही सम्भव है।[७९]

कृष्ण ने अर्जुन को संन्यास का अधिकारी नही माना, शंकर की दृष्टि मे उसके दो कारण हो सकते है। एक तो अर्जुन क्षत्रिय है[८०] अतः वह संन्यास ग्रहण का अधिकारी नही है। दूसरा कारण यह है कि अर्जुन ज्ञानी नही है क्योकि ज्ञान संन्यास का प्रमुख लक्षण है। अर्जुन अपनी प्रकृति के कारण एक कर्म साधक ही हो सकता है अतः उसे निरासक्त भाव से कर्म करते रहना चाहिए।

शंकर की दृष्टि में केवल अनासक्त होना पर्याप्त नहीं है। उनके विचार से कर्म फल के प्रति अनासक्त होने पर भी कर्म स्वयं फल उत्पन्न करने मे समर्थ है। वे अपने मत की पुष्टि के लिये इस प्रकार की शंकायें उठाते रहे हैं। लेकिन शकर ने गीता की व्याख्या पक्षपात रहित होकर नहीं की है। कामना करने पर ही कर्त्ता फलभोक्ता होता है। कामनामात्र संसार है और उसकी विस्मृति मोक्ष है।[८१] अतः निष्काम भाव से किया गया कर्म फल का कारण नही है। निष्काम भाव से एवं ईश्वरार्पण बुद्धि से किया गया कर्म फल प्रदाता नही होता। निष्काम कर्म का प्रयोजन उसकी उपयोगिता आदि के विषय मे शंका करना व्यर्थ है क्योकि निष्काम कर्म का अर्थ कर्म फल का त्याग नही वरन् उसमे निहित आसक्ति का त्याग है।

गीताकार ने गीता में ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद की स्थापना की है, यह विचार शंकर को अमान्य है। उनका विचार है कि सम्यक् ज्ञान की स्थिति में ज्ञान और कर्म में विरोध होने के कारण दोनों का समुच्चय असम्भव है। ज्ञान के अनुसार आत्मा देहादि नितान्त भिन्न और पृथक है। आत्मा मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि सापेक्ष हैं। शंकर मानते हैं कि जब

यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा देहादि से भिन्न है तब कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि धर्म निवृत हो जाते है । दोनो के परस्पर विरोध के कारण कर्म और ज्ञान का समुच्चय सम्भव नही हो सकता है । ज्ञान के पूर्व आत्मा पर कर्तृत्व आदि धर्मो का आरोप सम्भव है ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् नही । गीता मे इन दोनो निष्ठाओ को पृथक् रूप से कहा गया है ।[८२]

यज्ञ, दान, तपस्या आदि से चित्त की शुद्धि होने के पश्चात् परमार्थ विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है । ज्ञानोत्पत्ति के कारण कर्म के प्रयोजन की निवृत्ति होने के साथ व्यक्ति का कर्म भी निवृत्त हो जाता है । अत: कर्म के निवृत्त हो जाने पर बुद्धि (ज्ञान) के साथ कर्म का समुच्चय सम्भव नही हो सकता है । यदि ज्ञानी पुरुष लोक सग्रह के निमित्त कर्म मे प्रवृत्त होता है तो उसके कर्म को कर्म नही कह सकते ।

आचार्य शकर के मत मे लोकसंग्रहार्थ कर्मो का ज्ञान के साथ विरोध नही है । यद्यिपि यह अलकारिक कथन है फिर भी इस कथन से यह ज्ञात होता है कि शंकर के निर्गुणात्मवाद मे भी उन कर्मो के लिए स्थान है जो राग-द्वेष से प्रवृत्त नही है । निष्काम कर्म और लोकसंग्रहार्थ कर्मो का ज्ञान के साथ विरोध नहीं है । किन्तु इस भाव के विचार शंकर मे अत्यल्प है और इनकी संगति उनके आध्यात्मशास्त्र के साथ स्पष्ट नही की जा सकती । उनके मत मे प्रकृति के गुणो मे ही क्रियात्मकता है, आत्मा मे नही, अत: परमार्थत: कर्म और ज्ञान का समुच्चय असम्भव है । आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होने पर कर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है । अत: कर्म और ज्ञान के समन्वय का प्रयास निरर्थक है । शकर ने बलपूर्वक स्थापित किया है कि आत्मज्ञानी को सभी कर्मो का परित्याग कर देना चाहिये ।[८३] गीता तत्व ज्ञान से, न कि कर्म सहित ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का प्रतिपादन करती है । वे अपने तत्त्व ज्ञान के इस निष्कर्ष पर दृढ है कि परम कल्याण का साधन न तो कर्म है और न ज्ञान कर्म समुच्चय ही । ज्ञान को कर्म की अपेक्षा नही है ।

गीता के तात्विक आधार को निर्धारित किये बिना अहं त्याग फलासक्ति भाव तथा उसकी कर्म और संन्यास की समन्वयात्मक दृष्टि को स्पष्ट नही किया जा सकता । तत्सम्बन्ध मे दो दृष्टियॉ हैं पहला आत्मा के अन्दर परमात्मा की अनुभूति एवं दूसरा जगत् मे परम तत्त्व की व्यापकता का अनुभव । जब मनुष्य मुझे समस्त यज्ञों और तपो का भोक्ता (एवं कर्त्ता), सम्पूर्ण लोकों का स्वामी एवं समस्त प्राणियों का सुहृद जानता है तब वह शांति को प्राप्त होता है । यह कर्मयोग की स्थिति है । आग्रह इस बात का है कि ब्रह्मनिर्वाण-शान्ति के लिए अनिवार्य है कि जीव को सक्रिय ब्रह्म का और विराट् पुरुष का ज्ञान हो ।

विचारणीय प्रश्न यह भी है कि गीता में कर्म के जिस रूप की स्थापना की गई है वह सम्भवत: साधारण पुरुष्ज्ञ के लिए नही है । उसका लक्ष्य 'ज्ञानी पुरुष' है । ज्ञानी ही शुद्ध भाव से कर्मयोगी हो सकता है । इसीलिए कृष्ण ने इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया है कि वास्तविक सन्यास आन्तरिक है बाह्य नही । यही संन्यास का मूल तत्त्व है, क्योकि यदि संन्यास आन्तरिक नही है तो उसके बाह्य रूप (गेरुये वस्त्र आदि) से कोई लाभ नहीं ।

कृष्ण की घोषणा है कि 'जो कर्मफल का आश्रय लिए बिना कर्त्तव्य कर्म करता है वही संन्यासी है, वही योगी है ।' जिसे सन्यास कहा जाता है वह वास्तव में योग है, क्योंकि जिसने अपने मन के वासनामूलक संकल्पो का त्याग

नही किया है वह योगी नही हो सकता ।[८४]

जब कोई इन्द्रियो के अर्थो और कर्मो मे आसक्त नही होता है और मन की सकल्प–विकल्पात्मक स्थिति का त्याग कर देता है तो उसे 'योगात्मक' कहते है ।[८५] मुक्त पुरुष (के ही) समस्त कार्य इसी भाव के साथ होते है । वह कामनारहित, आसक्ति रहित होकर कर्म करता है, उसमे कोई अहं भावापन्न व्यक्तिगत इच्छा नही होती ।

कर्मयोगी की उपर्युक्त भाव की प्राप्ति का फल प्रथम दृष्टि से देखने पर यही प्रतीत होता है 'यह स्थिति या फल निर्वाण ही होना चाहिए । समस्त वासनाये और विकारादि विजित कर लेने के पश्चात् कर्म करना, संस्पर्शयुक्त जगत् और अनित्य ससार से किसी प्रकार का सम्बद्ध सम्भव नही है लेकिन गीता यह नही कहती कि इस योग का अभ्यास करते हुये अन्य कर्मो का त्याग कर देना होगा । इस सम्बन्ध मे उसकी दृष्टि समन्वयात्मक (मध्यमार्गी) है, यह योग उस मनुष्य के लिये नही है जो आहार-विहार, निद्रा और कर्म का त्याग कर दे, न उसके लिए है जो इनमें अत्यधिक लिप्त हो, वरन् उसे समस्त कर्म प्रयास 'युक्त' होना चाहिए । जिस पुरुष की आत्मा 'योगयुक्त' है वह आत्मा को समस्त भूतो से देखता है और समस्त भूतो को आत्मा में । वह सर्वत्र समदर्शी होता है ।[८६] जब यह दृष्टि प्राप्त कर ली जाती है तब कोई कर्म व्यक्तिगत नही रह जाता ।

उपर्युक्त स्थापना से यह समस्या उठ सकती है कि जगत् को ब्रह्ममय जानकर सासारिक कार्यो मे कोई भाग न लेकर वरन् अपनी आन्तरिक समाधि मे ही लीन रहना अधिक सुविधाजनक समझा जा सकता है, लेकिन गीता इस दृष्टि को उचित नही समझती, क्योकि कर्म करने और न करने से योगी की मानसिक अवस्था मे किसी प्रकार का अन्तर नही आता इसलिये कृष्ण का कथन है कि जो योगी एकत्व मे स्थित है और समस्त भूतों मे मुझे देखता है वह कर्म करता हुआ भी मुझमे रहता और कर्म करता है ।[८७] जीव का ईश्वर की ओर सर्वभाव से देखना ही गीता में कर्म और सन्यास के समन्वय का आधार है ।

कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व

इस सन्दर्भ मे (वेदान्त का) महत्त्वपूर्ण प्रश्नकर्त्ता के कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व भाव के विष्ज्ञय मे है । संन्यासमार्गी जीव को कर्त्ता नहीं मानते हैं ।[८८] यदि जीव कर्त्ता नही है तो फिर कर्म किस प्रकार हो रहा है, कर्म कौन करता है इसे स्पष्ट करना असम्भव है । कर्म का कर्त्ता 'वह' है या 'मैं' दार्शनिक दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है (सम्भवत: असम्भवयी) । दोनों ही विचारो में सत्यता हो सकती है । लेकिन यथार्थ सत्य इससे भिन्न है । जब तक अहकार है एव कर्तृत्वाभिमान या देहात्मबोध है, तब तक कर्म या कर्त्ता और भोक्ता 'मैं' ही हूँ [८९], यह विचार स्वीकार करना होगा ।

गीता की दृष्टि में अर्जुन की किंकर्तव्यविमूढ स्थिति 'सांसारिक अवस्था' में ग्रस्त रहने के कारण हैं । इसका कथन यही है कि 'गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रूधिर से सने हुये अर्थ और काम रूप भोगों को ही तो भोगूँगा ।[९०] अर्जुन की इस वेदना को जिज्ञासु-मन की व्यथा भी कहा जा सकता है । जब अहंकार (काम एवं संकल्प की निवृत्ति होती है और कर्म का कोई कर्तृत्व भाव शेष नहीं रहता । तब किसी भी कर्म के लिए मैं अधिकारी नहीं । अकर्मत्व का ज्ञान

होने के उपरान्त कर्म बन्धनकारी नही रहते ।[९१]

अकर्मत्व प्राप्त होने पर कर्तृत्व भाव नष्ट हो जाता है और वास्तविक रूप में कर्मफल भोक्तृत्व भी अपना नही रहता । इस अवस्था मे जीवन की सस्कारानुसार विभिन्न प्रकार की अवान्तर अवस्थायें हो सकती है । प्रकृति के गुण के द्वारा समस्त कर्म क्रियान्वित होते है ।[९२] इसे विवेक ज्ञान की दृष्टि कह सकते है ।

इस प्रकार अविवेक नष्ट हो जाने पर स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि वास्तव मे 'मै' कुछ नहीं करता, करने का अभिमान मात्र मेरा है । गुणमयी प्रकृति ही सब कुछ करती है ।[९३] प्रकृति कोई वाह्य अवस्थित तत्व नहीं हैं वरन् जीव की कर्मानुसार प्रवृत्ति या स्वभाव[९४] को प्रकृति के अर्थ मे लिया गया है । एक और दृष्टि हो सकती है कि 'मै कुछ नही करता, सब 'वह' करता है । गीता मे इसे प्रकारान्तर से स्वयमेव ईश्वर होने के कारण कृष्ण ने कहा है कि 'मै ही सब कुछ करता हूँ ।' वह कौन, प्रकृति के अधिठाता त्रिगुण संचालक परमात्मा ही समस्त कर्मो के कर्ता है ।[९५]

इसके अतिरिक्त भक्ति के विकास के साथ समझा जाता है कि वह करता है कहना उचित नही वरन् वह कराता है और उसके द्वारा प्रेरित होकर मैं करता हूँ' अधिक ठीक है, वह प्रयोजक है और मै प्रयोज्य । इसी दृष्टि को सामने रखकर कृष्ण ने अर्जुन से कहा 'निमित्त मात्र भव ।' इस दशा मे भक्ति और ज्ञान दोनो का विकास अपनी परम सीमा पर है । त्रिगुणमयि प्रकृति उनके द्वारा कार्य करती है ।[९६] प्रकृति की क्रियात्मकता से समस्त जगत् एक विचित्र अभिनय रूप मे प्रतीत गोचर होता है । सु:ख दु:ख तभी होता है लेकिन ठीक सुख दुख रूप में नही वरन् भिन्न-भिन्न प्रकार के रस के आकार मे ।[९७] इसके ऊपर एक और स्थिति हो सकती है जब साधक समझ जाता है कि 'मै कर्त्ता नही' प्रकृति मे भी कर्तृत्व भाव नही[९८] इसलिए वह भी कर्त्ता नहीं लेकिन हो रहा है । यह विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि है । कर्म कौन करता है, इस प्रश्न का उत्तर नही प्राप्त होता । कर्म स्वयमेव हो रहा ह्न स्वभाव से ही कर्म होता है । इस अवस्था मे कर्म अकर्म मे कोई पार्थक्य शेष नही रहता ।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि यह स्पष्ट होना बहुत कठिन है कि कर्म कौन करता है । उत्तर-प्रत्युत्तर के पश्चात् भी प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है लेकिन यह स्पष्ट है कि कर्त्ता चाहे जीव हो या न हो दोनों ही दशाओ में कर्म हो रहा है । यह समस्या वही की वही है क्योंकि कर्म बन्धनकारी है एवं जीव को उनसे मुक्त होना है और किस प्रकार ? यह गीता की प्रमुख समस्या है ।

गीता उस प्रकार के कर्मो मे भेद करती है जो बन्धनकारी है और जो बन्धनकारी नही है । विनोबा की दृष्टि मे गीता की शिक्षा यही है कि कर्म का त्याग न करो । वह कर्म फल त्याग का विधान करती है । इस दृष्टि से गीता का उद्देश्य है, सतत कर्म मे सलग्न रहना परन्तु फल का त्याग करना । यह गीता की शिक्षा का केवल एक पक्ष है । दूसरा पक्ष यह मालूम पड़ता है कि कुछ कर्म तो किये जायँ और कुछ का त्याग किया जाय । इस विषय में अर्जुन का प्रश्न है कि एक पक्ष तो यह है कि कोई भी कर्म त्याग पूर्वक करो और दूसरा यह कि कुछ कर्म ग्रहणीय हैं और कुछ कर्म त्याज्य । इन दोनों में संतुलन किस प्रकार स्थापित किया जा किया है । गीता में प्रतिपादित फल त्याग को प्रत्यक्ष कर्म

त्याग की आवश्यकता नही है। फल-त्याग के मापदण्ड को सामने रखकर सन्यास (ससार-त्याग) की उपयोगिता अनुपयोगिता के विषय पर विचार किया जाना चाहिए कि सन्यास व फल त्याग की भावना एक दूसरे के समीपवर्ती है या नही।

फल-त्याग मात्र ही कर्म करने की कसौटी है। जिसको मानने पर काम्य कर्म अपने आप ही त्याज्य है। उनका त्याग (सन्यास) ही उचित है। इस दृष्टि से तीन विचार सामने आते है, (१) प्रत्येक कर्म-सन्यास पूर्वक (फल त्याग पूर्वक) करना चाहिए। (२) राजस, तामस तथा निषिद्ध व काम्य कर्म फल-त्याग की भावना के साथ समाप्त हो जाते है। (३) फल त्याग भावना का भी त्याग यदि तीनो व्यक्ति को उपलब्ध है तो वह कर्मयोगी है।

कर्म, विकर्म और अकर्म

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अन्त मे यह विचारणीय है कि गीता के दृष्टिकोण मे कर्म करना श्रेष्ठ है या कर्म संन्यास। वस्तुत: संन्यासपूर्वक कार्य करना गीता की शिक्षा का उद्देश्य है। इस दृष्टि से गीता ने कर्म सम्बन्धी व्याख्या को नवीन आयाम दिये हैं। उसका उद्देश्य कर्म किस युक्ति से किये जायें यह प्रतिपादित करना है। इस तथ्य को नकारा नही जा सकता कि विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने मतानुसार गीता की व्याख्या कर उसकी व्यापक दृष्टि को सीमित किया है।

आधुनिक युग मे हिन्दू धर्म पर जीवन-निषेध के तीव्र आक्षेप किये गये। प्रत्युत्तर मे विवेकानन्द आदि ने गीता को किसी भी दार्शनिक वाद से पृथक कर उसकी शाब्दिक एवं मूलगत प्रवृत्ति की व्याख्या की। तिलक के 'गीता रहस्य' का प्रभाव बहुत अधिक पडा। यहाँ तक कि उसे भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रेरक ग्रन्थ के रूप मे देखा जाता है।

वर्तमान सन्दर्भ मे तिलक और गाँधी, का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इन दोनो विचारको की आचरण सम्बन्धी नैतिक दृष्टि मे पर्याप्त भेद है। तिलक और गाँधी नैतिकता सम्बन्धी दो भिन्न विचारो का प्रतिनिधित्व करते है। तिलक, 'शठं प्रति शाठ्यम्' की और गाँधी श० प्रति सत्यम्' की नीति के समर्थक हैं। लेकिन नीति सम्बन्धी इन दोनों दृष्टियो को जोड़ने वाली कडी अनासक्ति भावना के समान है जिसे उन्होंने गीता से ग्रहण किया है।

तिलक ने गीता की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व मीमांसकों के ग्रन्थ तात्पर्य निर्णय[९९] सम्बन्धी श्लोक का उल्लेख किया है और उस दृष्टि से गीता की व्याख्या प्रारम्भ की है। रानाडे की दृष्टि में ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने वाले चौथे अंग 'अपूर्वता'[१००] (नवीनता) का तिलक के गीता रहस्य मे विशेष स्थान है। पूर्व मीमांसा के सूत्रानुसार तिलक ने गीता की व्याख्या छओं अंगों की दृष्टि से की है और उन्होंने उसको पूर्णतया 'कर्मयोगशास्त्र' कहा है। उनके अनुसार कृष्ण के इस कथन की निष्काम भाव से युद्ध कर' या कर्म कर, अर्थवाद कहकर उपेक्षा नही की जा सकती। अर्जुन सन्यास ग्रहण करने के लिए उद्धत नही है वरन् 'किंकर्तव्य विमूढ़ संशय ग्रस्त मनुष्य है। गीता की दृष्टि से तिलक ने कर्म को श्रेष्ठ सिद्ध किया है। जो महत्वपूर्ण बात कहना चाहते हैं वह है कि बन्धन कर्म का धर्म नही है। वरन् मन का है। अत: कर्म बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का जो कुछ भी प्रयास करना है उसे आन्तरिक जगत् से प्रारम्भ करना है न कि वाह्य

कार्मिक संसार से।

तिलक के अनुसार कर्म को प्रतिपादित करने के तीन दृष्टिकोण हो सकते है। पहला है– ज्ञान हो या नही, चातुर्वर्ण्य सम्बन्धित यज्ञ यागादि कर्म अथवा श्रुति-स्मृति वर्णित कर्म करने से ही मोक्ष प्राप्त होता है। लेकिन त्रैगुण्य की प्रधानता होने के कारण ये कर्म गीता को मान्य नहीं है।[१०१] दूसरा यह कि चित्त शुद्धि के लिए कर्म करना चाहिए। वेदान्त (शकर) का यह विवेचन गीता का प्रतिपादित पक्ष नही है, क्योकि इस अर्थ के अनुसार कर्म सन्यास का पूर्वाग भाव रह जाता है। तीसरा दृष्टिकोण ज्ञान पूर्वक कर्म करना, गीता के लिए महत्त्वपूर्ण है।

आत्म ज्ञान के पश्चात् ज्ञानी सासारिक कर्म करे या न करे, गीता का यह प्रमुख-प्रश्न है। समाधान के लिए उसका उत्तर है कि ज्ञानी पुरुष को स्वधर्म एवं चातुर्वर्ण्य सम्बन्धी कर्म निष्काम बुद्धि के साथ करने चाहिए। गीता का यह दृष्टिकोण संन्यास का पूर्वाग नहीं है क्योंकि कर्मयोगी कर्म का कभी त्याग नही करता। केवल ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् कर्म त्याग करे या न करे उस दृष्टि से ही गीता में विचार नही किया गया है, वरन् उसका विवेच्य विषय यह भी है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए क्या कर्म त्याग आवश्यक है ?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में गीता का प्रति प्रश्न है क्या कर्म त्याग करने पर वस्तुत: अकर्मात्मक अवस्था प्राप्त हो सकती है।गीता को इसमे सन्देह है। केवल संन्यास से मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। गीता की रुचि संन्यास के क्रियात्मक पक्ष(दीक्षात्मक) मे नही वरन् उसके भाव पक्ष मे है। इसलिए वह वाह्य वेशभूषा को महत्व नही देती।

इस दृष्टि से पहले कर्म न करना (अकर्म) और विपरीत कर्म (विकर्म) क्या है ?[१०२] इस सम्बन्ध मे जानना आवश्यक है। तिलक की दृष्टि मे अकर्म का अर्थ कर्म त्याग करना उचित नही है।

कर्म का कर्मत्व नष्ट हो जाना ही अकर्मावस्था है। इस अवस्था को संन्यास द्वारा नही वरन् निष्काम बुद्धि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। कर्म की बन्धक शक्ति से यह निश्चय किया जाता है कि वह कर्म है या अकर्म। वास्तव मे अज्ञान मोह या हठपूर्वक कर्म संन्यास करना बन्धन का कारण है। ज्ञान युक्त कर्म प्रवृत्ति का फल मुक्ति है।[१०३] कर्म को अकर्म बनाने के लिए फल वासना का त्याग अनिवार्य है। ज्ञानी पुरुष (कर्म योगी) काम्य बुद्धि से मुक्त होकर केवल इन्द्रियो से कर्म करते है।[१०४] काम्य कर्म बन्धनकारी है। अत: त्याज्य है। लेकिन निष्काम कर्म के विषय मे यह धारणा[१०५] उचित नही हैं। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् कर्म अनावश्यक भले हो परन्तु वह उस विचार में बाधक नही है कि ज्ञानी पुरुष का ज्ञान पूर्वक कर्म करना चाहिए।

गीता को यह मत स्वीकार नही है कि ज्ञानी पुरुष को कर्म त्याग का अधिकार प्राप्त है। इसे सिद्ध करने के लिए उसने लोक संग्रहार्थ कर्म का उदाहरण दिया है।[१०६] लोक संग्रह के लिए कर्म करना निष्काम बुद्धि की दृष्टि से श्रेष्ठ से वह त्याग पूर्वक कर्म की प्रतिष्ठा प्रदान करती है। इस विचार को गीता में अनासक्त योग 'कर्म फल त्याग' और निष्काम कर्मयोग कहा गया है।

'अनासक्त योग' एक प्रकार से संन्यास का सिद्धान्त है। भक्ति ज्ञान और कर्म इस योग पर आश्रित है और इसके

द्वारा सचालित होते है। अनासक्ति भाव मे तीन तत्त्व मुख्य रूप से निहित है— १. कामना रहित कर्म, २. ईश्वरार्पण भाव से कर्मो का सम्पादन एव ३. शरीर और आत्मा को ईश्वरार्पित करना। गॉंधी की दृष्टि मे त्याग करने वाला हजार गुना अधिक प्राप्त करता है। अपने इस विचार के समर्थन मे वे एक दोहा दोहराते रहे हैं—

राम नाम के कारन सब धन डाला खाये
मूरख जाने गिर गया दिन-दिन दूना होये ॥[१०७]

कर्मफल त्याग का अर्थ फल त्याग नही वरन् उसमे आसक्ति न रखना है। अनासक्ति का अर्थ है। राग न रखना अहकार की उत्पत्ति से ही आसक्ति होती है। आसक्ति का कारण कर्म या सासारिक वस्तुओ मे अपनेपन का भाव (ममत्व) है। अत. कर्मो मे अर्कत्व भाव रखना ही अनासक्ति योग है। तीसरा शब्द है कर्मयोग (ममत्व योग उच्यते) [१०८] कर्म फल त्याग और निष्काम कर्म योग समनानार्थक है। निष्काम कर्म योग के विषय मे अधिक अलंकृत भाव से कहा जा सकता है कि फल एवं सिद्धि मे कामना का अभाव 'योग' है एवं सम वही हो सकता है जो जानता हो कि योग मे ही लाभ है। योग के अन्तर्गत शिव, सत्य तथा सुन्दर का भाव सन्निहित है। अत: कार्य-कुशलता के क्षेत्र मे अशुभ कर्मो के लिए स्थान नही है। अनासक्त कर्म योग का अर्थ इस प्रकार यह है कि किसी भी कर्म को पूरी कुशलता (क्षमता) के साथ कर्तापन का अभिमान छोड़कर किया जाय एव उसके फल से निर्लिप्त और निस्पृह रहा जाय, जिससे न तो सफलता का अभिमान हो और न असफलता से निराशा। यदि निर्लिप्तता की इस स्थिति को प्राप्त कर लिया जाय तो नित्य तृप्त पुरूष कर्मो मे भली-भॉंति बर्तता हुआ भी वास्तव में कुछ नही करता[१०९] जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है, जो देहाभिमान और ममता से रहित हो गया है, केवल यज्ञ सम्पादन के लिए कर्म करने वाले उस पुरूष के समस्त 'कर्म' समाप्त हो जाते है वह निरन्तर परम्परा के स्वरूप मे स्थित रहता है।[११०]

इस प्रकार अकर्मत्व अवस्था कर्म करते हुए भी प्राप्त की जा सकती है। गीता जो प्रमुख बात कहना चाहती है वह यह है कि यदि मनुष्य ने अपनी आसक्ति पर विजय प्राप्त नही की है तो उसका अकर्म (कर्म त्याग) अकर्म नही है। ऐसी दशा में वह कर्म त्याग करके भी मानसिक रूप से विषयभोग में लिप्त रहेगा। दूसरी स्थिति मे यदि अनासक्ति भाव प्राप्त हो गया है तो कर्म का बन्धकत्व शेष नही रहेगा अत: कर्म करते हुए भी वह बन्धन ग्रस्त नही होगा। गीता के कर्मयोग का लक्ष्य 'कर्म भाव' को नष्ट करना है। मोक्ष का सुकर्म या कर्म संन्यास सम्बन्ध नही है। वर्तमान को मोक्षावस्था कहा जा सकता है। कर्म-भाव पूर्णतया कामना जनित है अत: गीता का प्रयास कामनाजन्य कर्म से मुक्त होना है।

कर्माभाव तीन प्रकार का होता है। प्रथम कर्म का नितान्त त्याग जो (गीता की दृष्टि में) असम्भव है।[१११] द्वितीय सभी कर्मो का फल उसी क्षण प्राप्त हो जाने के पश्चात् 'कर्म' शेष नही रहता। कर्मा भाव का तीसरा रूप गीता द्वारा प्रतिपादित है, उसमें फल के प्रति आसक्ति का अभाव है। चूँकि आसक्ति रहित कर्म फल प्रदाता नही है, अत· उनमें कर्मा भाव है।[११२]

ज्ञान और कर्म के मध्य जो विरोध है, वह ज्ञान एवं काम्य-कर्मों के मध्य है। निष्काम कर्म और ज्ञान में आध्यात्मिक दृष्टि से कोई विरोध नहीं है।[११३] काम्य भाव का त्याग कर देने पर ज्ञान और कर्म के मध्य दिखाई देने वाला विरोध

समाप्त हो जाता है । काम्य भाव का त्याग निष्काम कर्म का आवश्यक अंग है ।

फल त्याग और अनासक्ति (निष्कामता) गीता के विचारो के दो केन्द्र बिन्दु है, जिनके द्वारा कर्म करते हुए भी कर्म के दोषो से मुक्त रहा जा सकता है परन्तु निष्कामता केवल कर्म-फल त्याग से प्राप्त नही होती और न मात्र बुद्धि प्रयोग से । उसके लिए हृदय मंथन करना पडता है ।[११४] भक्ति और श्रद्धा पर आधारित ज्ञान से ही निष्कामता सिद्ध हो सकती है । कर्म फल त्याग परिणाम के विषय मे लापरवाही बरतना नही है इसमे परिणाम और साधना का विचार एव उसका ज्ञान आवश्यक है । फल त्याग का अर्थ फल प्राप्ति का अभाव नही है । उसका अर्थ है 'फल के सम्बन्ध मे आसक्ति का न होना । वास्तव में फल त्यागी को अनन्त फल मिलता है । आसक्ति के कारण व्यक्ति कर्तव्य भ्रष्ट हो जाता है । आसक्ति ही नैतिक और अनैतिक कर्म का निर्धारक है । यदि कोई कर्म बिना आसक्ति के ही नही हो सकता तो वह नैतिक दृष्टि से त्याज्य है ।[११५]

निष्कामता मन का एक धर्म है ।[११६] जिसकी प्राप्ति स्वधर्म के अतिरिक्त विकर्म से भी होती है । विकर्म वह कर्म है जिसके द्वारा काम, क्रोध, अहकार आदि पर विजय प्राप्त कर चित्त को निर्मल बनाया जाता है ।[११७] इसके लिए आत्म परीक्षण एवं आत्मशोधन की आवश्यकता है । जब वाह्य कर्मो के स्वार्थाचरण (कर्म) और अन्तर से निर्मल चित्त का सयोग होता है तो हम निष्काम कर्मयोग की स्थिति प्राप्त कर सकते है । इस प्रकार निष्काम कर्मयोग कर्म और विकर्म का सयोग है ।

निष्कामता के कारण जब स्वाभाविक रूप से कर्म होने लगते हैं तो उसे अकर्म कहा जाता है । इस अवस्था की दो स्थितियॉ है, कर्त्ता, करते हुए भी कुछ नही करता या कुछ न करते हुए भी सब कुछ करता है । गीता के अनुसार पहली स्थिति कर्मयोग है और दूसरी संन्यास योग इन दोनो अवस्थाओ मे कर्म मे निहित कर्मत्व भाव समाप्त हो जाता है । उसका बोझ कर्त्ता के चित्त पर नही पड़ता । अत: वह पाप-पुण्य से मुक्त माना गया है । इसी अवस्था को सन्यास की अवस्था कह सकते है या त्याग की भी । इस प्रकार कर्मयोग का पालन करने पर संन्यास ग्रहण करने की या कर्म-त्याग की आवश्यकता नही है ।

संन्यास और त्याग मे भेद है या नही अर्जुन की इस शंका का निवारण करते हुए कृष्ण कहते है यदि तुम समझते हो कि कर्म-मार्ग में संन्यास (भाव) नहीं है तो तुम्हारी अज्ञानता है । कर्मयोगी पुरुष समस्त कर्मों के दो भेद करते हैं, पहला भेद कर्म अर्थात् आसक्त बुद्धि से किये गये कर्म और दूसरा है निष्काम कर्म-अनासक्त बुद्धि से किये गये कर्म । काम्य कर्म मे जितने कर्म है कर्मयोगी एक के बाद एक छोड़ देता है । निष्काम कर्म का सेवन कर्मयोगी फलाशा के त्याग के साथ करता है । अत: कर्मयोग मार्ग मे भी संन्यास और त्याग की प्रधानता रहती है । स्मार्त मार्गीय कर्म का जहॉ प्रत्यक्षत: त्याग करते हैं उसके स्थान पर कर्मयोगी फलाशा का त्याग करता है ।[११८] संन्यास (भाव) दोनों ही ओर है । स्मति मार्ग और भगवत् धर्म में, संन्यास परम्परा के अन्तर को लोकमान्य तिलक ने स्पष्ट किया है ।[११९] स्मार्त परम्परा संन्यास के वाह्य पक्ष की ओर अधिक ध्यान देती है । भागवत परम्परा का मुख्य तत्त्व है कि पुरूष यदि अपने सभी कर्म, परमेश्वर

को अर्पित कर, निष्काम बुद्धि से करे तो वह गृहस्थाश्रमी होने पर भी नित्य संन्यासी ही है।[१२०]

पौराणिक दृष्टि से सन्यास के विषय मे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि संन्यास कलि काल मे निषिद्ध है। कृष्ण के अवतार के पश्चात् या ज्ञानयुक्त गृहस्थाश्रम के महत्त्व पर ध्यान देने के कारण संन्यासाश्रम को वर्जित किया गया था। निर्णय-सिन्धु (तृतीय परिच्छेद : कलिवर्ज्य प्रकरण) ने, अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यास पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पंच विवर्जयेत्' और संन्यासश्च न कर्त्तव्यो ब्राह्मणेन बिजानता इत्यादि स्मृति वचनो का इस सन्दर्भ मे उल्लेख किया है (इनमे से संन्यास का निषिद्धत्व शंकराचार्य ने बाद मे निकाल दिया) उपर्युक्त पौराणिक व्यवस्था होने पर भी सन्यास ग्रहण करने की परम्परा को समाप्त नही किया जा सका।

सन्यास परम्परा मे कर्म के पूर्णतः त्याग पर गीता ने अंकुश लगाया। संन्यास मार्गियो की स्थापना थी कि कर्म मात्र भ्रम है और संन्यास ही सर्वोच्च मार्ग है। कर्म करना चित्त शुद्धि के लिए उत्तम है लेकिन निवृत्ति की स्थिाति प्राप्त करने के लिए नही।

उनका विचार था कि मोक्ष को प्राप्त करने के लिए कर्म त्याग अनिवार्य है। कर्म त्याग से सर्वप्रथम क्रियाभाव नष्ट होगा, तत्पश्चात् वासनाये नष्ट होंगी। वासनाओ की समाप्ति ही मोक्ष है।[१२१]

कर्म त्याग पर बल देना ही वह द्वन्दर्पण समस्या है जिसका समाधान गीता ने कर्मो को औचित्यपूर्ण सिद्ध करके किया है। यदि ऐसा न होता तो उसकी स्थापना इस प्रकार भी हो सकती थी कि समय विशेष तक कर्म करने के पश्चात् कर्म त्याग के श्रेष्ठ मार्ग का अनुसरण नही वरन् कर्म एवं कर्मफल मे निहित कामना का त्याग श्रेयस्कर संन्यास मार्ग है।[१२२] गीता की दृष्टि मे फल के प्रति आसक्ति रखने वाला पुरूष दीन हीन है।[१२३] प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि गीता कर्म त्याग की प्रशंसक नही है।

गीता के समक्ष नीति एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रश्न भी है। गीता शास्त्र की प्रवृत्ति नैतिक अनुभव की तात्विकता पर आश्रित है। यह सम्भव है कि सिद्धावस्था में नैतिक आचार का वह स्वरूप न हो जो अज्ञानावस्था मे रहता है, यह भी हो सकता है कि नैतिकता का रूपान्तरण आध्यात्मिकता में हो गया है फिर भी नैतिकता के ज्ञान की आवश्यकता एवं सम्भावना के विचार को उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

अल्बर्ट श्वाइत्जर गीता के कार्मिक स्वरूप की प्रशंसा करते हैं, लेकिन साथ ही वे यह कहना नही भूलते कि गीता कर्म को प्रश्रय अवश्य देती है लेकिन वहाँ कर्म के स्वाभाविक प्रेरक तत्वों (कामना आदि) को त्याग पर बल दिया है।[१२४] वे इस ओर भी ध्यान केन्द्रित करते हैं कि (हिन्दू धर्म) गीता में स्वाभाविक नैतिक कर्मों के महत्व को उपेक्षित किया गया है। उनका विचार है कि वहाँ ईश्वर प्रेम को मानवीय प्रेम के रूप मे रूपान्तरित नही किया जा सका है। गीता कर्मयुक्त प्रेम के स्तर तक नही पहुँच सकी है, इस तरह उसका नीतिशास्त्र 'धुँआपूर्ण अग्नि'[१२५], के समान है जिससे ऊर्ध्वगामी अग्निशिखायें नही निकलती। कर्म के मूल्य एवं विमूल्य का मापदण्ड ईश्वरार्पण का भाव है और यह भाव कर्म की स्वाभाविक प्रक्रिया की महत्ता को कम करता है।

अल्बर्ट श्वाइत्जर के आक्षेपो का समाधान किया जा सकता है, जबकि यह माना जाये कि गीता उस अवस्था की प्राप्ति की ओर संकेत करती है जहाँ कर्त्ता का अहं भाव समाप्त हो जाता है। उसके दृष्टिकोण के दो पक्ष हैं, एक तो कर्म के कर्त्तव्य मे अह भाव की समाप्ति और दूसरा फलासक्ति भावना का त्याग। अहं भाव का त्याग किया जा सके इसलिए कर्म 'मै' नही वरन् 'ईश्वर करवा रहा है' इस दृष्टिकोण का विकास आवश्यक है। स्वयं का निमित्त मात्र एवं समस्त कर्मो को ईश्वरीय कर्म मानने से फल के प्रति आसक्ति क्षीण हो सकती है। क्योकि जब कर्म-सम्पादन मे अहं भाव नही है तो उसके फल के प्रति आसक्ति शेष रहने का कोई कारण नही। जब तक व्यक्ति अहं भाव के अधीन है तब तक वह सत्य को नही जान सकता।

गीता की (उपर्युक्त) स्थापनाओ से स्पष्ट होता है कि कर्म और संन्यास अन्ततः विरोधी नही है। कर्म को कुशलता पूर्वक करने से दोनो का द्वन्द्व समाप्त किया जा सकता है। हिन्दू धर्म, कुछ अंशो को छोड़कर, कर्म विरोधी नही है। अपितु त्याग और सन्तोष की भावना ने जीवन की उस अशान्ति को समाप्त कर दिया है जिसे पश्चात् विचारक जीवन अनुमोदक दृष्टि कहते है। गृहस्थाश्रम जो कर्मक्षेत्र का प्रमुख केन्द्र है त्याग और सन्तोष का सर्वोत्तम उदाहरण है।

हिन्दू धर्म मे गृहस्थ की आचरण संहिता का पालन करना कठोर कर्त्तव्य है। संग्रहात्मक प्रवृत्ति को महान दोष के रूप मे देखा गया है। गृहस्थ को सम्पत्ति या अन्य किसी प्रकार की भौतिक सुविधाओ को संग्रहित न करने का आदेश है। इस आदेश का पालन सम्भवतः बहुत कठिन है। शास्त्रीय आदेशो के अनुसार आचरण करने पर गृहस्थ के पास नितान्त आवश्यक एव जीवन के लिए अनिवार्य सामग्रियो के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नही रह सकता। फलतः उसका व्रत पूर्ण कठोर जीवन संन्यासी के समान ही है। लेकिन इस व्यवस्था का अर्थ यह नही है कि प्रत्येक युग मे गृहस्थ को इसीप्रकार के कठोर परिश्रम शास्त्रीय विधि-विधानो के नियन्त्रण मे रह कर करना पडा है। वैदिक काल को इस स्थापना के पक्ष मे रखा जा सकता है। महाकाव्य कालीन परम्परा में भी कुछ विशेष उद्धरणो को छोडकर इस प्रकार की एकांगी व्यवस्था नही दिखाई देती है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उपर्युक्त आचरण ब्राह्मणो के लिए ही विशेष रूप से अपेक्षणीय था। समाज के अन्य प्रमुख वर्ग इस कठोर नियमावलियो से मुक्त थे।

धर्म शास्त्रानुसार स्वकर्त्तव्य का पालन मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाता है। सामान्यतः हिन्दू धर्म मे शाकर वेदान्त के विकास के पहले वर्णाश्रम धर्म का पालन मुमुक्षुओं के लिए भी अनिवार्य समझा जाता था। यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि संन्यास का मार्ग सभी वर्णो के लिए आश्रम व्यवस्था का अतिक्रमण कर समान रूप से स्वीकृत नही था। विशेष परिस्थितियों मे केवल ब्राह्मण ही इसका अतिक्रमण कर सकता था। लेकिन यह व्यवस्था अपवाद स्वरूप थी क्योकि मनु का निर्देश है कि ब्रह्मचर्यावस्था मे वेदाध्ययन तथा दूसरे आश्रम में सन्तानोत्पत्ति और यज्ञ न करके मोक्ष की इच्छा करने वाला ब्राह्मण पतित हो जाता है। गीता की दृष्टि में स्वधर्म पालन मोक्ष प्राप्ति की दृष्टि से अनिवार्य है।

कर्म को पर्याप्त महत्ता प्रदान करने के पश्चात् भी संन्यास को सर्वोच्च लक्ष्य मानने का कारण सम्भवतः यह था कि संन्यासी जिस सार्वभौमिक दृष्टि का विकास कर सकता है, उसे गृहस्थ नहीं प्राप्त कर सकता। यज्ञानुष्ठान द्वारा

मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है । शंकर मीमांसा के इस विचार के विरोधी है । इस प्रकार गृहस्थाश्रम मे किये जाने वाले पच महायज्ञो को अमृतत्व प्राप्ति के लिए पर्याप्त नही माना जा सका । इसके साथ एक धारणा यह भी रही होगी कि मोक्षावस्था समस्त बन्धनों से मुक्त 'आनन्दावस्था' है इसलिए उसकी अनुभूति एवं प्राप्ति वर्णाश्रमातीत अवस्था मे रहकर सरलतापूर्वक हो सकती है । संन्यास ग्रहण करने का एक और कारण सम्भवत: सासारिक बन्धन का या जन्म मरण चक्र का भय भी है । लेकिन इस भय से मुक्ति प्राप्त करने के लिए कर्म संन्यास या संसार त्याग आवश्यक नही है ।

गीता उन साधको के लिए जिनकी मोक्षाकांक्षा तीव्र है, जो सासारिक बन्धनो में ग्रस्त होने के भय से आक्रान्त नही है या जो ससार मे रहकर भी मुक्ति के आकांक्षी है, अनासक्ति योगपूर्ण निष्काम कर्म का प्राविधान करती है । गीता की दृष्टि कर्म और संन्यास के विषय मे समन्वयवादी है । वह दो एकागी छोरो को एक दूसरे के पास ले आती है । 'कर्म करना नही वरन् संसार मे आसक्ति और ममत्व रखना बन्धनकारी है । इस दृष्टि से जिसने बन्धन कर्मो, काम्य-कर्मो का त्याग और कर्म फल को ईश्वरार्पित कर दिया है वह संन्यासी है एवं कर्मयोगी भी है । अग्निहोत्र न करने वाला या अकर्मण्य व्यक्ति संन्यासी नही है मानसिक मोक्ष प्रदाता है । मानसिक रूप से संन्यास भाव प्राप्त कर लेने पर कर्म-संन्यास की आवश्यकता नही रह जाती । निष्काम्यावस्था प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति की दृष्टि सन्यासी के समान ही ब्रह्म मे अवस्थित होने पर सार्वभौमिक हो जाती है । ऐसी स्थिति मे निष्कामी के कर्म स्वार्थ-भाव से मुक्त होने के कारण साधारण लौकिक कर्म नही है । वह क्षुद्र स्वार्थो का त्याग करने वाला है' । अपरिसीम परमात्म भाव का अनुरागी होने के कारण वह कर्म करते हुए भी नित्य सन्यासी है ।

हिन्दू धर्म पर जो आक्षेप किये गये है उनका कारण केवल कर्म एवं संन्यास सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताये नही है । वस्तुत: यह स्वीकार करना चाहिए कि हिन्दू धर्म ने 'लौकिक दृष्टि से जीवन का आदर्श क्या है ? इस प्रश्न की उपेक्षा की है । परिणाम स्वरूप इतिहास के कुछ सौ वर्षो को छोड़कर भारत मे राजनीतिक क्षेत्र मे विशेष उन्नति नहीं हो सकी, (स्वेच्छाचारी शासक को भाग्य नियन्ता के रूप मे स्वीकार करने की प्रवृत्ति अभी तक बनी हुई है) । इस सन्दर्भ मे दूसरा कारण हिन्दू जन-जीवन पर धर्मशास्त्रीय आदेशो की गहरी छाप है । धर्म के आदेशात्मक स्वरूप को पूर्ण मान्यता प्रदान करने का परिणाम यह है कि आधुनिक युग में भी प्राचीन प्रथाओं का पालन उनके निरर्थक और अनुपयोगी हो जाने के पश्चात् भी निरन्तर किया जा रहा है । 'सब कुछ माया है' इस विचार के कारण जन सामान्य सांसारिक हित अनहित के प्रति कुछ अधिक ही उदासीन रहता है । लेकिन इस तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि संन्यास ग्राह्य हो या अग्राह्य इसमे सन्देह नही कि मनुष्य निरपेक्ष काल तक सासारिक जगत् से सन्तुष्ट नही रह सकता । वह निरन्तर शाश्वत आदर्श की खोज मे रहता है । ऐसी स्थिति मे संन्यास-भावना को पूर्णतया समाप्त नही किया जा सकता । इसलिए धर्म न तो संन्यास भाव के प्रति तटस्थ रह सकता है और न सांसारिक कर्मो की उपेक्षा कर सकता है ।

धर्म का कार्य मानव के क्रिया-कलापों की व्याख्या करना एवं उन्हें नियन्त्रित करना ही नही वरन् उसे संन्यासपूर्ण दिशा भी प्रदान करना है जिससे मनुष्य के चरम आदर्श की प्राप्ति का स्वरूप निश्चित किया जा सके । इस दृष्टि से हिन्दू

चेतना प्रारम्भ से ही यह स्वीकार करती चली आ रही है कि अस्थायी एवं सीमित भोगो के मोह का त्याग न कर पाना मानवीय कमजोरी है । इसलिए वह अभी भी त्यागी और संन्यासियो के जीवन का आदर करती चली आ रही है । सन्यास की दृष्टि से हिन्दू धर्म को गीता की प्रमुख देन 'कामना का त्याग' है । गीता के इस सिद्धान्त ने प्रवृत्ति और निवृत्ति की धारणा को कर्मयोग मे रूपान्तरित किया ।

हिन्दू धर्म मे, यद्यपि संन्यासियों को महत्त्वपूर्ण स्थान अब भी प्राप्त है लेकिन संन्यास का आदर्श अब लुप्त हो गया है । सन्यासी का स्थान निष्काम कर्मयोगी ने ले लिया है । वर्तमान युग स्वाग्रह का है । स्वनिग्रह का नही । इस सम्भावना के लिए स्थान कम है कि लोग ससार को माया समझकर सन्यासी हो जायेगे । सकट कुछ और है । अब स्वाधिकार के आग्रह एव उनके उपयोग की व्यग्रता मे अपने कर्त्तव्यो की अवहेलना की, आशका है । इस दृष्टि से गीता के 'कामना त्याग' के उपदेश का मूल्य स्थायी ही है । आसक्ति कामना एवं वासना जैसे दोषो की ओर संकेत करके गीता, निष्काम कर्मयोग की प्रतिस्थापना करते हुए, यह बताने का प्रयास करती है कि मनुष्य किस प्रकार योगस्थ, स्थित प्रज्ञ एवं नित्य-सन्यास भाव प्राप्त कर सकता है । गीता का उद्देश्य कर्म एवं संन्यास के बीच का कल्याण प्रद मार्ग खोज निकालना है । यह मार्ग कर्मयोग है । यह मार्ग कर्म का त्याग नही करता और साथ ही संन्यास की त्यागपूर्ण भावना को भी अक्षुण्ण रखता है ।

भक्ति

सामान्यतया भक्त को सन्त, महात्मा, साधु या स्थितप्रज्ञ के नाम से जाना जाता है । हिन्दी के सन्त-साहित्य का अनुशीलन करने पर स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ आलोचकों ने सन्त तथा भक्त मे अन्तर करते हुए सन्तो को निर्गुणोपासक तथा भक्तो को सगुणोपासक माना है । इस कसौटी पर वे कबीर, दादू आदि को सन्त तथा सूर और तुलसी को भक्त मानते है । हिन्दी साहित्य के मौलिक ग्रन्थो में भक्त प्रवर नाभादास जी का भक्तमाल अग्रगण्य है ।.

भक्तभाल मे नाभादास जी ने कबीर और तुलसी दोनो को ही भक्त माना है । दोनो ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म का अनुभव करते हुए उनके समन्वय पर बल दिया है । यद्यपि दोनों के इष्ट अलग-अलग होने के कारणं उनके तत्त्ववाद भी अलग है किन्तु मात्र तत्त्ववाद के अन्तर को सन्त और भक्त के अन्तर का आधार नही बनाया जा सकता । स्थित प्रज्ञ को कुछ विद्वान-जीवन मुक्त मानते है और कुछ भक्त । स्पष्ट है कि जीवन्मुक्त और भक्त में अन्तर होता है । जीवन्मुक्त साक्षात् ब्रह्म होता है जबकि भक्त ऐसा नही होता । भक्त के लिए एक आधार चाहिए जबकि जीवन्मुक्त को ऐसे आधार की आवश्यकता नहीं होती । जीवन्मुक्त को अद्वैतवादी तथा भक्त को द्वैतवादी मानना होगा क्योकि भक्ति के लिए द्वैत आवश्यक है । किन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि अद्वैतवादी भक्त नहीं हो सकता । अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती उच्च कोटि के भक्त थे । पुनश्च, यह भी सत्य नहीं है कि जो भक्त द्वैतवादी है उन्हे अद्वैतवाद से परिचय नही है । वास्तव मे भक्त और भगवान में, सन्त और अनन्त में कोई भेद नही है । स्वयं नाभादास ने भक्त, भगवान, भक्ति और गुरू इन चारो का रूप एवं स्वरूप एक ही माना है । भक्त भले ही भगवान न हो किन्तु वह भगवान के सर्वाधिक निकट

है। यह नैकट्य मात्र दैशिक न होकर मूलतः यह नैतिक, वैचारिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक अथवा अनुभूतिजन्य नैकट्य है। सही भक्त वही है जिसे भगवान के सामीप्य के अतिरिक्त और कुछ नही चाहिए। राम चरित मानस मे गोस्वामी तुलसीदास ने भक्त भरत से कहलवाया है—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहँउ निरवान।
जनम-जनम रति राम पद, यह वरदानु न आन॥

अतः भक्ति के बदले भक्त को कोई पुरुषार्थ नही चाहिए। भक्ति ही भक्त के लिए सर्वोच्च्व पुरुषार्थ है। यही भक्त तथा उपासक की स्थिति स्पष्ट करना आवश्यक है— जो भक्ति को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मानता है वह भक्त तथा जो भक्ति को अन्य पुरुषार्थों का साधन मानता है वह उपासक होता है। उपासक इहलोक या परलोक की कामना से, स्वार्थ से उपासना करता है जबकि भक्त को भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही चाहिए। जब उपासक निःस्वार्थ हो जाता है तब वह भक्त हो जाता है।

नाभादास के अनुसार भक्त सभी विधाओं या वर्गणाओ से परे है। इसीलिए उन्होने भक्तो का वर्णन राम भक्त, कृष्ण भक्त, शिव भक्त, सगुण भक्त या निर्गुण भक्त के रूप में नही किया है। वे भक्त को भक्त की ही दृष्टि से देखते है। सामान्यतः लोग भक्तो का वर्गीकरण उनके आराध्यदेव, भक्ति या गुरू के आधार पर करते है किन्तु नाभादास भक्त के जीवन को परखते हैं न कि उसके गुरू, भगवान या भक्ति को। आचार्य संगम लाल पाण्डेय नाभादास की इसी अवधारणा का समर्थन करते हैं और खेद व्यक्त करते हैं कि लोग नाभादास की उक्त दृष्टि को भुलाकर भक्तों को उनकी गुरू परम्पराओ, सम्प्रदायों, ईश्वर रूपों तथा भक्ति विधाओं की दृष्टि से वर्गीकृत करते हैं। आचार्य पाण्डेय के अनुसार इन्ही वर्गीकरणो के कारण ही अन्धपरम्परा तथा साम्प्रदायिकता बढ़ी है जिससे अनिष्ट हो रहे हैं। इससे भी अनिष्टकर वह वर्गीकरण होता है जो भक्तो को उनके धर्मानुसार विभाजित करता है, जैसे— हिन्दू भक्त, इस्लाम भक्त, इसाई भक्त और यहूदी भक्त आदि। इन वर्गीकरणो से धार्मिक विद्रोह बढते है। वास्तव में भक्त इन सभी वर्गणाओ या विधाओ से परे हैं।

नाभादास की भक्तो के जीवन को परखने की उक्त दृष्टि उनकी मौलिक और यथार्थ दृष्टि है। भक्तो को परखने की कसौटी के सन्दर्भ मे नाभादास के छप्पय मे उद्धृत सन्तो के उत्कर्ष का प्रसंग लिया जा सकता है। उत्कर्ष का आशय है— प्रगति या उत्थान। सन्त अपने साध्य को प्राप्त करने मे कितना उत्कर्ष प्राप्त कर रहा है? उसे कुछ अनुभव हो रहे है अथवा नहीं? उसके अनुभवों से समाज को कितना लाभ मिल रहा है? इन सभी प्रश्नों के मूल मे एक ही दृष्टि है जिसे हम भक्त का उत्कर्ष कह सकते हें। इसे ही भक्तों को परखने की कसौटी कहा जा सकता है। आचार्य संगम लाल पाण्डेय ने नाभादास के उक्त कसौटी मापदण्ड को सन्तमत या रहस्यवाद के अनुकूल माना है। सन्तों ने कहा है कि उनका कोई मजहब, जाति, इष्ट या गुरू नही है। दशश्लोकी में शिवः केवलोऽहं का अनुभव करने वाला भक्त कहता है—

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा,
न मे धारणा ध्यानयोगादयो ऽपि।
न माता पिता वा न देवा न लोका,
न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।

न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा,
न च त्वं न चाह न चाय प्रपच: ।

गोस्वामी तुलसीदास की पक्तियॉ भी उल्लेखनीय है—

धूत कहो अवधूत कहो रजपूत कहो जुलहा कहो कोउ ।

अत: सन्तो की कसौटी मुख्यत: उनका उत्कर्ष ही है । यह उत्कर्ष नानात्व से अद्वैत की अनुभूति तक है । किनतु इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि जिसे अद्वैत की अनुभूति नही हुई वह सन्त नही है । नानात्व की अनुभूति करने वाला भी सन्त हो सकता है । किन्तु प्रश्न उठता है कि वास्तव मे अद्वैतानुभूति वाले को सन्त कहा जाय या नानात्व अनुभूति वाले को अथवा दोनो को ?

सन्तमत विशेष: पश्चिमी रहस्यवाद का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सन्त-साधना के तीन सोपान होते है—

१. नैतिक शुद्धि २. उद्बोध ३. ऐक्य अनुभव

प्रथम सोपान मे सन्त अपनी वासनाओ पर आत्म-संयम स्थापित करता है । आत्म-संयम की सफलता ही नैतिक शुद्धि है । द्वितीय सोपान उद्बोध का है । यह ऐसा बोध है जो सन्त की बुद्धि को उर्ध्व ज्ञान की ओर, उसके चित्त को उर्ध्व भावना की ओर और उसके मन को उर्ध्व प्रयत्न और संकल्प की ओर ले जाता है । यही उत्कर्ष का आरम्भ बिन्दु है जिसके पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति मनसा, वाचा तथा कर्मणा एक रूपेण व्यवहार करता है । उत्कर्ष के इस आरम्भ बिन्दु से लेकर अद्वैत की अनुभूति होने तक यदि उसे नानात्व की भी अनुभूति होती है तब भी वह सन्त है क्योकि उत्कर्ष के बाद भक्त की नानात्व अनुभूति तथा प्राकृतजन की नानात्व अनुभूति मे अन्तर है । प्राकृतजनों की नानात्व अनुभूति मे भय, स्वार्थ तथा छल-छद्म भरा रहता है । वह उनको निम्नोंमुख करती है । जबकि उत्कर्ष सन्तों को उर्ध्वगति प्रदान करता है तथा वस्तुओ का यथातथ्य ज्ञान कराता है । बुद्धि, मन तथा चित्त तीनों की उर्ध्वगति बिरले सन्तो मे होती है । लेकिन् प्रत्येक सन्त के जीवन में कुछ न कुछ उत्कर्ष अवश्य रहता है । कुछ मे बुद्धि की, कुछ में मन की तथा कुछ सन्तों मे चित्त की उर्ध्वगति होती है जिनमे केवल बुद्धि की उर्ध्वगति होती है उन्हे ज्ञानी भक्त या दार्शनिक सन्त कहते है, जिनमे केवल मन की उर्ध्वगति होती है उन्हें कर्मठ भक्त कहा जाता है तथा जिनमे केवल चित्त की उर्ध्वगति होती है उन्हे भावुक भक्त कहा जाता है । उदाहरण के लिए आचार्य शंकर को ज्ञानी भक्त, महात्मा गॉधी को कर्मठ भक्त तथा मीराबाई को भावुक भक्त कहा जा सकता है । किन्तु भक्तो का यह विभाजन उनकी प्रवृत्ति के अनुसार है । उत्कर्ष की दृष्टि से भक्तो का ऐसा वर्गीकरण नहीं करना चाहिए । उत्कर्ष की दिशा बदलने से उत्कर्ष में परिवर्तन नही होता । वास्तव मे बुद्धि, मन तथा चित्त इन तीनो का, किन्ही दो का या किसी एक का जैसा भी उत्कर्ष हो वही भक्त की कसौटी है । उत्कर्ष की अवस्थाओं का एक तारतम्य होता है जैसे— उत्कर्ष, उत्कर्षत्तर और उत्कर्षतम् । उद्बोध के अनुसार सन्त-जीवन मे परिवर्तन होता है । सन्तों के बुद्धि, मन या चित्त के उत्कर्ष के फल का अनुभव सामान्यजन को भी होने लगता है । उक्त कसौटी के आधार पर अब सन्तों को सन्त ही नही वरन् सामान्जयजन भी परख सकते हैं । इस अवस्था के पश्चात् सन्त ऐक्यानुभव करता

है ।

अब प्रश्न उठता है कि जिस भक्ति के लिए भक्त सब कुछ त्याग देता है वह भक्ति क्या है ? उसकी पहचान क्या है ? इस विषय मे नारद और शाण्डिल्य ने भक्ति-सूत्र लिखे है । श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति का निरूपण नवधा भक्ति के रूप मे किया गया है जिसका प्रभाव भागवतोत्तर धार्मिक साहित्य पर विशेष पड़ा है । गोस्वामी तुलसीदास ने भी नवधा भक्ति का वर्णन किया है । मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति-रसायन लिखकर भक्ति को दसवॉ रस निरूपित किया है । रूप गोस्वामी ने भक्ति रसामृत सिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि लिखकर भक्तिशास्त्र को एक अप्रतिम शास्त्र सिद्ध किया है । इन सब ग्रन्थो मे वर्णित भक्ति के स्वरूप का आचरण करने वाले व्यक्ति को भक्त कहा जाता है । किन्तु जिन्होने भक्ति-शास्त्र का अध्ययन नही किया उन्हें भक्त की पहचान कैसे होगी ? स्पष्ट करना आवश्यक है कि शाण्डिलय ने भक्ति को ईश्वर मे परानुरक्ति, गीता मे शरणागति, रामानुज ने प्रपत्ति और बल्लभाचार्य ने पुष्टि को भक्ति कहा है । इसका आशय यह है कि जो भगवान को समर्पित करके अपना जीवन बिताता है और जो भगवान की कृपा के अतिरिक्त और कुछ नही चाहता वही भक्त है । यदि उसे भगवत् कृपा मिलती है तो उसकी भक्ति पुष्ट हो जाती है और उसे पुष्टि कहा जाता है । किन्तु यदि यह कृपा नही मिलती तब भी वह भक्त ही कहा जायेगा और उसकी भक्ति में कोई कमी नही मानी जायगी क्योकि कृपा अहैतुकी होती है । वह अनेक जन्मो से ससिद्ध होती है और उसकी प्राप्ति के पश्चात् भी वह वैसे ही भक्ति करता रहता है जैसे कृपा प्राप्ति के पूर्व करता था । अत: कृपा प्राप्ति भक्त की आध्यात्मिक पुष्टि भले ही हो किन्तु वह भक्त के स्वरूप का निर्णायक नही है ।

यहाँ ज्ञान मार्ग तथा भक्ति मार्ग का अन्तर स्पष्ट हो जाता है । ज्ञान मार्गी क्रमश: कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहस हो जाता है । परमहंस हो जाने पर वह अपनी साधना को छोड़ देता है क्योकि वह सिद्ध हो जाता है । किन्तु भक्ति मार्गी अपनी भक्ति को कभी नही छोड़ता । भक्ति उसके लिए अत्याज्य तथा एक मात्र पुरुषार्थ है । सिद्धि प्राप्ति के पश्चात् भी भक्त अपनी भक्ति को जारी रखता है । सिद्धि को वह भक्ति में बाधक मानता है और यथासम्भव इससे दूर रहता है । भक्त को वैभव, कीर्ति, धन, पद आदि की कामना बिल्कुल नही रहती है । गोस्वामी तुलसीदास ने भक्त के स्वरूप का वर्णन सुन्दर ढंग से किया है—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई । यथा लाभ सन्तोष सदाई ॥
वैर न विग्रह आस न त्रासा । सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥
अनारमभ अनिकेत अमानी । अनघ अरोष दक्ष विज्ञानी ॥
प्रीति सदा सज्जन ससर्गा । तृण सम विषय स्वर्ग अपवर्गा ॥

भक्त के उपर्युक्त लक्षण निश्चय ही उसके व्यक्तित्व के मानसिक तथा चैतसिक गुण हैं । इन गुणो से उसकी पहचान की जानी चाहिए । किन्तु चूँकि ये सूक्ष्म गुण हैं इसलिए इनकी पहचान भी विवेकी लोग ही कर सकते हैं । अब प्रश्न है कि क्या भक्तो की कोई स्थूल पहचान भी है जिससे सामान्यजन उन्हे पहचान सकें ? भारत के अन्यान्य सम्प्रदायों ने इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया है । उन्होने भक्तों की वेशभूषा, तिलक, माला, पूजा-सामग्री, अलंकार, केश-विन्यास, दिनचर्या, कमण्डलु तथा रहन-सहन का विधान किया है । इनका पालन करने वाला भक्त कहा जाता है । किन्तु चूँकि ये

सब शारीरिक क्रिया-कलाप है, बाह्य लक्षण है इसलिए इनका प्रयोग वे भी कर सकते है जो भक्त नहीं बल्कि पाखण्डी है। वास्तव मे उपर्युक्त दिनचर्या के साथ-साथ अष्टयाम पूजा का भी विधान है। उपर्युक्त उपरकणो का विधान भिक्षाटन के लिए न होकर अष्टयाम पूजा के लिए किया गया है। इनसे भक्त के सम्प्रदाय तथा इष्टदेव का भी पता लग जाता है। भक्त-चरित्र के अनुसगी होने के कारण इनका भी उपयोग एव महत्त्व है। भक्त की पहचान वास्तव मे मन, वाणी तथा चरित्र से एक होने मे है। नीति कारो ने लिखा है—

मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कार्ये चान्यद् दुरात्मनाम्
मनस्येक वचस्येकं कर्मण्येक महात्मनाम् ॥

अर्थात् जिसकी वाणी, मन तथा कर्म मे अनेकरूपता हो वह दुरात्मा तथा जिसमे एकरूपता हो वही सरल, सहज तथा कुटिलता रहित साधु भक्त होता है। यह उत्कर्ष या उद्बोध की स्थिति होती है।

आचार्य संगम लाल पाण्डेय ने नाभादास की परम्परा का निर्वाह करते हुए स्पष्ट किया कि सन्त साहित्य का मूल सन्देश अद्वैतवाद है। उनके अनुसार भक्तों का वर्गीकरण धर्मानुसार ही साम्प्रदायिकता तथा अनिष्ट का कारण है। सन्त नैतिक चिन्तन के संरक्षक होने के साथ-साथ तत्त्व चिन्तक भी होते है। सन्तो का मनसा, वाचा तथा कर्मणा एक होना अर्थात् सन्तो का उत्कर्ष ही एक मात्र कसौटी है। आचार्य पाण्डेय के अनुसार सन्त तथा सन्त-साहित्य का महत्व साहित्यिक गुणो के कारण नही है। वास्तव मे सन्तो का महत्त्व उनकी सोच, उनके चरित्र तथा दार्शनिकता मे निहित है। सन्तो को निर्गुण तथा सगुण में वर्गीकृत करना (जैसा कि हिन्दी-साहित्यकारो ने किया है) गलत है क्योकि सभी सन्तो या भक्तो ने निर्गुण तथा सगुण दोनो की बात करते हुए ज्ञान एवं भक्ति का समन्वय किया है तथा नाम-साधना को विकसित किया है।

संदर्भ

१. गीता २.५५

२. देखिए गीता २.५५ पर शंकराचार्य का भाष्य

३. गीता २.५६-५७

४. गीता, २.५८

५. गीता, २.७०-६१

६. मिलिन्द प्रश्न ४, ५, ७

७. गीता १८ /१७

८. I Cor, 8, 12, Rom, 8.2

९. पी० वी० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-५, पृ० ३५३

१०. वाशम, ए० एल० : अद्भुत भारत, पृ० २४७

११. राना डे : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० १०४

१२. ऋग्वेद - १.१५४.५

१३. ऋग्वेद - १०.१४.२

१४. ऋग्वेद - १०.१६ ३

१५. ऋग्वेद - १०.५८.१-१२

१६ राना डे : उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण, पृ० १०५

१७ Gita, 4/27, 32-33

१८ ऋग्वेद २८.२

१९ ऋग्वेद १०.१४८

२० कर्म की एक धूमिल पूर्व कल्पना ऋग्वेद के 'इष्टापूर्व' की विचारणा में अन्तर्भूत है, जो वास्तव में एक ऐसी वस्तु है, जो अपने स्वामी से पहले स्वर्ग में पहुँच जाती है। (वस्तुस्थिति सम्भवतः यह रही होगी कि इष्टापूर्व सम्बन्धी उपहार पुरोहित को इस लोक में न मिलकर परलोक-स्वर्ग-में मिलते होंगे)।

२१. John Mackenzie, Hindu Ethics, PP. 14-15, and Keith: Veda and Philosophy of Upanısads (Vol II) (Hındi Trans.) P. 713.

२२. शतपथ ब्राह्मण, १२ ।३ ।२ ।३, सत्यश्रवा, वैदिक कांडमय का इतिहास, पृष्ठ-

२३. कीथ, वही, पृष्ठ- ४४०-४१

२४. श० ब्रा० १० ।१ ।४ ।१४

२५. श० ब्रा० १० ।४ ।४ ।९-१०

२६ श० ब्रा० ६ ।६ ।९ ।२-३

२७. ऋग्० १ ।१२५ ।५ ।१० ।१०७ ।२

२८. ऋग्० १० ।१३५ ।७ अथर्व ४ ।३४ ।६, वैदिक माइथोलाजी, पृ० ४४०

२९. ऋ० १३ ।२ ।२ ।२३

३०. ऋ० ३ ।२ ।८

३१. ऋ० ११ ।२ ।६ ।१३-१४

३२. देवा ये यज्ञेनश्रमेण तपसाहुतिभिः स्वर्ग लोकमार्पन्– ऐतरेय ब्राह्मण ३/४२

३३. सत्यश्रवां वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० २०४

३४. Sauch, G. Gispert : Bliss in the Upanisads, P 191

३५. वृहदारण्यक उप०

३६. वृहदारण्यक - ३ ।२ ।१३

३७. काणे, वही, भाग-५, पृ० ३५४

३८ काम सम्मदृत

३९ छान्दोग्य उपनिषद्, २ ।२३ ।१

४० गीता, ४ ।२१

४१. यह कहा जाता है कि ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म में यदि कोई मूल अन्तर है तो वह यही है कि जहाँ हिन्दू अनेक जन्मो में विश्वास रखता है, वहाँ ईसाई यह मानता है कि मनुष्य के लिए एक बार मृत्यु निर्धारित है और उसके बाद निर्णय होना है। राधाकृष्णन, उप० की भू० पृष्ठ १२० ॥

४२ काणे-धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-५, पृ० ३५७

४३. छा० उप० १ ।१ ।२०

४४. कि कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता

जीवाम के न क्व च संप्रतिष्ठाः

अधिष्ठाता· केन् सुखेतरेषु

वर्तामह ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।१ ।१ छा० उप०

४५ छा० उप०·३ ।३ ।३२ ४ ।४ ।५-७

४६. छा० उप० ५ ।१० ।५

४७. छा० उप० ५ ।१० ।३, ५, प्र० उप० १.१.९ ।

४८. छा० उप० ५, १०, १-२, एत० उप० २.१.६

४९ बृह उप० ६ ।२ ।१६, ६ ।४ ।१

५०. कामान्य कामयते मन्यमानः

स कामभिजभिते तत्र तत्र। मु० उप० ३ ।२ ।२

५१ दास गुप्ता, भारतीय दर्शन भाग-१, पृ० ६२

५२ Max Muller, Six Systems of Indian Philosophy, P. 370

५३ कठ० उप० २ ।३ ।१४

५४. बृह० उप० ४ ।५ ।३-४

५५. छा० उप० ३ ।१४ ।१, गीता ८ ।६

५६. अद्‌भुत भारत २०३-२०४

५७. अद्‌भुत भारत, २००

५८. यज्ञ द्वारा किये जाने वाले द्रव्य त्याग एवं इससे भी अधिक स्वयं यज्ञ-पुरुष को यज्ञ वलि का हेतु बनने के कारण सर्वस्वत्याग के लिये पर्याप्त– पृष्ठभूमि उपलब्ध थी।

५९. Coomar Swami, A.K. 2: Selected Papers, P. 108.

६० कीथ, वैदिक कर्म, भाग २, पृ० ५६६

६१ छा० उप० १० ।३ ।३

६२. श० ब्राह० १० ।६ ।४

६३ कीथ, वही, पृ० ५८३

६४. पितृ, यज्ञ, देव यज्ञ, ब्रहम यज्ञ, भूत यज्ञ, और नय यज्ञ। इन यज्ञों की अभियोजना समस्त समाज की दृष्टि में रखकर बनाई गई थी जिसका अर्थ था कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन यथार्थ है एवं उसे समाज के समस्त प्राणी वर्ग के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना (अनिवार्य) है।

६५. Das Gupta, S.N. Hindu Mysticism, pp. 41-42

६६. मै० उप० १ ।२

६७ बृह उप० ३ ।८ ।१०

६८ छा० उप० ७ ।१-३

६९ ब्राह्मणो मे कहीं-कहीं यज्ञ को देवताओ का ऋण कहा गया है, यथा तैत्तिरीय संहिता ६ ।३ ।१० ।५

७०. तै० सं० १० ।३ ।६

७१. Hopkin, E.W. : Ethics of India, P. ५०

७२. तै० सं० १० ।५ ।४ ।१६, Aguliar, H. Sacrifice in Rigveda, P १८१

७३. तै० स० १ ।२ ।७

७४. तै० सं०, १ ।२ ।८

७५. तै० सं० १ ।२ ।१

७६. कौ० ब्रा० २/५उ

७७. कर्माण एवं अधिकारं ने ज्ञाननिष्ठायां ते तव। तत्र च तव कर्म कुर्वतो न फलेषु अधिकारः अस्तु कर्म फल तृष्णा मा भूत कदाचन कस्याचिद् अपि अवस्थायाम् इत्यर्थ· (शंकर भाष्य) गीता २/४७

७८. गीता २/४७ पर 'गूढ़ार्पदीपिका', मधुसूदन सरस्वती।

७९. तस्य अस्य गीता शास्त्रस्य संक्षेपत. प्रयोजने परं, निश्रेयसं स हेतुकरस्य संसारस्य अत्यन्तो परमलक्षणम्। तत् न कर्म सन्यास पूर्वकाद् आत्मज्ञान निष्ठारूपाद् धर्माद भवति। उे;दरे. ॳ/ॳ – र्भे ब्दद् ज़ु व्दस्ि. डड १०८-१०९

८०. ब्राह्मस्याश्रमश्चत्वारः। क्षत्रियस्याद्यास्त्रयः वैश्यस्याद्धौ। बे० य० १/१/१०-१२

८१. यो० वा० ६/२/३६/३०, ३६

८२. गीता २/३९, ३/३

८३. गीता ५/२९

८४. गीता ६/१

८५ गीता ६/४

८६ गीता ६/२९

८७ गीता ६/३१

८८. गीता ६/३१

८९. शांकर भाष्य, गीता २/२५, ३/२७

९०. गीता २/५-६

९१. गीता ४/१९-२०

९२. गीता ३/२७

९३. गीता २३/२९

९४. गीता १०/८

९५ गीता १८/५९

९६. गीता ४/६, ९/८, १०

९७ गीता ५/८-९

९८. गीता ५/१४

९९. उपक्रमोप संहारो अभ्यासो पूर्वताफलम् ।

अर्थवादो पवन्ती च लिंग तात्पर्य निर्णये । – गीता रहस्य, पृष्ठ २१ से उद्धृत्

१००. Ranade, R D The Bhagawadgıta as a Phılosophy of God Realısatıon P.P 118-120

१०१. गीता २/४५

१०२. गीता ४/१७,

१०३ गीता २/७१

निवृत्तिरपि मूढ़स्य प्रवृत्ति रूप जायते, प्रवृत्ति रपि घोरस्य निवृत्तिफल भागिनी । - अष्टावक्र गीता १८/६१

१०४. गीता ५/११

१०५. तिलक-गीता रहस्य, पृष्ठ ३०७

१०६. गीता ३/२०

१०७. राना डे, आर० डी०, वही पृ० १२६

१०८. गीता २/४८

१०९. गीता ४/२०

११०. गीता ४/२३

१११ गीता ३/५, १८/११

११२ कल्याण (निष्काम कर्मयोगाक वर्ष ५४ सख्या १), पृ० १०५-१०६

११३ तिलक-गीता रहस्य, पृ० ३३८, ३४७

११४. गॉधी, मोहनदास करमचन्द– अनासक्ति योग, पृ० ७

११५ गॉधी, वही, पृ० ८

११६ गीता प्रवचन, पृ० ४८

११७. गीता प्रवचन, पृ० ४९

११८. काम्याना कर्मणां, न्यासं संन्यास कवयो विदुः सर्वकर्मफल त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः १८/२ ॥ तिलक (गीता १८/२१) तिलक (गीता १८/१-६ पर तिलक की टीका) पृष्ठ ८४४-८४७

११९. स्मृति ग्रन्थों में स्पष्ट रीति से वर्णित आश्रम व्यवस्था के अनुसार तरुणावस्था में यथा शास्त्र संसार के समस्त कार्य करके वृद्धावस्था में सन्यास ग्रहण करना अंतिम चरण है। जबकि भागवत धर्म की परम्परा में संन्यास ग्रहण करना अनिवार्य नही है।– तुलनीय, तिलक वही पृ० ३४४

१२० तिलक, वही पृ० ३५०

१२१. विवेक चूडामणि - ३/८

१२२. असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह., नैष्कर्मसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ गीता १८/४९

१२३. कृपणाः फलहेतवः, गीता २/४९

१२४. Hunnex, Milton, D – Mysticism.

१२५ Albert, Schweitzer : Indian Thought and Its Development, PP. 193-194

पंचम अध्याय

गीता में स्वधर्म और सामान्य धर्म

गीता में स्वधर्म और सामान्य धर्म

स्वधर्म

धर्मशास्त्रो मे जिस प्रकार वर्ण धर्म और आश्रम धर्म को मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन के रूप मे देखा गया है, उसी प्रकार गीता में श्रेय का साधन स्वधर्म है। स्वधर्म के पालन मे प्राणों के चले जाने की भी चिन्ता न करने का उपदेश है और यह भी आदेश है कि स्वधर्म को सदोष होने पर भी न त्यागे।[१] गीता के अनुसार स्वधर्म का पालन ही वास्तविक नैतिकता है। गीता मे स्वधर्म का तात्पर्य किसी मत मतान्तर या सम्प्रदाय से नही है। उससे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मो का अर्थ नहीं समझना चाहिए। गीता में स्वधर्म शब्द स्वाभाविक कर्तव्य कर्म के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है। स्वधर्म वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तथा आश्रमी (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) के कर्तव्य कर्मों का निर्देश करता है। गीता में स्वधर्म से तात्पर्य वर्ण और आश्रम धर्म के पालन से ही है। अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि स्वधर्म के विचार से भी तुझे युद्ध से नही हटना चाहिए। धर्म युद्ध से बढकर दूसरा कोई धर्म क्षत्रिय के लिए नही है।[२] पुनः कहा गया है कि– 'यदि तू इस धर्म युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म से च्युत हो जाएगा और पाप तथा अपकीर्ति का भी भागी बनेगा।[३]

स्वधर्म को सहज धर्म अथवा सहज कर्म भी कहते है। सहज का शब्दार्थ तो है, जो जन्म के साथ उत्पन्न हो, परन्तु व्यक्त मे उन प्रवृत्तियो को भी जो जन्म के पश्चात् स्वभाव का अंग बन जाती है– सहज धर्म ही कहते है। कहने का अर्थ है स्वधर्म को स्वभाव का अंग होना चाहिए और इसके पालन मे कर्तव्य परायणता की भावना इतनी प्रबल होनी चाहिए कि मनुष्य स्वधर्म के त्याग और अवहेलना को मृत्यु से अधिक सुखदायी समझे।

धर्मशास्त्रो मे चारों वर्णों और चारों आश्रमो का जो धर्म कहा गया है वही धर्म उन वर्णों और आश्रमो का स्वधर्म है। अपने वर्णो और आश्रमों को छोड़कर दूसरे वर्णो और आश्रमों का धर्म परधर्म कहलाता है। उदाहरण वृहस्पति भव नामक यज्ञ का शास्त्र ने केवल ब्राह्मण के प्रति ही विधान किया है, क्षत्रियादि के प्रति नही। इसलिए यह यज्ञ ब्राह्मण का स्वधर्म है और क्षत्रियादि का परधर्म। इसी प्रकार राजसूय यज्ञ का शास्त्र में केवल क्षत्रिय के लिए ही विधान है, ब्रह्मणादि के लिए नही। इसलिए राजसूय यज्ञ क्षत्रिय के लिए स्वधर्म हुआ और ब्राह्मण के लिए परधर्म।

स्वधर्म पालन के नियम

स्वधर्म का स्वरूप जानने के साथ-साथ स्वधर्म पालन की विधि भी जानना आवश्यक है। स्वधर्म पालन करने मे निम्नोक्त नियमो पर ध्यान रखना आवश्यक है।

(१) स्वधर्म मे गुण-दोष देखने की आवश्यकता नही है। मेरे कर्म मे दूसरे का कार्य उच्च कोटि का है या अधिक लाभदायक है, ऐसा नही सोचना चाहिए कार्य के गुण दोष का विचार फलसहित की ओर संकेत करता है। कर्मयोग का आदर्श— 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'[४] है। स्वाभाविक कर्म चाहे दोषयुक्त क्यो न हो उसे त्यागना नही चाहिए, क्योकि कर्म कोई भी ऐसा नही जिसमे अग्नि मे धुएँ के समान किसी न किसी प्रकार का दोष न हो। स्वधर्म के पालन मे आलस्य और प्रमाद नही करना चाहिए, क्योकि 'स्वधर्मेनिधन श्रेय:'[५] के अनुसार मृत्यु का भी भय न करके स्वधर्म पालन करने का विधान है।[६]

स्वधर्म के स्वरूप की जिज्ञासा के प्रस्तुत विषय पर पुन: आते हुए हम देखते है कि गीता ने स्वधर्म को नियत कर्म कहा है। 'नियत कुरु कर्मत्वम्' तू अपने नियत कर्म का पालन कर।' नियत कर्म का त्याग नही करना चाहिए।[७] नियत कर्म तीन प्रकार के बताए गए है— १. नित्य २. सैसिद्धिक तथा ३. नैमित्तिक।

१. नित्य कर्म

यह धार्मिक जीवन का सबसे मुख्य अग है। नित्य कर्म करने से कोई पुण्य नही होता। किन्तु न करने से पाप होता है। दैनिक शारीरिक स्वच्छता के लिए विदित शास्त्रीय एवं प्राकृतिक कर्मो की सज्ञा नित्य कर्म है। द्विजाति के लिए स्थान, संध्या, तर्पण, बलि वैश्वदेव आदि कर्म नित्य कर्म है। इनमें भी सन्ध्यादि की पद्धति भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने अनुयायियों के लिए नित्य कर्म निश्चित किए है। नित्य कर्म मन की स्वच्छता, स्वस्थता तथा सशक्तता के लिए आवश्यक है।

२. नैमित्तिक कर्म

ये वे कर्म है, जो किसी विशेष निमित्त से किए गए है, जैसे गृहस्थ के पालन के निमित्त व्यापारादि के लिए नियत कर्म। मनुष्य के जीवन मे ऐसे बहुत से निमित्त आते है, जब उसे अपनी दिनचर्या मे परिवर्तन करना पड़ता है। धार्मिक दृष्टि से जब ऐंसे विशेष निमित्त आते है, तब विशेष धार्मिक कर्म आवश्यक होते है। नैमित्तिक कर्मो का विधान प्रतिकूल निमित्त की बाधा से रक्षा तथा अनुकूल निमित्त की शक्ति से अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए हुआ है।

३. संसिद्धिक कर्म

ये वे कर्म है, जो पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण माता-पिता के गुणो से उनके रजोवीर्य द्वारा अथवा समाज के संसर्ग के द्वारा प्राप्त है, अथवा कर्त्तव्य कर्म समझकर अभ्यास द्वारा स्वभाव के अंग बन गए है।

इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य, विशेष, काम्य और आपद्ध धर्म भी हैं।

सामान्य धर्म

सामान्य धर्म सब व्यक्तियों के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण होते हैं, जैसे सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सेवा, सन्तोष, इन्द्रिय संयम, ईश्वर मे श्रद्धा आदि। इनकी आचरण सभी को समान रूप से करना चाहिए।

विशेष धर्म

विशेष धर्म के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म आते है। व्यक्ति विशेष के निश्चित वर्ण और आश्रम का सदस्य होने के नाते किए गए कर्म विशेष धर्म कहलाते है, यद्यपि उसके लिए वर्णाश्रम धर्मो का निर्वाह स्वधर्म है। तथापि वे विशेष धर्म के अन्तर्गत आते हैं।

काम्य धर्म

जब तक हम कुछ नही चाहते जीवन अपनी सामान्य गति से चलता रहता है। किन्तु जब हम कोई पदार्थ विशेष या परिस्थिति विशेष को प्राप्त करना चाहते है तो हमको विशेष उद्योग करना पड़ता है। काम्य धर्म अनिवार्य नही है, उनके न करने से कोई दोष नही होता, जैसे पारव्रत।

आपद्धर्म

मनुष्य सदा सामान्य परिस्थिति मे नही रहता। उसके जीवन में रोग, शोक, विपत्ति आदि आती रहती है। ऐसी परिस्थितियों मे निर्वाह का विधान विशेष रूप से किया गया है। आपदकाल मे नित्य अथवा विशेष धर्म मे कुछ छूट दी गई है, किन्तु उतनी ही छूट जिसके बिना जीवन धारण संभव न हो। वास्तव मे यह धर्म नही, वरन् प्राण संकट की स्थिति मे प्राण रक्षा के लिए धर्म में किंचित शिथिलता है।

वर्ण व्यवस्था और स्वधर्म का सम्बन्ध

वस्तुत: गीता और स्मृतियो की नैतिकता मे कोई अन्तर नहीं है। गीता ने धर्मशास्त्रो की नीति को ही अपनाया है। हमने पूर्व अध्याय मे भी देखा था कि स्मृतियो की सामाजिक नीति अर्थात् वर्ण व्यवस्था को गीता ने ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार व्यक्तिगत नीति में भी स्मृतियों की आश्रम व्यवस्था को गीता ने स्वधर्म के नाम से अपना लिया है। जिस प्रकार मनु आदि स्मृतियो मे आश्रम धर्म को चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन के रूप मे माना गया है। उसी प्रकार गीता में इसे स्वधर्म के रूप मे मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक माना गया है। स्वधर्म वास्तव मे आश्रम और वर्णधर्म ही है। वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल किया गया कार्य ही स्वधर्म और प्रतिकूल कार्य पर धर्म है।

स्वधर्म के कर्तव्य

अत: हम कह सकते हैं कि गीता में स्वधर्म के रूप में शास्त्र विहित वर्णाश्रम धर्म ही चरम लक्ष्य प्राप्ति के हेतु आवश्यक और उपयुक्त समझे गए हैं। स्वधर्म का अर्थ हम अपने गुण धर्म (सत्व, रज, तम) के आधार पर किए गए कर्मो से भी ले सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक संरचना तीन गुणो के विभिन्न मिश्रण पर ही हुई है। सभी का स्वभाव भी उस विभिन्नता के आधार पर ही विभिन्न है। यद्यपि अपने गुण के अनुसार किया गया कर्म ही स्वधर्म है तथापि गीता के स्वधर्म से तात्पर्य वर्णाश्रम धर्म से ही है।

सामान्य धर्म

समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये इस धर्म का पालन आवश्यक है। सामान्य या साधारण धर्म देश, काल और पात्र को परिवर्तित होने पर भी अपरिवर्तित रहता है। सामान्य धर्म के अन्तर्गत उन नैतिक सद्‌गुणो का समावेश किया जाता है जिनका पालन करना समाज को स्थिर रखने के लिये आवश्यक है। धार्मिक व्यक्ति ही नैतिक होता है और नैतिक व्यक्ति ही धार्मिक।

व्यावहारिक दृष्टि से धर्म मानव प्रकृति के कई असंस्कृत पाशविक भागों को शुद्ध करने और सामाजिक जीवन की आवश्यकता की पूर्ति की ओर सकेत करता है। इसी से मनुष्य के जीवन में धर्म और नैतिकता का बडा महत्व है। 'धर्म का व्यावहारिक रूप नीति और नीति का सिद्धान्त रूप धर्म है।'[८] अपने वास्तविक अर्थ मे धर्म और नैतिकता मे कोई अन्तर नही है। व्यापक अर्थो मे धर्म जीवन जीने की कला है, एक आचरण संहिता है जो स्वयं व्यक्ति के रूप मे एवं समाज के एक सदस्य के रूप मे एक व्यक्ति के क्रिया-कलाप को नियन्त्रित करती है और जिसका उद्देश्य व्यक्ति का क्रमबद्ध विकास करना और उसे इस योग्य बनाना है कि मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच सके। इस प्रकार किसी धर्म की आचार संहिता के दो पक्ष होते है— आचरण की शुद्धि और सामाजिक व्यवहार से सम्बन्धित नियम और दूसरे ईश्वर से साक्षात्कार के उपासना इत्यादि नियम। इनमे प्रथम सदाचार और सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी नियम ही नैतिक नियम है और उनके पालन का भाव नैतिकता। नीति शास्त्रकारो की परिभाषाओं से भी यह बात स्पष्ट होती है।

शुक्रनीति में कहा गया है— नीतिशास्त्र नयन व्यापार करता है अर्थात् व्यक्ति एवं समाज को कुमार्ग से सन्मार्ग की ओर ले जाता है।[९] एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स के अनुसार नीति शास्त्र आचरण मे ओत-प्रोत आदर्श या अच्छाई-बुराई औचित्य, अनौचित्य के मानक का सैद्धान्तिक अध्ययन है।

महाभारत मे सामाजिक कर्तव्य शास्त्र या नैतिक नियमो का विस्तार से वर्णन किया गया है, अपितु उसे सनातन धर्म, मानव धर्म, परमधर्म कह कर विशेष महत्व प्रदान किया गया है।

उषारानी त्रिखा लिखती हैं— 'महाभारत नैतिक शिक्षाओ का विश्व कोष है।' सनातन धर्म का पालन करने के लिये किन-किन सदाचारो को व्यवहार मे लाना चाहिए, यह महाभारत में विस्तार से वर्णित है।[१०]

नैतिक नियमों के पालन को ग्रन्थकार ने विशेष महत्व प्रदान किया है। व्यास मुनि कहते हैं— सदाचार से ही मनुष्य श्री व आयु प्राप्त करता है तथा सदाचार से ही मनुष्य को इहलोक और परलोक में कल्याण की प्राप्ति होती है। दुराचारी की आयु क्षीण होती है। अत: सदाचार का पालन करना चाहिए।[११] श्रेष्ठ पुरुषो के आचरण को सदाचार का लक्षण अतएव अनुकरणीय कहा गया है।[१२]

भारतीय आचार शास्त्रकारो के अनुसार आचार से हीन व्यक्ति के लिये संसार मे कोई सुख नही है और उसे अन्य लोक मे भी सुख की प्राप्ति नही होती है। वेद और अन्य शास्त्रो के ज्ञान मे पारंगत व्यक्ति भी यदि आचार से

भ्रष्ट हो तो समस्त धर्मज्ञान भी उसे कोई लाभ नही पहुँचा पाते और न आनन्द ही देते है । जैसे अन्धे के हृदय मे उसकी सुन्दर प्रियतमा भी सौन्दर्यानुभूति का सुख उत्पन्न नही करती ।[१३] इसी कारण भारतीय ऋषियो का आग्रह आचार के प्रति बराबर रहा है । वे आचार को ही सम्मान, दीर्घजीवन और सुख का कारण मानते है ।

मनु निर्दिष्ट धर्म के दस लक्षण[१४] सदाचरण की ही शिक्षा देते है ।[१५] गीता मे अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपेशुन किसी की निन्दा न करना, दया, मार्दव, कोमलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह तथा अभिमान रहित होने को दैवी सम्पदा के अन्तर्गत रखा गया है । याज्ञवल्क्य ने सामान्य धर्म के अन्तर्गत अहिसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान दम एव दया की गणना की है ।[१६]

महाभारत के अनुसार कूरता का अभाव (दया), अहिंसा, अप्रमाद (कर्तव्यपरायणता), देवता, पितर, मनुष्य आदि को उनके भाग समर्पित करना, श्राद्धकर्म, अतिथि सत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी ही पत्नी से संतुष्ट रहना, पवित्रता रखना, कभी किसी के दोष न देखना, आत्मज्ञान तथा सहनशीलता— ये सभी वर्णो के सामान्य धर्म है ।[१७] शान्ति पर्व मे ही अन्यत्र स्वयं व्यास जी कहते हैं कि बिना दी हुई वस्तु को न लेना, दान, अध्ययन और तप मे तत्पर रहना, किसी भी प्राणी की हिसा न करना, सत्य बोलना, क्रोध त्याग देना और यज्ञ करना— ये सब धर्म के लक्षण हैं । सम्पूर्ण महाभारत मे अनेकश· अनेक रूपको के माध्यम से कही अहिंसा[१८] को, कही सत्य[१९] को, कही अनृशसता[२०] को, कही अक्रोध[२१] को, कही ब्रह्मचर्य[२२] को, कही राम[२३] को, परम धर्म बतलाया है । कहने का तात्पर्य है कि नैतिक सद्‌गुणो मे प्रत्येक, धर्म से तुलनीय है और उनमें से एक की साधना मे सभी की सिद्धि हो जाती है ।

किन्तु महाभारतकार सामान्य धर्म को इतना महत्व देते हुए भी यह स्वीकार करते है कि ये सामान्य धर्म भी देश, काल एवं परिस्थितियो से पूर्ण निरपेक्ष नही है । चोरी करना, झूठ बोलना एवं हिंसा करना आदि अधर्म भी अवस्था विशेष मे धर्म माने जाते है ।[२४]

इस सामान्य धर्मों मे से कुछ की व्याख्या अब प्रस्तुत है ।

अहिंसा— श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि मेरे विचार से प्राणियों की हिसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है । किसी प्राणी की रक्षा के लिये झूठ बोलना पड़े तो बोल दे किन्तु उसकी हिंसा किसी तरह न होने दें ।[२५]

सब यज्ञो में जो दान किया जाता है, सब तीर्थो मे जो स्नान किया जाता है तथा सब दानो मे जो दान दिया जाता है, के फल एक साथ मिलकर भी अहिंसा के सदृश्य नही है ।[२६]

अहिंसा मानव आधार की एक विशिष्ट कड़ी है । अहिंसा का यहॉ व्यापक अर्थ लिया गया है जिसका अर्थ मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को कष्ट न पहुँचाना है । अहिसा धर्म का लक्षण है ।[२७]

अहिंसा की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा अहिंसा परम धर्म है । अहिंसा परम् संयम है । अहिंसा परम दान है । अहिंसा परम तपस्या है । अहिंसा परम यज्ञ है । अहिंसा परम फल है । अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है ।[२८]

समस्त प्राणियों मे श्रेष्ठ ब्राह्मण है और अहिसा उसका सबसे बड़ा धर्म है ।[२९] अहिंसा की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि प्राणियो की हिसा न हो इसके लिए ही धर्म का उपदेश दिया गया है । अतः जो अहिंसा से मुक्त है वही धर्म है ऐसा धर्मात्माओ का निश्चय है ।[३०]

धर्मव्याध ने कौशिक जी से इस प्रकार कहा 'अहिंसा सबसे महान् धर्म है, परन्तु वह सत्य में ही प्रतिष्ठित है । सत्य के ही आधार पर श्रेष्ठ पुरुषो के सभी कार्य आरम्भ होते है ।[३१] अहिंसा और सत्य भाषण ये समस्त प्राणियो के प्रथम आचार है । इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यो से स्पष्ट है कि अहिंसा व्यक्ति का सबसे बड़ा धर्म है जिसका पालन आवश्यक है जो सामान्य धर्म का एक अंग है ।

'सम्पूर्ण भूतो के लिये जिन धर्मो का विधान किया गया है, उनमे अहिंसा ही सबसे बड़ी मानी गई है ।'[३२]

'जो धर्म की मर्यादा से भ्रष्ट हो चुके है मूर्ख है, नास्तिक है तथा उन्हे आत्मा के विषय मे सन्देह है एवं जिनकी कही प्रसिद्धि नही है, ऐसे लोगो ने हिसा का समर्थन किया है ।'[३३]

वैदिक युग मे पशुबलि के साथ यज्ञ करना आम बात थी परन्तु महाभारत मे एक स्थान पर न केवल पशु वरन् यज्ञ निर्माण के लिए लकडी काटने को भी हिंसा कहा गया है ।[३४] आश्वमेधिक पर्व मे ब्राह्मण और उसकी पत्नी पुष्पकर धारिणी की कथा मे यज्ञ हिंसा के विषय मे तत्कालीन मतभेदो की झलक मिलती है, परन्तु अन्त मे हिसाहीन यज्ञ को ही श्रेष्ठ कहा गया है ।

यद्यपि अहिंसा सामान्य धर्म माना गया है परन्तु विशेष परिस्थिति मे हिंसा का अवलम्बन लेना ही धर्म माना गया है— यथा वेद के ज्ञाता आततायी को मारना धर्म है । अन्याय का हिंसा द्वारा प्रतिरोध करना चाहिए । महाभारत का यह स्पष्ट करना है कि अन्याय तथा अत्याचार का विरोध हिंसा के द्वारा भी करना चाहिए । यदि समाज के लिये हिंसा भी करनी हो तो उसे हिंसा करना चाहिए । ऐसी हिसा के द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है अधर्म की नही । मनु ने जो अहिंसा को शाश्वत धर्म माना है एवं आठ प्रकार की हिंसा का वर्णन किया है, वे निम्नवत है—

१. अनुमन्ता— जिसकी अनुमति के बिना वध नही हो सकता ।

२. विशासिता— वध किये प्राणियो के अंग को काटना ।

३. निहन्ता— वध करने वाला ।

४. विक्रता— मांस बेचने वाला ।

५. सस्कर्ता— मांस को पकाने वाला ।

६. अपहर्ता— उपहार के रूप में मास को देने वाला ।

७. खादक— मांस खाने वाला ।

मनु ने मांस शब्द का निर्वचन किया है । मास शब्द का अर्थ 'मुझको' है और 'स' का अर्थ 'वह' है । अतः

मास शब्द का अर्थ है कि इस लोक मे जिसका मास खाता हूँ वह परलोक मे मुझको खायेगा।[३५] अहिसा धर्म है अहिसा को धर्म मानने के लिये दया की आवश्यकता है। दया को भी धर्म माना गया है। जिसके हृदय मे दया है, वह किसी की हिसा नही कर सकता।

वर्तमान युग में अनेक विचारको ने भी अहिंसा का पूर्ण समर्थन किया है। उन विचारको मे महात्मा गॉधी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गॉधी के अनुसार अहिसा का अर्थ है प्राणी मात्र के प्रति दुर्भाव का पूर्ण अभाव। अहिंसा एक महाव्रत है। वह तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है। गॉधी का कथन है कि 'मेरे लिये सत्य से बढ़कर कोई धर्म नही है और अहिंसा से बढकर कोई कर्तव्य नही है। दूसरे के लिए प्राणार्पण करना प्रेम की पराकाष्ठा है, उसका दूसरा नाम अहिसा है। मनुष्य ने संसार मे प्रचण्ड अस्त्र-शस्त्र बनाये है, उनसे भी प्रचण्ड अहिसा की शक्ति है। यह धर्म तिलक लगाने या गंगा स्नान करने का नही किन्तु अहिसा और सत्य आचरण का है यह अहिसा परम धर्म है।'[३६] यह क्षमाशील वीर का लक्षण है।[३७]

सत्य

सत्य का वर्णन करते हुए भीष्म जी ने कहा कि 'सत्य पुरुषों ने सदा सत्य रूप धर्म का ही पालन किया है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को सदा सिर झुकाना चाहिए, क्योकि सत्य ही जीवन की परम गति है। सत्य ही धर्म, तप और योग है। सत्य ही सनातन ब्रह्म है। सत्य को परम यज्ञ कहा गया है और सब कुछ सत्य पर टिका हुआ है।[३८]

मनु ने भी सत्य की प्रतिष्ठा को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'सत्य बोलना चाहिए', प्रिय बोलना चाहिए, किन्तु झूठा प्रिय नही बोलना चाहिए।[३९] सत्य से मन की शुद्धि होती है।[४०]

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को धर्म का उपदेश देते हुए इस प्रकार कहा कि सत्य बोलना उत्तम है। सत्य से बढ़कर दूसरा कुछ नही है। परन्तु यह भी समझ लो कि सत्य पुरुषो द्वारा आचरण मे लाये हुए सत्य के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है।[४१]

ससार में सत्य से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नही है यह आचार का सर्वश्रेष्ठ आधार है। सत्य बोलने वाला मनुष्य सबका विश्वासपात्र बन जाता है। सत्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि भारत सत्य बोलना अच्छा है, सत्य से बढ़कर कोई धर्म नही है।[४२]

व्यास जी का कथन है कि दान से कृपण को जीता जा सकता है सत्य से झूठ को जीता जा सकता है। क्षमा से क्रूरता को साधुता से असाधु को जीता जा सकता है, यह सत्य को प्रतिष्ठित करता है।

सत्य की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म ने इस प्रकार कहा 'सत्य से बढ़कर कोई धर्म नही और झूठ से बढ़कर कोई पाप नही है सत्य ही धर्म की आधारशिला है। अत: सत्य का लोप न करें।'[४३]

सत्य की महिमा के विषय में भीष्म ने युधिष्ठिर को एक पिता पुत्र का प्राचीन संवाद सुनाया, उन्होने बताया कि सत्य से मृत्यु पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य मोह से मृत्यु को और सत्य से अमृत को प्राप्त करता

है। ससार में विद्या के समान कोई नेत्र नही है, सत्य के समान कोई तप नही है राजा के समान कोई दुःख नही है और त्याग के समान कोई सुख नही है।[४४]

भगवान श्री कृष्ण का कथन है कि— जहाँ मिथ्या बोलने का परिणाम सत्य बोलने के समान मंगल कारक हो अथवा जहाँ सत्य बोलने का परिणाम असत्य भाषण के समान अनिष्टकारी हो, वहाँ सत्य नही बोलना चाहिए, वहाँ असत्य बोलना ही उचित होगा। विवाह काल मे स्त्री प्रसंग के समय, किसी के प्राण पर संकट आने पर, सर्वस्व का अपहरण होते समय तथा ब्राह्मण की भलाई के लिये आवश्यकता हो तो असत्य बोल दें। इन पाँच अवसरो पर झूठ बोलने से पाप नही लगता है।[४५]

द्रौपदी जो महाभारत की नायिका थी उसके सत्य के विषय में कथन कितना मार्मिक है कि 'वह सभा नही जहाँ वृद्ध पुरुष न हो, वे वृद्ध नही है जो धर्म की बात न बताये, वह धर्म नही जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नही जो छल से युक्त हो।'[४६]

जिस प्रकार योग और अभ्यास से विद्या सुरक्षित रहती है स्वच्छता से रूप की रक्षा होती है तथा सदाचार से कुल की रक्षा होती है उसी प्रकार सत्य से धर्म की रक्षा होती है।[४७]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सत्य से बढ़कर कोई दूसरी चीज नही है। इसकी ऐसी ज्वाला है जिसके सामने अन्धकार टिक नही सकता। इसलिए व्यक्ति को सत्य का पालन करना चाहिए जो धर्म का एक प्रमुख अग है।

यदि तराजू के एक पलड़े पर एक हजार अश्वमेध यज्ञो का पुण्य और दूसरे पलडे पर केवल सत्य रखा जाय तो सहस्र अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का ही पलड़ा भारी होगा।[४८]

सत्य के प्रभाव से सूर्य तपते हैं, सत्य से अग्नि प्रज्वलित होती है और सत्य से ही वायु का सर्वत्र संचार होता है। क्योकि सब कुछ सत्य पर टिका हुआ है।[४९]

देवता, पितर और ब्राह्मण सत्य से प्रसन्न होते हैं। सत्य को ही परम धर्म बताया गया है, अतः सत्य का कभी भी उल्लघन नहीं करना चाहिए।[५०]

ऋषि-मुनि सत्यपरायण, सत्य पराक्रमी और सत्यप्रतिज्ञ होते है इसलिये सत्य सबसे श्रेष्ठ है।[५१]

जैसे नौका या जहाज समुद्र से पार होने का साधन है उसी प्रकार सत्य स्वर्ग लोक मे पहुँचने के लिये सीढी का काम देता है।[५२]

सत्य पालन से मनुष्य दीर्घायु होता है सत्य से कुल परम्परा का पालन होता है और सत्य का आश्रय लेने से वह लोक मर्यादा का संरक्षक होता है।[५३]

सत्य की महत्ता का वर्णन करते हुए विदुर ने कहा है कि जहाँ सत्य रहता है, धर्म वही रहता है। सत्य के अतिरिक्त धर्म का कोई स्थान नहीं है।[५४] विदुर की यह भी मान्यता है कि सत्य आदि सद्‌गुणों के कारण ही व्यक्ति क्लेश भी सहन करता है। जिन व्यक्तियों के अन्तर्गत ये सद्‌गुण नहीं होते वे क्लेश सहन नहीं कर सकते। विदुर धृतराष्ट्र से कहते

है कि युधिष्ठिर सत्य आदि सद्‌गुणो के कारण ही क्लेश सहन कर रहे है ।[५५] क्योकि सत्य आदि गुण दुरात्मा पुरुषो मे नही होते ।[५६]

दुष्यन्त द्वारा न पहचाने जाने पर शकुन्तला का कथन है— 'सम्पूर्ण वेदो का अध्ययन और समग्र तीर्थो मे स्नान भी सत्य की समानता कर सकेगा या नही इसमे सन्देह है । सत्य के सामान कोई धर्म नही है । सत्य से उत्तम कुछ भी नही है और झूठ से बढ़कर तीव्रतर पाप इस जगत मे कोई नही है । सत्य परब्रह्म परमात्मा का रूप है । सत्य सबसे बडा नियम है, अतः महाराज अपनी सत्य प्रतिज्ञा न छोडे ।'[५७]

जैन विचारकों ने भी सत्य को बहुत व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया है । वे अहिंसा की भॉति सत्य का भी परित्याग करना किसी भी परिस्थिति में समीचीन नही मानते ।

महात्मा गॉधी ने भी सत्य को महान् माना है । उनके अनुसार सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है ।[५८] वे सत्य को दो अर्थो मे प्रयोग करते है । तात्विक अर्थ एवं नैतिक अर्थ मे । तात्विक अर्थ मे सत्य से तात्पर्य चरम सत्ता के ज्ञान से है । नैतिक अर्थ मे सत्य से तात्पर्य सत्य के आचरण से है । जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप मे वर्णन करना ही सत्य है ।

कभी-कभी यह सन्देह होने लगता है कि क्या हर एक परिस्थिति मे सत्य व्रत का पालन सम्भव है ? महाभारत मे युधिष्ठिर (जिन्हें धर्म राज माना जाता है) ने भी एक परिस्थिति मे सत्यव्रत का पूरा-पूरा पालन नही किया । द्रोणाचार्य की हत्या कराने के लिए उन्होने एक बार सत्यव्रत का उल्लंघन किया 'अश्वत्थामाहतो नरो व कुजरो वा' (अश्वत्थामा आदमी या हाथी मारा गया) । विभिन्न धर्म ग्रन्थो मे इस सत्य व्रत के पालन के दो अपवाद बताये गये है ।

१. किसी अत्याचारी से निरपराध की रक्षा के लिए असत्य बोला जा सकता है ऐसी परिस्थिति मे यथार्थ को छिपाना सत्य व्रत के विरुद्ध नही है ।

२. आत्म रक्षा और लोक हित या हिंसा से बचने के लिए असत्य भाषण किया जा सकता है । महाभारत के शान्तिपर्व मे भीष्म ने युधिष्ठिर से सत्य का स्वरूप बताते हुए कहा है कि ऐसी विषम परिस्थिति में यदि बिना बोले हुए काम चल जाय तो मौन रहना ही अच्छा है । लेकिन यदि बोलना ही अनिवार्य हो तो तथ्य छिपाना भी सत्यव्रत का उल्लघन नही कहा जा सकता है ।[५९]

दया

भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा— भरत नन्दन जो समस्त प्राणियों पर दया करते हैं क्रूरता रहित कर्मो मे ही प्रवृत्त होते ही उसे सभी आश्रमों के सेवन का फल मिलता है ।[६०] वृहस्पति स्मृति में दया की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि 'अपने बन्धु या अन्य जन मित्र अथवा शत्रु पर विपत्ति पड़ने की दशा में उनकी रक्षा करने को दया कहते है ।[६१]

श्रीमद्‌भागवत् में ईश्वर प्राप्ति का एक उपाय दया को बतलाया गया है ।[६२]

अर्थात् सब भूतों पर दया, थोड़ी सी वस्तु से सन्तोष एवं सभी इन्द्रियो का दमन इन तीनो से परमात्मा तुरन्त

प्रसन्न होते है।

दमयन्ती ने अपने पिता के घर आकर चार ब्राह्मणो को चार दिशाओ मे राजा नल का पता लगाने के लिए भेजा, तब उसने उन ब्राह्मणों से कहा कि तुम इन बातो को जोर-जोर से सुनाना। यदि नल कही होगे तो वह बात उन्हे असह्य होगी और वह उसका उत्तर देगे। उसमे एक बात यह भी थी कि 'मुझ पर' दया करो, मैने तुम्हारे ही मुख से सुन रखा है कि दयालुता सबसे बड़ा धर्म है।[६३]

दम (संयम)

आत्म सयम सार्वभौम धर्म का आधार है। संसार मे संयम ही मनुष्यो के लिए सुखकारी है। संयमी व्यक्ति को हर जगह सम्मान मिलता है। दम की श्रेष्ठता बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा है कि— 'हमने संसार मे दम के समान दूसरा कोई धर्म नहीं सुना। जगत के सभी धर्म वालों को यहॉ दम को ही उत्कृष्ट बतलाया है और सबने उसकी प्रशसा की है।[६४]

दम तेज की वृद्धि करता है। दम पवित्र एव उत्तम साधन है। दम से व्यक्ति परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। विदुर ने कहा है कि जो दम रुप गुण से युक्त है उसी को दान, क्षमा और सिद्धि का यथार्थ लाभ प्राप्त होता है। क्योकि दमी ही दान, तपस्या, ज्ञान और स्वाध्याय का सम्पादन करता है।[६५]

महर्षियो ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार धर्म की एक नही अनेक विधियॉ बताई है परन्तु इन सबका आधार मन और इन्द्रियों का संयम ही है। दम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया कि सिद्धान्त के जानने वाले वृद्ध पुरुष कहते हैं कि इस संसार में दम ही कल्याण का परम साधन है। ब्राह्मण के लिए तो वह सनातन धर्म है।[६६]

दम का दोष बताते हुए भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा कि — 'दम अर्थात् संयम मे एक ही दोष है दूसरा नही वह यह कि क्षमाशील होने के कारण उसे लोग असमर्थ समझते है। संयम ही व्यक्ति का सबसे बड़ा धर्म है।[६७]

क्षमा

संसार के सभी धर्मो मे क्षमा श्रेष्ठ है। क्षमा के लिए उपदेश देते हुए शमीक ने अपने पुत्र से कहा कि 'तुम सदा इन्द्रियो को वश मे रखते हुए क्षमाशील बनो क्योकि क्षमा से ही ब्रह्म लोक मे जा सकते हो। क्षमा से ही व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करता है, इस प्रकार क्षमा व्यक्ति का आभूषण है।'

भगवान् श्रीकृष्ण ने क्षमा के विषय मे युधिष्ठिर से कहा कि क्षमा ही यज्ञ, दान, यज्ञ मनोनिग्रह है। अहिंसा धर्म और इन्द्रियों का सयम क्षमा के ही फलस्वरूप है। क्षमा ही दया और क्षमा ही यज्ञ है। अत: जो ब्राह्मण क्षमावान् है वह देवता कहलाता है, वही सबसे श्रेष्ठ है।[६८]

क्षमा की श्रेष्ठता बताते हुए वन पर्व मे युधिष्ठिर द्रौपदी से कहते हैं कि 'पुरुष को सभी आपत्तियो मे क्षमा भाव रखना चाहिए। क्षमाशील पुरुषों से ही समस्त प्राणियो का जीवन बताया गया है। क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्य

है, क्षमा तत्व है, क्षमा शौच है, क्षमा ने ही सम्पूर्ण जगत् को धारण किया है। जो व्यक्ति इन चीजो को जानता है वह ब्रह्मलोक मे जाता है। अत· क्षमा सबसे उत्कृष्ट माना गया है।[६९]

विदुर ने क्षमा की श्रेष्ठता बताते हुए धृतराष्ट्र से कहा है कि सब जगह और समय मे क्षमा के समान हित कारक और अत्यन्त श्री सम्पन्न बनाने वाला दूसरा कोई उपाय नही है। जो शक्तिहीन है वह तो क्षमा करे ही जो शक्तिमान है वह भी धर्म के लिए क्षमा करे। जिसकी दृष्टि मे अर्थ और अनर्थ दोनो समान है उसके लिए तो क्षमा सदा हितकारिणी होती है।

यद्यपि आज के युग मे जो व्यक्ति क्षमा कर देते है उसे लोग कमजोर समझते हैं परन्तु उन्हें भी यह भूल जाना चाहिए क्योकि क्षमा बलवानों का भूषण है। क्षमा ही वशीकरण है इससे सब कुछ सिद्ध हो जाता है। क्षमाशील व्यक्ति एक बार भले ही अपराधी एव न समझ व्यक्ति का शत्रु बन जाय परन्तु उसे क्षमा करने पर वह निश्चय ही उसका मित्र हो जायेगा। इस प्रकार क्षमाशील व्यक्ति किसी का शत्रु नही होता। अपराधी व्यक्ति सदैव उसके समक्ष मे नत मस्तक होता है। महाभारत के वन पर्व मे क्षमा के अद्भुत महिमा वर्णित है। महाभारत के उद्योग पर्व मे कहा गया है कि सामर्थ्यवान क्षमा करता है तो धर्म करता है, कमजोर क्षमा करता है तो अपना कल्याण करता है। जिस प्रकार तपस्वियों का बल तप है, ब्रह्म ज्ञानियो का बल ब्रह्म है, दुर्जनो का बल हिसा है उसी प्रकार गुणवानो का बल क्षमा है।[७०]

क्षमा ही यश, दान, यज्ञ और मनोनिग्रह है। अहिंसा धर्म और इन्द्रियो का संयम क्षमा के ही फलस्वरूप है।[७१] क्षमा ही दया है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा से यह सारा जगत टिका हुआ है, अत: जो ब्राह्मण क्षमावान है वह देवता कहलाता है, वही सबसे श्रेष्ठ है।[७२]

दान

भारतीय धर्मशास्त्र में दान का अपना एक विशिष्ट महत्व है। दान की महिमा बताते हुए राज गुरु ने इन्द्र से कहा कि जो पुण्यात्मा मानव वहाँ (कुरुक्षेत्र में) दान देगा उसका वह दान शीघ्र सहस्त्र गुणा हो जायेगा।[७३] दान दो प्रकार का बताते हुए भृगु जी ने भारद्वाज मुनि से कहा कि दान दो प्रकार का होता है एक परलोक के लिए दूसरा इहलोक के लिए। सत्पुरुषो को जो कुछ दिया जाता है वह दान परलोक मे अपना फल लिये उपस्थित होता है और असत् पुरुषो को जो दान दिया जाता है उसका फल यहाँ भोगा जाता है। जैसा दान दिया जाता है वैसा ही उसका फल होता है।

दान करने वाले मनुष्य इहलोक में कीर्ति और परलोक मे सर्वोत्तम सुख पाता है। इसलिए ईर्ष्या रहित होकर मनुष्य ब्राह्मणो को अवश्य दान दे, यह धर्ममूलक दान है।[७४]

जैसे भूतल पर वर्षा के समय गिरती हुई जल की छोटी-छोटी बूँदों से ही खेत की क्यारियाँ तालाब, सरोवर और सरिताएँ अतर्क्य भाव से जलपूर्ण दिखाई देती है, उसी प्रकार एक-एक करके थोड़ा-थोडा दिया हुआ दान भी बढ जाता है।[७५]

उपरोक्त सद्गुणों के अतिरिक्त धैर्य, ध्यान, त्याग, मोहाभाव, शील, ईर्ष्या का अभाव, समत्व आदि अनेक सामान्य

धर्मो का महाभारत मे वर्णन है। महाभारत मे वर्णाश्रम व्यवस्था को आधार बनाकर सामाजिक दायित्वो के निर्वाह तथा सद्व्यवहार सम्बन्धी उपदेश कई स्थानो पर दिये गये है इनमे से अनेक नैतिकता की श्रेणी मे रखे जा सकते है। कुछ उपदेश द्रष्टव्य है—

१. माता-पिता और गुरुजनो की आज्ञा का सदैव पालन करना चाहिए।[७६]

२ सूर्योदय के पश्चात् और दिन मे सोना हानिकारक है।[७७]

३. दोनो हाथ, दोनो पैर और मुँह इन पाँच अंगो को धोकर पूर्वाभिमुख होकर भोजन करना चाहिए।[७८]

४. महात्माओ के चरित्र का श्रवण करना चाहिए।[७९]

५. देवताओ, पितरों और ऋषियों के प्रति श्रुति सम्मत कर्तव्यो का निर्वाह अवश्य करना चाहिए।[८०]

६. दूसरे के मर्म को चोट पहुँचाने वाले कटु वचन रूपी बाण कभी मुँह से न निकाले[८१], कटुवचन की निन्दा अनेक स्थानो पर की गयी है। आदि पर्व के ८८वें अध्याय मे कहा गया है कि अहंकार से भरकर कटुवचन बोलने के कारण ही ययाति का स्वर्ग से पतन हुआ।

७ घर पर आये हुए अतिथि का सभी को प्रेमपूर्वक आदर सत्कार करना चाहिए। पच यज्ञ के अधिकारी गृहस्थ का यह विशेष कर्तव्य है।[८२] अतिथि के महत्व को प्रतिपादित करने के लिए शान्तिपर्व के १४६वे अध्याय मे कबूतर और कबूतरी द्वारा शरणागत बहेलिये के अतिथि-सत्कार मे प्राणोत्सर्ग करने की मार्मिक कहानी वर्णित है।

८. उपकार करने वाले के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। यह उपदेश देने के लिए तोते द्वारा आश्रय वृक्ष के सूख जाने पर भी उसे न छोड़ने की सुन्दर कहानी गायी गयी है।[८३] कृतघ्नता से बड़ा कोई पाप नही है।[८४]

९. प्रत्येक मनुष्य को यथाशक्ति दान देना चाहिए, व्यास मुनि कहते है कि दान के विषय मे इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य न्याय से कमाये धन को उत्तम देश-काल और पात्र का विचार करते हुए दान करे।[८५]

१०. चिरकाल तक सोच-विचार करके किसी से मैत्री करनी चाहिए। क्योंकि समानशील की मैत्री ही चिरकाल तक स्थायी रहती है।[८६]

११. दूसरो के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि हम अपने साथ चाहते है।[८७]

१२. धनार्जन मनुष्य को धर्मानुसार ही करना चाहिए।[८८]

१३. अपने से बड़ो को तू कहकर नही पुकारना चाहिए।[८९]

१४. गुरुजन पधारे तो उन्हें बैठने के लिए आसन दे, प्रणाम करे। गुरुजनो की पूजा से मनुष्य आयु, यश और लक्ष्मी से सम्पन्न होते है।[९०]

१५. खाद्य पदार्थ जमीन पर रखकर नही खाना चाहिए।

१६. माता का विशेष आदर करना चाहिए, वह गुरुओं मे श्रेष्ठतम् है।

१७. किसी के द्वारा प्रश्न करने पर विद्वान् के लिए उसकी जिज्ञासा का समाधान करना सनातन धर्म है।

१८ नीच वर्ण के पास भी उत्तम विद्या हो तो उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिए और अपवित्र स्थान पर पडे स्वर्ण को भी उठा लेना चाहिए।

१९. साधु पुरुषो की सगति की अभिलाषा करनी चाहिए, क्योकि वे संकट के समय मे उचित कर्तव्य का मार्गदर्शन करते है और महान, अभिष्ट के साधक होते है।

•

संदर्भ

१. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मों भयावहः॥ गीता ३,३५

२ स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ गीता २,३१

३ अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
तत स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ गीता २,३३

४. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ गीता २,४७

५. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ गीता ३,३५

६. नियतं कुरुकर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥ गीता ३,८

७. नियतस्य तु संन्यास· कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ गीता १८,७

८. सुरती, उर्वशीः नैतिक शिक्षा और बाल विकास, पृ० ६७

९ शुक्रनीति, १-५६ नयनान्नीतिरुच्यते।

१०. त्रिखा, उषारानी. 'दी कनसेप्ट्स ऑफ रिलीजन इन दी महाभारत, पृ० ११०

११. आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमान्योति पुरुष प्रेत्य चेह च॥ अनु० पर्व०, १०४-६

१२. तस्मात कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद भतिमात्यनः।
अषि पापशरीरस्य आचारो हन्त्य लक्षणम्॥ अनु० पर्व, १०४-८

१३. आचारलक्षणो धर्म· सन्तश्चारित्र लक्षणाः।

साधनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षगम्

अप्यदृष्टं श्रवादेव पुरुष धर्मचारिणम्।

भतिकर्माणि कुर्वाण तं जना. कुर्वते प्रियम्॥

आचारो भूतिंजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।

आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षगम्

आगमाना हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।

आचार प्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते॥ अनु० पर्व, १०४-९, १०, १५४, १५५

१४. धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः

धीर्विद्या सत्यभक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनुस्मृति, ६-९२

१५. श्रीमद्भगवद्गीता, १६, २-३

१६. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।

दान दमो दया शान्तिस्सर्वेषां धर्मसाधनम्॥ यज्वल्क्य स्मृति, १, ४, १२२

१७. आनृशस्यमहिसा चाप्रमाद सविभागिता।

श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च॥

स्वेषु दारेषु संतोष. शौच नित्यानसूयता।

आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप॥ शान्तिपर्व, २९६, २३-२४

१८. शान्तिपर्व, ३६, १०

१९. आदिपर्व, ११, १३

२०. आदिपर्व, ७४, १०५

२१. अनुशासनपर्व, ४७, २०

२२ ब्रह्मचर्य परो धर्मः, आदिपर्व, १६९, ७१

२३ शम एव परो धर्म·, आदिपर्व, १८०, १३

२४. स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठित·।

आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः॥ शान्तिपर्व, ३६, ११

२५. यत् स्यादहिंसा संयुक्तं स धर्म इति निश्चय.।

अहिसांर्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतूम॥ कणपर्व, ६९, ५७

२६. सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु चाप्लुतम्।

सर्व दानफलं वापि नेतत तुल्यमहिंसया ॥ अनु० पर्व०, ११६-३०

२७ अहिंसा लक्षणो धर्म·। अनु० पर्व, ११६-१२

२८ अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिसा परो दम

अहिसा परमं दानमहिंसा परम तप· ॥

अहिसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा पर फलम्।

अहिंसा परम मित्रमहिंसा परम सुखम् ॥ अनु० पर्व०, ११६, २८-२९

२९ अहिसा परमोधर्मः सर्वप्राणभृतां वर। आदिपर्व, ११-१३

३०. अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।

य स्यादहिंसा सम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः॥ शान्तिपर्व, १०९, १२

३१. अहिंसा परमो धर्म. स च सत्ये प्रतिष्ठितः।

सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठा तु प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः॥ वनपर्व, २०७, ७४

३२. अहिसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यों ज्यायसी मता, शान्तिपर्व, २६५-६

३३ शान्तिपर्व, २६५, ४

३४ यदि यज्ञांश्च वृक्षाश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवा.।

वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्म· प्रशस्यते ॥ शान्तिपर्व, २६५८

३५. मांसभक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहादम्यहम्।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ मनुस्मृति, ५-५५

३६. महात्मा गॉधी वाणी, पृष्ठ ३६

३७. महात्मा गॉधी वाणी, पृ० ४९

३८. सत्यं सत्सु सदा धर्म सत्यं धर्मः सनातनः।

सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः॥

सत्य धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।

सत्य यज्ञः परः प्रोक्तः सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ शान्तिपर्व, १६२, ४-५

३९. सत्य ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

प्रिय च नानृतं ब्रूयादेष धर्म· सनातन.॥ मनुस्मृति, ४, १३८

४०. मन· सत्येन शुद्धयति। मनुस्मृति ५, १०९

४१. सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद विद्यते परम्।

तत्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्च सत्य मनुष्ठितम् ॥ कर्णपर्व, ६९, ३१

४२. शान्तिपर्व, ११०, ४

४३. नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मश्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत् ॥ शान्तिपर्व, १६२, २४

४४. अमृत चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येना पश्यते मृतम् ॥ शान्तिपर्व, १७५, ३०

४५. कर्णपर्व, ६९, ३२-३३

४६. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
ना सौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धमृ ॥ सभापर्व, ६७, ५२

४७. सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रमं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ उद्योगपर्व, ३४-३९

४८. अश्वमेधसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम ॥
अश्वमेधसहस्त्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ अनु० पर्व०, ७५, २९

४९ सत्येन सूर्यस्त पति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन भक्तो वान्ति सर्वे सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ अनु० पर्व०, ७५, ३०

५०. सत्येन देवा· प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा ।
सत्यमाहुः परोधर्मस्तस्मात् सत्यं न लड्धयेत ॥ अनु० पर्व०, ७५, ३०

५१. मुनयः सत्यनि्रताः मुनयः सत्यविक्रमाः ।
मुनयः सत्यशयथास्तस्यात् सत्यं विशिष्यते ॥ अनु० पर्व०, ७५, ३१

५२. सत्यं स्वर्गस्य सोपान पारावारस्य नौरिव ।
नास्ति सत्यात् परं दानं नास्ति सत्यात् परं तपः ॥ वही, १४५

५३ दीर्घायुश्च भवेत् सत्यात् कुलं संतान पालकः
लोक सस्थितिपालश्च भवेत् सत्येन मानव ॥ वही, १४५

५४ उद्योग पर्व, ३५-५८

५५. उद्योग पर्व, ३३, १८

५६ उद्योग पर्व, ३४-७२

५७. आदिपर्व, ७४, १०४-१०६

५८.	महात्मा गॉधी वाणी, पृ० १२

५९.	अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत्कर्थवन।

अवश्यं कूजितन्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात्।

श्रेयस्तत्रानृसं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्॥ शान्तिपर्व, १०९, १५-१६

६०	सर्व भूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत।

आनृशस्य प्रवृतस्य सर्वावस्थ पदे भवेत्॥ शान्ति पर्व, ६६, १९

६१	"परे वा बन्धु वर्गे व मित्रे द्वेष्यरिवासदा।

आपन्ने रक्षितव्यं तु दयेषा परिकीर्तिता॥

६२.	"दपया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा।

सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दन॥

६३.	तत् कुरुष्व नर व्याघ्र दयां मपि नरर्षम।

आन् शंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि में श्रुत॥ वन पर्व, ६९, ४३

६४	दमेन सदृश धर्मनान्यं, लोकेषु शुश्रुम।

दमो हि परमो लोके प्रशस्त सर्वधर्मिणाम्।

दमस्तेजो वर्धपति पवित्रं च दमः परम्।

विपात्मा तेजसा युक्तः पुरुषो दिन्दते महत्॥

दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलम्यते।

दमो दानं तथा यज्ञान धीतं चाति वर्तते॥ शा० पर्व०, १६०, ८-१०

६५	तस्य दानं क्षमा सिद्धिर्यथावदुपपद्यते।

दतो दानं तपो ज्ञानमधीतं चानुवर्तते॥ उद्योग पर्व, ६३, ९

६६.	दमं निश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चित दर्शिनः।

ब्राह्मर्णस्य विशेषेण दमो धर्म. सनातन॥ शान्तिपर्व, १६०, ७

६७.	यदेन क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जन॥ शान्ति पर्व, १६०, ३४

६८.	क्षमा यर्शः क्षमा दानः क्षमा यज्ञः क्षमा दमः।

क्षमा हिसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रिय निग्रहः॥

क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमा चैव धृत जगत्।

क्षमावान् ब्रह्मणो देवः क्षमावान् ब्राह्मणौ वरः॥ – अश्व मेधिक पर्व, ९२ से आगे।

६९.	वन पर्व, २९-३२

७०	तपोबलं तापासानां ब्रह्म ब्रह्मविदा वलम्।

हिसावलमसाधनांग्रे क्षमा गुणवतां वलम्। उद्योगपर्व, ३९, ५८-५९

७१	क्षमा यश. क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा दम·।

क्षमा हिसा क्षमा धर्म क्षमा चेन्द्रिय निग्रह॥ आवूवमेधिक पर्व, ९२

७२	क्षमा दया क्षमा रूप क्षम मैव धृते जगत्।

क्षमावान् ब्रह्मणो देव क्षमावान ब्राह्मणो वर॥ वही

७३/७४. इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तम सुखम्।

इति दान प्रदातव्य ब्राह्मणो मयोऽनसूयया॥ अनु० पर्व, ३८, ६

७५	यथाम्बुबिन्दुभिः सूक्ष्मैः पतिद्भिर्मेदिनीतले।

केदाराश्च तटाकानि सारासि सरितास्तथा॥

तोयपूर्णानि दृष्यन्ते अप्रतर्क्यानि शोमने।

अल्प मल्यमयि ह्येक दीपमानं विवर्धते॥ अनु० पर्व, १४१

७६	मातु पितुर्गुरणां च कार्यमेवानुशासनम्। अनु० पर्व, १०४-१४४

७७	अनायुस्य दिवा स्वप्नं तथाभ्युदित शापिता॥ अनु० पर्व, १०४-१३८

७८	पंचाद्रो भोजनेमुन्ज्यात् प्राङ्मुखो मौनमास्थित·। शान्ति पर्व, १३६, ६

७९	महात्माना च चरित श्रोतव्य नित्यमेव ते। अनु० पर्व, १०४-१४८

८०	देववशान् पितृवशान् ब्रह्मवशौश्च शाश्वतान्।

सत्यज्य मूढा वर्तन्ते ततो यान्त्य श्रुतिपथम्॥ शान्तिपर्व, १२-१७

८१.	वाकसायका वदनान्निष्पतन्ति

यैराहतः शोचति राज्यहानि।

परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति

तान् पण्डितो नासृजेत् परेषु॥ अनु० पर्व, १०४, ३२

८२	शरणागतस्य कर्तव्य मातिथ्य हि प्रयत्नतः।

पंचयज्ञप्रवृत्तेन गृहस्थेन विशेषतः॥ शान्ति पर्व, १४६, ६

८३	अनुशासन पर्व, ५

८४	ब्रह्महने च सुराये च चौरे भग्नव्रते तथा

निष्कृतिर्दिहिता राजनकतघ्ने नास्ति निष्कृति। शान्ति पर्व, १७२-२५

८५.	न्यायेनोपार्जिता दत्ताः किमुतन्याः सहस्त्रश.। शा० पर्व, २९३-१६

८६ शान्ति पर्व, २६५-६९

८७ यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मन कर्म पुरुष ।

न तत् परेषु कुर्वीतं जानन्नप्रिय मात्मन ॥ शान्तिपर्व, २५९, २०

८८ धर्मणाथ. समाहार्यो धर्मलब्ध त्रिधा धनम्। अनुशासन पर्व, १४१, ७८

८९ त्वकार नामधेय च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत। शान्तिपर्व, १९३, २५

९० गुरुभ्य आसनं दय कर्तव्य चामिवादनम्। शान्ति पर्व, १९३, १६

षष्टम अध्याय

मोक्ष

षष्टम अध्याय

मोक्ष

मोक्ष

मनुष्य जब तक इन्द्रिय और विषयरूपी माया के प्रभाव से अपने को परमात्मा से भिन्न समझता है तब तक उसके लिए इस ससार चक्र की निवृत्ति नही होती। यद्यपि यह मिथ्या है तथापि कर्म-फल-भोग का क्षेत्र होने से उसे नाना प्रकार के दु:खो मे डालता रहता है। इन दु.खो से सदैव के लिए विरक्त होना ही मोक्ष है। यह मानव जीवन का अभीष्ट लक्ष्य है। यही मानव जीवन का पारलौकिक पुरुषार्थ है। हिन्दू धर्म मे पुरुषार्थ चतुष्टय के अन्तर्गत चतुर्थ पुरुषार्थ के रूप मे मोक्ष को रखा गया है। इसे परम पुरुषार्थ भी कहा जाता है। यही साध्य है; शेष तीनो पुरुषार्थ धर्म, अर्थ एवं काम इसके साधनमात्र है। मोक्ष प्राप्त होने पर मनुष्य पुन: इस संसार मे जन्म नही लेता। वह समस्त बन्धनो से मुक्त हो जाता है। 'वास्तव मे सबसे उत्तम, सबसे सुखमय और सबको अभीष्ट और चाहने योग्य निरवधिक अखण्ड आनन्दमय महान सरस पुरुषार्थ 'मोक्ष' ही है।' इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए विष्णु पुराण मे कहा गया है—

'इति ससार दु:खार्क ताप तापित चेतसाम्।
विमुक्त पादपच्छायामृते कुत्र सुख नृणाम्॥'[१]

अर्थात् सासारिक दु:खरूपी प्रचण्ड सूर्य के ताप से जिनका अन्त:करण सन्तप्त हो रहा है, उन पुरुषो को मोक्ष रूपी कल्पवृक्ष की शीतल छाया को छोडकर और कहाॅ सुख मिल सकता है?

इस प्रकार स्पष्ट है कि दैहिक, दैविक, भौतिक इन तीनो दु:खो से मनुष्य को मुक्ति, मोक्ष प्राप्त होने पर हो जाती है। अतएव मोक्ष की समस्त सुखो एवं पुरुषार्थो का सम्राट है। इसकी प्राप्ति किसी-किसी विरले ही भाग्यशाली पुरुषो को हो पाती है। इस चराचर सृष्टि मे समस्त पुरुषों को मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती।

मोक्ष शब्द 'मुत्लृ मोचने' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है 'मुच्यते सर्वैदु:खबन्धनैर्यत्र स: मोक्ष:' अर्थात् जिस पद को पाकर जीव आध्यात्मिक आदि सम्पूर्ण दु:ख बन्धनों से मुक्त हो जाता है— उसे मोक्ष कहते है। इसीलिए इसे 'मुक्ति' शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है। हिन्दू मनीषियो ने मोक्ष का इतना तार्किक एव गम्भीर विवेचन उपस्थित किया है कि इसे सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्र का उत्तम फल मानना समीचीन है। विभिन्न सम्प्रदायों ने मोक्ष की कल्पना भिन्न-भिन्न रूप मे करके चरम लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग को अनुकरणीय बनाया है।

मुत्लृ मोचने का अर्थ होता है (बॅधे हुए प्राणी का) बन्धनो से छूट जाना। बन्धन क्या है ? इस तथ्य को हम शैव सिद्धान्त के अनुसार स्पष्ट कर रहे है। शैव सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अनादि काल से आणव मल से आच्छादित है। फलत· उसका वास्तविक स्वरूप भी आच्छादित है जिससे उसकी स्वाभाविक शक्तियॉ सीमित हो जाती है। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को नही जान पाता। ईश्वर उसके वास्तविक स्वरूप को जान पाता है कि आणव के कारण ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप छिपा हुआ है। आत्मा बिना शरीर आदि साधनो से कर्म नही कर सकता क्योकि आणव से आवृत्त होने से वह सीमित रहता है। अत: आणव से मुक्त होने के लिए शरीर आदि मायीय साधनो से मुक्त होने पर आत्मा माया मल से भी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार शरीर से मुक्त होकर आत्मा जन्म मृत्यु के चक्र मे फॅस जाता है। इसी तथ्य को शकराचार्य प्रभृत दार्शनिको ने अविद्या से सम्बोधित किया है जबकि बाद के कुछ दार्शनिको ने इसे माया से अलग माना है। कुछ भी हो प्राय सभी दार्शनिक स्वीकार करते है कि बन्धन का मूल कारण अविद्या है। अब प्रश्न उठता है अविद्या क्या है ? अविद्या के बारे मे योग सूत्र में कहा गया है—

'अनित्या शुचिदु:खानात्मसु
नित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या।'[२]

अर्थात् अनित्य, अशुचि, दु:ख तथा अनात्मा को ही जो नित्य, शुचि एवं आत्मा मान बैठे उसे अविद्या कहते है। सामान्य भाषा मे यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होना ही अविद्या है। जो तत्व-ज्ञान जीव को भवसागर से पार कराने में सहायक हो उसे विद्या कहते है। विद्या द्वारा मनुष्य को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाना ही मोक्ष है। मोक्ष तथा उसे प्राप्त करने की विधि दोनों के ही विषय मे अनेक धारायें प्रचलित हो गई है। इस क्षेत्र मे 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' का बहुत अधिक दर्शन होता है। हिन्दू धर्म मे प्राय: जितने भी सम्प्रदाय है सबकी मोक्ष की अवधारणा अलग-अलग है जिनका संक्षिप्त विवेचन किया जाना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

विभिन्न हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार मोक्ष

चार्वाक दर्शन में मोक्ष

यह नास्तिक दर्शन है। इसे नास्तिक शिरोमणि कहा जाता है। यह वेद एवम् ईश्वर की सत्ता मे विश्वास नही करता। इस कारण इस दर्शन में मोक्ष की धारणा का अनुगमन नही मिलता। अर्थ और काम मे विश्वास रखना ही इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। यहॉ अर्थ एवं काम को ही पुरुषार्थ रूप मे मान्यता प्रदान की गई है। इस विचारधारा के मानने वालो का विश्वास है कि शरीर ही भोगायतन है। दु:ख का सम्बन्ध केवल शरीर से है। शरीर नष्ट होते ही केवल दु:खो से आत्यन्तिक निवृत्ति मिल जाती है। शरीर ही आत्मा का क्रीड़ा स्थल है। उनका यह विचार लोक प्रसिद्ध है—

यावज्जीवेत् सुखम् जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतम् पिवेत।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनम् कुत:॥[३]

जैन दर्शन में मोक्ष

जैन दर्शन के अनुसार कर्म बन्धन का नितान्त अभाव ही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था मे सवर तथा निर्जरा के

सभी प्रकार के कर्म-पुद्गल समाप्त हो जाते है । जीव का अजीव से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तथा जीव अपनी स्वाभाविक शक्ति अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य आदि को प्राप्त कर लेता है । तत्पश्चात् जीव का ऊर्ध्वगमन होता है तथा वह सिद्धलोक मे निवास करता है ।

जैन दर्शन मे मोक्ष के तीन साधनो का विवेचचन किया गया है । प्रसिद्ध जैन दार्शनिक श्री उमा स्वामी का कहना है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र ही मोक्ष के साधन है ।[४] ये मोक्ष के साधन धर्म कहे गये है तथा इनके विपरीत मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चरित्र ससार के मार्ग कहे गये है ।[५] हम जानते है कि सम्यक् चरित्र का निर्माण सम्यक् आचरण से होता है । यही मोक्ष का मार्ग है । जैन दर्शन में इसे 'त्रिरत्न' के नाम से जाना जाता है मोक्ष प्राप्ति के पूर्व जीव को कई अवस्थाओ से गुजरना पडता है । अज्ञानता के कारण मन, वचन और शरीर से जो कर्म किये जाते है उन्हे 'आश्रव' कहते है । 'आश्रव' के कारण ही जीव कर्मो के बन्धन में बँध जाता है । मिथ्यात्व (असत्य दृष्टि अथवा गलत को सही समझ लेना), अविरति (दुष्कर्मो में रत), प्रमाद (उचित अनुचित का विवेक न रखना), कषाय (समभाव का निराकरण) एव योग (मानसिक, कायिक एव वाचिक क्रिया की प्रवृत्ति) के कारण ही बन्धन दृढ़ होता जाता है ।

इन बन्धनो से मुक्ति पाने के लिए कर्मो के मार्ग को निरुद्ध कर देना 'सवर' कहलाता है । सवर एक क्रिया है जो 'आश्रव' के विपरीतार्थक होती है । 'संवर' से मनुष्य कर्मो के बन्धन मे न पड़कर मोक्ष की ओर उन्मुख होता है ।

सवर के उपरान्त निर्जरा की अवस्था आती है । निर्जरा की अवस्था में व्यक्ति कार्यों के फलो को निर्वीय बना देता है । निर्जरा की अवस्था मनुष्य को कर्मो के क्षय की ओर ले जाती है जिसे मोक्ष कहते है ।

जैन दर्शन कर्म क्षय को ही मोक्ष मानता है । मोक्षावस्था मे अनन्त ज्ञान, अनन्त श्रद्धा एवं अनन्त शान्ति सद्य: प्राप्त हो जाती है । मोक्ष को कैवल्य नाम से भी अभिहित किया जाता है । इस अवस्था को प्राप्त करने पर मनुष्य मगलदायक एव कल्याणकारक बन जाता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि आत्मा और शरीर का वियोग ही मोक्ष है । जीव का पुद्गलो से सयोग कर्म के कारण होता है तथा उसका पुद्गल से वियोग भी कर्म के कारण ही होता है । कर्म का बन्धन से छूटना ही मोक्ष है ।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष

बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत दो प्रमुख सम्प्रदाय है । निर्वाण अथवा मोक्ष के सन्दर्भ मे दोनो के विचारो मे असमानता है । हीनयान के अनुसार दु:खों का अन्त ही निर्वाण (मोक्ष) है । भगवान् बुद्ध द्वारा बताये गये ज्ञान एवं सदाचार के मार्गो द्वारा क्लेशों अथवा दु:खो से निवृत्ति पाना ही निर्वाण है । हीनयान के अन्तर्गत भी कई मत हैं । कोई दुखानुभाव की अवस्था को ही निर्वाण कहता है तो कोई निर्वाण को अभावात्मक न बतलाकर सुखद एवं आनन्द स्वरूप बतलाता है । तृष्णा का निरोध ही व्यक्तित्व का विनाशक और निर्वाण का प्रापक है । दु:खों का अन्त सभी सम्भव है जब इसके कारण का अन्त हो जाय । कारण के नाश से कार्य स्वत: नष्ट हो जाता है । इस प्रकार तृष्णा के अन्त होने से सभी दु:ख समूल नष्ट हो जाते है । दुखो का सम्पूर्ण विनाश तृष्णा-निरोध से सम्भव है । अत: तृष्णा निरोध ही निर्वाण है ।[६]

स्थविरवादियो की दृष्टि में अविद्या का नाश, ज्ञान का उदय होना निर्वाण की अवस्था है; मानसिक एव भौतिक

जीवन का चरम निरोध निर्वाण की अवस्था है । तेल के अभाव मे दीपक स्वत: बुझ जाता है इसी बुझने को निर्वाण कहा जाता है । तृष्णा का अन्त होते ही भौतिक जीवन का अन्त हो जाता है तब अनेक कष्टो से स्वत: निवृत्ति मिल जाती है । इस प्रकार ज्ञान द्वारा कष्टो की निवृत्ति ही मोक्ष है ।

वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्ध निर्वाण को स्वत: सत्तावान पदार्थ अर्थात् वस्तु के रूप मे मानते है किन्तु, सौतान्त्रिक बौद्ध निर्वाण की वस्तु नही मानते, वे नितान्त अभावात्मक अवस्था का द्योतक निर्वाण को मानते है । इस प्रकार सत्तावान वस्तु की अभावात्मक अवस्था ही मोक्ष है ।

महायान मत

महायान मत मे निर्वाण क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण दोनों का क्षय है । हीनयानी लोग निर्वाण को केवल क्लेशावरण क्षय मानते है । क्लेशावरण क्लेश का आवरण है । राग-द्वेष रूप क्लेश होते है । इन्हे रोकना ही क्लेशावरण है । राग-द्वेष भी आत्मदृष्टि जन्य है अर्थात् आत्मा को सत्य मानने पर राग-द्वेष स्वभावत उत्पन्न होता है । आत्मा को सत्य मानकर ही यज्ञ आदि मे हिसा करता है । आत्मा के स्वर्गलाभ के लिए अनेको पाप करता है । इस प्रकार राग-द्वेष के मूल मे आत्म-दृष्टि ही है । इस आत्मा का निषेध ही क्लेश नाश है । संक्षेप में अनात्मवाद या नैरात्मवाद से ही क्लेशो का क्षय सम्भव है । महायान बौद्ध निर्वाण (मोक्ष) का ज्ञेयावरण क्षय भी मानते है । ज्ञेयावरण सभी प्रकार की ज्ञेय वस्तुओ की जानकारी नही होने देता । अत: इसके हटने के बाद ही मुक्ति की अवस्था आ सकती है । निर्वाण सुखरूप है । माध्यमिक मत वाले निर्वाण मे सुख या असुख की कल्पना नही करते है । उनके अनुसार निर्वाण वर्णनातीत है । निर्वाण सर्वज्ञता का बोधक है । धर्म कार्य का प्रतिष्ठापक है । निर्वाण की अवस्था अद्वैत की अवस्था है । विषय और विषयी के बीच भेद की स्थिति नही रहती ।

आचार्य नागार्जुन आठ नकारात्मक विशेषणो से निर्वाण की व्याख्या प्रस्तुत करते है—

> अनिरुद्धं अनुत्पन्नं, अनुच्छेद अशाश्वतम् ।
> अनेकार्थ, अनीनार्थ, अनैगम अनिर्गमम् ॥

अन्त मे आचार्य नागार्जुन ने निर्वाण का भावात्मक स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि 'सर्वप्रपन्चोपशम: शिव:' अर्थात् सभी प्रपन्चो को शान्त कर देने वाला शिव अर्थात् शान्त तत्व निर्वाण है । यह न छोड़ा जा सकता है और न प्राप्त किया जा सकता है ।

आस्तिक दर्शनों में मोक्ष

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत कई सम्प्रदाय है इसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है । हिन्दू दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक दो रूपों मे पहले विभाजित करते है जिनमें नास्तिक दर्शनो में मोक्ष विषयक मान्यता का संक्षिप्त विवेचन हो चुका है तत्पश्चात् अब हम आस्तिक दर्शनों मे मोक्ष का विवेचन करना चाहेगे ।

उपनिषदों में मोक्ष

उपनिषदो में मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है । वेद विहित कर्मों के अनुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

देवसदृश सुखोपभोग होता है । परन्तु पुण्य के क्षीण हो जाने पर मनुष्य को पुन. पृथ्वी पर आना पडता है । अत स्वर्ग सुख नित्य नही, स्वर्ग की प्राप्ति जन्म मृत्यु की समस्या का निदान नही । इसी कारण उपनिषदो मे मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है । मोक्ष ही बन्धन का अन्त है । ससार का विनाश है, दु:खो का उच्छेद है । मुक्तात्मा ही इस ससार के आवागमन के चक्र को तथा ससारजन्य क्लेश को नही सहता । इस प्रकार स्पष्ट है कि मोक्ष बन्धन का विनाश है । श्वेताश्वर उपनिषद मे कहा गया है कि 'जीव अपने को सर्व-नियन्ता परमात्मा को अलग-अलग मानकर ही इस महान चक्र मे भ्रमण करता है; परन्तु उसे जब जीव और परमात्मा के अभिन्न स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है ।'[७] कहने का तात्पर्य यह है कि उपनिषदो मे आत्मा-परमात्मा के ऐक्यभाव अनुभव को ही मोक्ष कहा गया है ।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में मोक्ष

न्याय एव वैशेषिक दोनो दर्शनो मे प्राय: मोक्ष विचार समान है । दोनो के अनुसार आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति ही मोक्ष है । इसे अपवर्ग भी कहा जाता है । कणाद के अनुसार यह दु:खो के पूर्ण निरोध की अवस्था है उनके अनुसार आत्मा का शरीर एव इन्द्रियो से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष है । अदृष्ट की गति के अन्त होने पर आत्मा और शरीर से सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है । इस विच्छेद के फलस्वरूप दु.खो का पूर्ण निरोध हो जाता है ।[८] महर्षि गौतम ने आत्यन्तिक दु:खो की निवृत्ति को ही मोक्ष माना है । तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के दु:खो से सर्वदा के लिए छुटकारा पाना ही मोक्ष है ।[९] न्याय दर्शन मे मोक्ष को नि:श्रेयस शब्द से ही सम्बोधित किया गया है । 'निश्चितं श्रेय. नि:श्रेयसम्' अर्थात् जीव का सबसे बड़ा हित ही नि:श्रेयस है ।

सांख्य दर्शन

साख्य दर्शन के अनुसार हमारा जीवन दु:ख रूप है । दु:ख का कारण अज्ञान माना गया है । इन दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है । दु:खो का उपशमन वस्तुत. विवेक ज्ञान से ही होता है । हमारा जीवन तीन प्रकार के दु.खो— आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आदिदैविक से भरा है । आध्यात्मिक दु:ख शरीर अथवा मन आदि से उत्पन्न होते है जैसे रोग, क्षुधा, क्रोध, सताप इत्यादि । आध्यात्मिक दु:ख भी दो प्रकार के होते है । शारीरिक और मानसिक । शारीरिक दु:ख वायु, पित्त, कफ आदि से उत्पन्न त्रिदोषजन्य है । मानसिक दु:ख काम, क्रोध आदि मनोविकार से उत्पन्न होते है । बाह्य वस्तुओ से उत्पन्न दोष को आधिभौतिक दु:ख कहा जाता है जैसे युद्ध होना, सर्प काटना आदि । यक्ष, राक्षस, क्रूर ग्रह आदि से उत्पन्न हुए दु:खो को आधिदैविक दु:ख कहा जाता है जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूचाल आदि । इस प्रकार इन तीनो दु:खो का अत्यन्ताभाव अथवा इन तीनो प्रकार के दु:खो से निवृत्ति ही मोक्ष है । सांख्य दर्शन मे इसे 'कैवल्य' कहा जाता है ।

सांख्य दर्शन मे मोक्ष को आनन्द स्वरूप नही माना गया है । ताप त्रय से सदा के लिए छुटकारा पाना ही मोक्ष अथवा कैवल्य कहा जाता है ।

'प्रपचसम्बन्धविलयोमोक्ष: ।'

इस प्रपंचरूपी संसार से आत्मा का सम्बन्ध समाप्त करना ही मोक्ष है । आत्मा एवं जगत का सम्बन्ध तीन सूत्रो

से प्रगाढ होता है— (१) भोगायतन शरीर, (२) भोगसाधन इन्द्रियॉ, (३) भोग के नाना विषय एव भोग्य पदार्थ । इन तीन बन्धनो के कारण मनुष्य प्रपंच के अधीन रहता है । शरीर, इन्द्रियॉ एव भोग विषय पदार्थ से आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य (मोक्ष) है ।

'त्रिवधस्पापिबन्धस्य, आत्यन्तिको विलयोमोक्षः ।'

योगदर्शन

योग दर्शन के अनुसार पुरुषार्थ को सम्पन्न कर लेने वाले गुणो का अपने मूल कारण प्रकृति मे विलीन हो जाना तथा चिन्मात्र पुरुष का अपने स्वरूप मे स्थित हो जाना ही कैवल्य (मोक्ष) है ।[१०]

मीमांसा

प्राचीन मीमांसक स्वर्ग प्राप्ति को ही निःश्रेयस मानते रहे है उनके अनुसार वैदिक कर्मो का फल स्वर्ग की प्राप्ति माना गया है । उदाहरणार्थ 'स्वर्ग-कामो यजेत्' अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ का सम्पादन करे । इस प्रकार स्पष्ट है कि यज्ञ कार्य का उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति है परन्तु बाद के मीमासको ने मोक्ष को परम साध्य माना है । सम्भवतः इसका कारण स्वर्ग फल की अनित्यता है । यज्ञ करने से मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति अवश्य होती है परन्तु निरतिशय सुख रूप स्वर्ग नित्य नही । पुण्य के क्षीण हो जाने पर पुनः मृत्युलोक मे आकर मनुष्य को बन्धनजन्य हो जाना पडता है जिससे उसे पुनः अनेकानेक दुःखो को भोगना पड़ता है । इससे मनुष्य को मोक्ष प्राप्त नही हो सकता । परन्तु बाद के मीमांसको ने इस तथ्य से अलग हटकर स्वर्ग प्राप्ति के स्थान पर मोक्ष पर विचार करते हुए कहा कि—

'प्रपन्वसम्बन्धविलयो मोक्षः ।'[११]

अर्थात् इस जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध विच्छेद को मोक्ष कहते है ।

मोक्ष की अवस्था मे मीमासको में कुमारिल आनन्द की अनुभूति मानते है जबकि प्रभाकर न्याय-वैशेषिक के समान मोक्ष को आनन्द शून्य मानते है ।

वेदान्त में मोक्ष

वेदान्त दर्शन मे मुक्ति की कल्पना बड़ी ही रोचक एवं भावपूर्ण है । वह प्रत्येक व्यक्ति के पास है परन्तु उसका ज्ञान सभी को नही । इस शरीर के रहते हुए भी मुक्ति प्राप्त की जा सकती है । वेदान्तियों मे भी कई सम्प्रदाय है जिनका मोक्ष के बारे में अलग-अलग विचार है ।

अद्धैत वेदान्त के अनुसार

अद्धैत वेदान्त में आत्मज्ञान अर्थात् आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप का लाभ ही मोक्ष माना गया है । आचार्य शंकर के अनुसार यद्यपि आत्मा सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप ही है तथापि अविद्या के कारण 'मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार का अनुभव जीव को होता है । अज्ञानवश ही जीव मनुष्य, तिर्यक एवं देवता आदि विभिन्न योनियो मे भटकता है । ज्ञान प्रभाव से जीव को साक्षात्कार होता है तथा अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति हो जाने से जीव शोकरहित

हो जाता है। अतः मोक्ष अज्ञान निवृत्ति रूप है[१२] तथा ज्ञान के अधीन है। शकर के अनुसार मोक्ष मे आत्मा ही नष्ट नही होती बल्कि उसकी उपाधिमात्र ही नष्ट होती है। अतः आत्मा का अपने रूप मे अवस्थिति ही मोक्ष है।[१३] तात्पर्य यह है कि मुक्त आत्मा अपने स्वरूप मे स्थित रहता है। आत्मा का निजी स्वरूप नित्य, शुद्ध, चैतन्य है। परन्तु अज्ञान के कारण यह स्वरूप नही रह जाता। जब आत्मा को अपने निजी स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब वह ससार मे शरीर से सदा के लिए समाप्त हो जाता है। यही आत्मा की अपने निजी रूप मे अवस्थिति है। इस अवस्थिति की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही सम्भव है। ज्ञान के प्रकाश से ही अज्ञान का अन्धकार दूर हो सकता है। विद्या से ही अविद्या की निवृत्ति समीव है। इस प्रकार आत्मा का अपने स्वरूप मे अवस्थिति और अज्ञान का विनाश दोनो एक ही साथ है। इसी कारण अद्वैत वेदान्त मे मोक्ष की एक और परिभाषा दी जाती है— अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है।[१४]

विशिष्टाद्वैत के अनुसार

जन्म-मरण रूप बन्धन का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष है। आचार्य रामानुज के अनुसार 'ब्रह्म भाव को प्राप्त करना ही मुक्ति है।'[१५]

शुद्धाद्वैत के अनुसार

जन्म और मरण के चक्र से छूट जाना ही मोक्ष है। इस चक्र के समाप्त होने से ही मनुष्य ईश्वर से अभेद सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

इसी प्रकार आचार्य मण्डन मिश्र के अनुसार अविद्या ही संसार है और अद्वय एवं प्रशान्त विद्या द्वारा अविद्या का नाश हो जाना ही मोक्ष है।[१६] इसमे समस्त वेदान्तियो का मतैक्य है। यह ज्ञान अपरोक्ष और असंस्पृष्ट और निर्विकल्प है। इसी को अपरोक्षानुभूति अथवा स्वानुभूति या विशुद्ध विज्ञान या सम्बोधि कहते है। यही मोक्ष का एकमात्र कारण है। ज्ञान के बिना मोक्ष कदापि सम्भव नहीं।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में मोक्ष

प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे मोक्ष के सम्बन्ध मे उपरोक्त सभी दर्शनो से भिन्न एवं नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार परमार्थतया बन्धनमोक्षादि कुछ भी नही है।[१७] परमेश्वर का अपने स्वातन्त्र्य से अपने स्वरूप मे स्थित हो जाना ही मोक्ष है। उसके स्वातन्त्र्य की यही महिमा है। यह स्वातन्त्र्य उसका स्वभाव है। परमेश्वर मे यदि स्वातन्त्रय नही होता तो कुछ भी नही होता। केवल एक भयानक अभाव ही होता; न तो कोई परमेश्वर होता और न तो संसार ही। इस दर्शन में जीवानमुक्त, मुक्त शिव तथा विदेहमुक्त इत्यादि विभिन्न दशाओं का वर्णन किया गया है।

अब तक मोक्ष की विभिन्न हिन्दू धर्मावलम्बियों द्वारा परिभाषित परिभाषाओ का उल्लेख किया गया। अब हम आगे मोक्ष प्राप्ति के साधनो, मार्गों, स्वरूपों आदि का विवेचन करने के पूर्व यह स्पष्ट रूप से बतला देना चाहते हैं कि मनुष्य का समस्त दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष है। मोक्ष प्राप्त व्यक्ति जीवन मरण के बन्धन से सदैव के लिए छुटकारा प्राप्त कर लेता है। वह इस संसार चक्र मे पुनः नही आता। आचार्य अश्वघोष ने ठीक कहा है—

पदे तु यस्मिन् न जरा नभीर न रुज:,
न जन्म नैव परमो न चाधय: ।
तम एव मन्ये पुरुषार्थ उत्तम न,
विद्यते यत्र पुन: पुन· क्रिया ॥[१८]

मोक्ष के भेद

हिन्दू धर्मशास्त्रो मे मोक्ष को दो प्रकार का बतलाया गया है परन्तु विभिन्न दार्शनिको ने उसे अपने-अपने ढंग से अभिव्यक्त किया है । कोई सौपादिशेष तथा अनौपाधिशेष नाम से अभिव्यक्त करता है तो कोई उसे परा तथा अपरा शब्दों से सम्बोधित करता है तो कही-कही उसे जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति कहा गया है । नाम चाहे जो भी हो सबका स्वरूप तत्वत: एक ही होता है । इस प्रकार शब्दों के हेर-फेर होने पर भी स्थिति एवं स्वरूप के आधार पर मुक्ति को दो ही रूपो मे विभाजित किया गया है ।

१ जीवन्मुक्ति

२. विदेह मुक्ति

जीवन-मुक्ति

शरीर के विद्यमान रहने पर ही जब मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है । शरीर रहते हुए भी उसे अमरत्व का लाभ प्राप्त हो जाता है परन्तु उसके पूर्व संस्कार अभी पूर्णत: नष्ट नही हुए रहते । अत: संस्कारो की समाप्ति तक उस ज्ञानी को शारीरिक अवस्था में रहना पड़ता है । संस्कार के समाप्त होने पर उसका भी शरीर छूट जाता है और वह आवागमन के चक्र से मुक्त होकर विदेह मुक्ति प्राप्त करता है । इस प्रकार ज्ञान द्वारा शरीर रहते हुए जो मुक्ति प्राप्त करते है वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं तथा उनकी इस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहा जाता है ।

बौद्ध दार्शनिको ने इसे ही सौपादिशेष निर्वाण कहा है । उनके अनुसार अर्हत् का शरीर रहता है, इन्द्रियॉ बनी रहती है, विषयो से सम्पर्क भी अनासक्त भाव से बना रहता है । अनासक्त की इन्द्रियॉ तो काम करती हैं परन्तु विषयो के प्रति राग, द्वेष उत्पन्न नही होता । जीवन्मुक्ति मे व्यक्ति मिथ्या, ज्ञान, मिथ्या वासना एव मिथ्या व्यवहार से सर्वथा शून्य होकर रहता है ।

साख्य दर्शन मे जीवन्मुक्ति के बारे में कहा गया है कि ज्ञान प्राप्ति के बाद पुरुष का मोक्ष हो जाता है परन्तु प्रारब्ध कर्मो के प्रभाव से शरीर चलता रहता है । शरीर का विनाश नहीं होता अर्थात् शरीर और आत्मा का पूर्णत: विच्छेद नही होता । यह अवस्था आत्मज्ञान की अवस्था है तथा इसमे सभी धर्म, अधर्म, बीज-भाव रूप से वस्तु हो जाते है परन्तु प्रारब्ध कर्मो के अवशिष्ट होने के कारण साधक का शरीर चक्र के समान घूमता रहता है यद्यपि दण्ड चालन का अभाव है । सांख्य दर्शन में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कुम्हार का चाक डण्डे से एक बार चलाने पर डण्डा को हटा लेने पर भी चलती रहती है उसी प्रकार साधक शरीर धारण किये रहता है ।

न्याय दर्शन मे जीवनमुक्ति को अपरा मुक्ति नाम से सम्बोधित किया गया है। महर्षि वात्स्यायन के अनुसार जब तत्व ज्ञान के द्वारा मिथ्या ज्ञान का नाश होता है तब सभी दोष दूर हो जाते है। दोषो के अभाव मे प्रवृत्ति लुप्त हो जाती है, प्रवृत्ति लोप से कर्म बन्धन का लोप हो जाता है जिससे समस्त दु:खो से निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। इन दु खो के परम विनाश से परम मोक्ष की प्राप्ति होती है। जीवन काल मे भी मिथ्या ज्ञान, वासना आदि से परे की अवस्था प्राप्त हो सकती है जिसे जीवन-मुक्ति की अवस्था कहते है।

उपरोक्त आधारो पर यह कहा जा सकता है जीवन-मुक्त व्यक्ति का शरीर प्रारब्ध कर्मानुसार विद्यमान रहता है परन्तु वह व्यक्ति संसार के प्रपंचो से दूर रहता है। मोह उसे प्रभावित नही करता। शोक से वह अभिभूत नही होता। सांसारिक विषयो के लिए उसे तृष्णा नही होती। साधक शरीर धारण करते हुए भी सब कुछ शिवमय ही देखता है अर्थात् जीवन्मुक्ति के साथ-साथ शिवभाव चमक उठता है। फिर तो भक्त स्वयं चिद्रूप शिव हो जाता है। इस च्रिदूपता को प्राप्त करते हुए वह जीवन्मुक्त हो जाता है उसकी समस्त इन्द्रियॉ अर्न्मुख हो जाती है। ऐसी स्थिति मे वह जो भी कार्य करता है शिव के लिए करता है।[१९] जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त सिद्धजन रागद्वेषादि दोषो से युक्त सांसारिक कीचड के मध्य मे रहता हुआ भी इनमे लिप्त नही होता।[२०] बल्कि सदैव परमानन्द की मस्ती मे मस्त रहते हुए परमेश्वर स्वरूप का साक्षात्कार करता है।[२१] ऐसा साधक ससार को अपने मनोरजन का साधन समझता हुआ समावेश मे परम साक्षात्कार के आनन्द को प्राप्त करता रहता है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि यह सम्पूर्ण चराचर जगत वास्तव मे शिवमय ही है। बन्धन केवल अज्ञान के कारण होता है। अज्ञान के वशीभूत, होकर जीव जन्म-मरण आदि के चक्कर मे पड़ा रहता है किन्तु ज्ञानवान अपने वास्तविक चिदानन्दमय स्वरूप में लीन होते हुए जीवन्मुक्त होकर इस चराचर विश्व को अपना ही स्वरूप समझता हुआ विहार करता है।[२२]

हिन्दू धर्म मे अद्धैत वेदान्त मतावलम्बी भी जीवन्मुक्ति दशा को मानते है। उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म ज्ञान के द्वारा अविद्या का मूलोच्छेद हो जाने पर ब्रह्मदेवता इसी जन्म मे अर्थात् सशरीर रहते हुए भी मुक्ति लाभ प्राप्त कर लेता है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्मज्ञान सचित एवं क्रियमाण कर्मो को तो नष्ट कर देता है किन्तु उसके द्वारा प्रारब्ध कर्मो का विनाश तो सम्भव नही होता। प्रारब्ध कर्मो का विनाश तो केवल भोग द्वारा ही हो सकता है। अत: इन कर्मो का क्षय भोग के माध्यम से करने के लिए ब्रह्मज्ञानी पुरुष सशरीर रहता है इसे ही जीवन्मुक्ति कहा जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य विद्यारण्य ने भी अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि 'कर्तृत्वादि स्वभावत: क्लेश रूप है। अत· ये जीव को बन्धन मे डालने वाले होते है। इसलिए इनकी निवृत्ति ही जीवन्मुक्ति है।[२३] वेदान्त मत मे जीवन्मुक्त लोककल्याणार्थ ही शरीर धारण करता है। इस सन्दर्भ मे आचार्य शंकर ने कहा है 'अस्य जीवन्मुक्तस्य देहधारण लोकस्योपकारार्थम्।'[२४]

जीवन्मुक्ति की दशा मे अविद्या को आत्यन्तिक निवृत्ति होती है अर्थात् जीवन्मुक्ति स्थिति में साधक में अविद्या का कुछ अंश शेष रहता है। इस सन्दर्भ में परवर्ती द्वैताचार्यो में भी मतभेद है। इस ओर आचार्य शंकर का ध्यान नही गया क्योकि आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्मज्ञान मे अविद्या का पूर्णत: विनाश हो जाने से यद्यपि मुक्ति की प्राप्ति हो जाती

है तथा प्रारब्ध कर्मो का भोग द्वारा क्षय करने हेतु ब्रह्मवित् शरीर की स्थिति धारण किये रहता है किन्तु कतिपय आचार्यो के अनुसार जीवन्मुक्ति दशा मे प्रारब्ध कर्मो के साथ अविद्या भी विद्यमान रहती है और इसी के परिणाम स्वरूप शरीर की स्थिति भी बनी रहती है। यद्यपि इस सन्दर्भ मे शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैताचार्यो मे जीवन्मुक्ति का प्रत्यय विवादास्पद रहा है। प्रकाशानन्द और सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार ब्रह्मज्ञान का उदय होने पर अविद्या पूर्णत: नष्ट हो जाती है।[२५] अत: स्पष्ट है कि इनके मत से जीवन्मुक्ति सम्भव नही किन्तु संक्षेप शारीरिक मे सर्वज्ञात्ममुनि ने 'यद्वाविद्वद्गोचरम् योजनीयम्' के अनुसार जीवन्मुक्ति का समर्थन किया है। आचार्य मण्डन मिश्र के अनुसार जब तक जीवन्मुक्त अथवा स्थितप्रज्ञ की अविद्या का उच्छेद नही होता तब तक वह साधक ही रहता है। इस स्थिति में उसे सिद्ध नही कहा जा सकता। अविद्या के नि:शेष हो जाने पर शरीरपात के अनन्तर ही वह सिद्ध या मुक्त कहलाता है।[२६] इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवन्मुक्ति दशा को अद्धैत वेदान्त मे अस्वीकार नहीं किया गया है। आचार्य शंकर ने स्वयं कहा है कि 'कथं ह्येकस्य स्वहृदय प्रत्यय ब्रह्मवेदन देहधारण चापरेण प्रविक्षेप्तुं शक्यते।'[२७] अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार प्रत्येक व्यक्ति का अन्तरंग अनुभव है जिसके विषय मे अन्य कोई विवाद नही कर सकता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवन्मुक्ति दशा मे स्वभावत: चंचल एव भेद कालुष्य से युक्त होते हुए भी इन्द्रियादि का व्यवहार सर्वथा अचचल एव ज्ञानस्वरूप हो जाता है क्योकि जब जीव मतैक्य को प्राप्त कर लेता है तो वह शिव रूप ही हो जाता है उसमे एक अद्वितीय चित्त तत्व विकसित हो जाता है। इस प्रकार अद्धैतरूपता को प्राप्त साधक समावेश मे चित्त स्वरूप परमेश्वर के आनन्द का लाभ उठाता हुआ विदेहमुक्ति आदि की उत्कृष्टतम अवस्था को भी हेय समझता है क्योंकि विदेह मुक्ति की दशा मे समावेश का आनन्द नही प्राप्त हो सकता। इस सन्दर्भ में शिवस्तोत्रावली मे कहा गया है—

> 'शान्तये न सुखलिप्सुता मना
> भक्तिसम्भृतमदेष रौ: प्रभो:।
> मोक्षमार्गणफलापि नार्थना
> स्मर्यते हृदयहारिण: पुर:॥[२८]

इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन का आनन्द जीवन्मुक्ति में ही सम्भव है। विवरण प्रमेय संग्रहकार विद्यारण्य ने कहा है कि विद्या से अविद्या के नष्ट हो जाने पर अविद्या के संस्कार से देहेन्द्रियादि का अवस्थान सम्भव है। जैसे फूलो को डालियो से निकाल लिए जाने पर गन्ध के सस्कार से वे डालियॉ कुछ समय तक सुगन्धित रहती है वैसे ही अविद्या के दूर हो जाने पर भी उसके संस्कार से कुछ काल तक देहेन्द्रियादि अवस्थित रहते है।[२९] इस पर यह शका होती है कि पूर्वोक्त दृष्टान्त में फूलों की डालियो के सुगन्धित रहने का कारण यह है कि वहॉ फूलों के सूक्ष्म अवयव अवशिष्ट रह जाते हैं तो यह ठीक नहीं क्योंकि प्रकृति स्थल में भी अवशिष्ट अविद्यालेश को ही देहेन्द्रियादि के अवस्थान का कारण माना जा सकता है। प्रारब्ध कर्मों के क्षय तक अविद्या लेश की अनुवृत्ति मानकर उसी से जीवन्मुक्ति के देहेन्द्रियादि के अवस्थान की व्याख्या सम्भव है।[३०] प्रसिद्ध विचारक चित्सुखाचार्य ने भी इस सन्दर्भ में अपना विचार व्यक्त किया है कि तत्वज्ञान के उदय होने से भी अविद्यालेश की निवृत्ति नही होती क्योंकि प्रबल प्रारब्ध कर्मो से वह

ज्ञान प्रतिबद्ध रहता है।[३१]

भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने भी जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है तथा मण्डन मिश्र के सद्योमुक्तिवाद का खण्डन किया है। शकराचार्य द्वारा जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध मे प्रदर्शित स्थितप्रज्ञ के दृष्टान्त के सम्बन्ध मे मण्डन मिश्र का कथन है कि स्थितप्रज्ञ साधक है। सिद्ध नही। अतएव स्थितप्रज्ञ को जीवन्मुक्त नही माना जा सकता।[३२] मण्डन मिश्र के इस आक्षेप का निराकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते है कि स्थितप्रज्ञ को सिद्ध न मानकर साधक मानना ठीक नही। यदि स्थितप्रज्ञ को साधक माना जाय तो साधना के द्वारा उत्तरोत्तर ध्यान के उत्कर्ष से पूर्व प्रत्यय अनवस्थित हो जायेगा। स्थितिप्रज्ञ तो निरतिशय प्रज्ञ होता है अतएव वह सिद्ध ही है साधक नही।[३३] जीवन्मुक्ति के समर्थन मे भामतीकार ने कहा है कि हिरण्यगर्भ, मन, उद्दालक आदि देवर्षिगण तत्वज्ञानी होते हुए भी दीर्घजीवी थे।[३४] इस तथ्य की पुष्टि वे श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थो से करते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्मो के प्रक्षय के लिए तत्वसाक्षात्कार हो जाने पर भी फलोपभोग की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।[३५]

विदेह मुक्ति

जीवन्मुक्त व्यक्ति जिस समय अपनी आत्माओ का परित्याग कर देते हैं उस समय उन्ही महान आत्माओ को मृतमुक्त या परममुक्त कहा जाता है। परम मुक्ति की अवस्था मे व्यक्ति का शरीर भी नष्ट हो जाता है। इसी को कुछ विद्वानो ने मृतमुक्ति भी कहा है क्योकि मृत अवस्था को प्राप्त किये बिना इस अवस्था को नही प्राप्त किया जा सकता। प्रारब्ध कर्म के अनुसार सुख और दु:ख के साधनो का शरीर के साथ अन्तिम क्षण तक सम्बन्ध बना रहता है। यदि ऐसा न हो तो मिथ्याज्ञान एव मिथ्या वासनाओं के विनाश काल के अव्यवहित उत्तर क्षण मे ही ज्ञानी महात्माओं का शरीर समाप्त हो जाना चाहिए। निम्बार्क आदि दार्शनिक जीवन्मुक्ति नही मानते। वे विदेह मुक्ति ही मानते है। निम्बार्क के अनुसार प्रारब्ध कर्मों का नाश होते ही शरीर छूट जाता है और जीव मुक्त हो जाता है। इस प्रकार का जीव ब्रह्म सदृश हो जाता है इसीलिए मुक्ति में ही पूर्ण जीवत्व का विकास होता है। मुक्त जीव ब्रह्म से अभिन्नाभिन्न रूप होता है। मुक्ति मे जीव आत्मस्वरूप लाभ करता है। इस मत मे जीव को अपरिमिति ज्ञान सम्पन्न माना जाता है। यह अपरिमित ज्ञान अविद्या से सीमित हो जाता है। अविद्या के नाश द्वारा उस अपरिमित ज्ञान स्वरूप को प्राप्त कर जीव आत्म स्वरूप लाभ करता है। तब वह क्षुधा, तृष्णा, जरा-मरण, शोक-पाप आदि दोषो से मुक्त होकर पूर्ण ज्ञानवान, सत्यकाम एवं सत्य सकल्प बन जाता है। स्वरूपत: जीव उपरोक्त गुणो से पूर्णत: सम्पन्न होता है। साधना एवं भगवत्कृपा उसे पुन: प्राप्त करना पडता है इसलिए मुक्ति को आत्मस्वरूप उपलब्धि भी कहते हैं। आत्मस्वरूप लाभ होने पर जीव सम्पूर्ण दु:खो से मुक्त होकर परमानन्द की प्राप्ति कर लेता है। मुक्त अवस्था मे शरीर एवं अन्त:करण न होने के कारण उनकी सीमा समाप्त हो जाती है। इसलिए वह असीम गुणों से परिपूर्ण हो जाता है फिर भी मुक्त जीव परमेश्वर के अधीन ही रहता है। मुक्त जीव मोक्ष लाभ के अनन्तर अपने कर्मो से मुक्त हो जाता है। इसीलिए इस संसार में पुन: उसका आगमन नही होता। परन्तु निम्बार्क ने अपना विचार स्पष्ट करते हुए कहा है कि मुक्त जीव लीला करने के लिए अपनी इच्छा से किसी भी लोक में किसी भी शरीर रूप में अवतीर्ण हो सकता है। शरीर धारण कर वह अपनी इच्छानुसार मृत्युलोक मे भी पैदा हो सकता

है।[३६] मुक्त जीव ज्ञान से पूर्ण होने पर भी अपने स्वरूप से वह अणु परिमित रहता है। ज्ञान से वह विभु हो जाता है। उसका ज्ञान व्यापक हो जाता है। विदेहमुक्त सिद्धान्त का समर्थन मण्डन मिश्र भी करते है। मण्डन मिश्र भी जीवन मुक्ति को नही मानते। उनके विचार मे भी विदेहमुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। मण्डन मिश्र की विदेहमुक्ति का समर्थन इष्टसिद्धकार विमुक्तात्मा जो सुरेश्वराचार्य एव शकराचार्य के शिष्य थे, भी किये है। ब्रह्मानन्द भी जीवन्मुक्ति को वास्तविक मुक्ति न मानकर विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते है। सर्वज्ञात्ममुनि ने भी कहा कि अविद्या के विरोधी तत्वसाक्षात्कार के उदय होने पर लेशमात्र भी अविद्या की अनुवृत्ति सम्भव नही है। जीवन्मुक्ति के प्रतिपादक 'तस्य तावदेव चिरम' इत्यादि शास्त्र स्रवणादि विधि के केवल अर्थवाद है क्योकि जीवन्मुक्ति के प्रतिपादन में शास्त्र का कुछ भी प्रयोजन नही है।[३७]

विदेहमुक्ति में जीव की अविद्या पूर्णरूप से निवृत्ति हो जाती है। जीव और परमेश्वर मे कोई अन्तर नही रह जाता परन्तु उसे सृष्टि आदि करने की शक्ति प्राप्ति नही होती क्योंकि वह ब्रह्म के अधीन ही रहता है।

मोक्ष-मार्ग

हिन्दू धर्म मे सम्प्रदायों एवं विचारधाराओ के अनुसार मोक्ष-मार्ग पर भी विद्वानो मे मतैक्य नही है। जैन धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् उमास्वामी के अनुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र मोक्ष मार्ग है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता जो हिन्दुओं का पवित्र धर्म ग्रन्थ है, मे ज्ञान, भक्ति एव कर्म इन्ही तीनो को मोक्ष मार्ग के रुप मे स्वीकार किया गया है। योग दर्शन मे योग मार्ग पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार हिन्दू धर्म मे मोक्ष को अपनाने के लिए कई प्रकार के मार्गो का उल्लेख किया गया है। हिन्दुओं को अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार जिसे जो मार्ग सुलभ जान पड़े उसे उसी मार्ग का हृदयंगम कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। हिन्दू धर्म मे प्रमुख निम्न मोक्ष मार्गो का विवरण मिलता है—

१. राजयोग

२. ज्ञानयोग

३. कर्मयोग,

४. भक्तियोग

१. राजयोग

हिन्दू धर्म के अनुसार बन्धन का मूल अर्थ आत्मा का शरीर, मन आदि विषयों के साथ तादात्म्य स्थापित करना कहा जाता है। यद्यपि आत्मा, शरीर तथा मन दोनों से भिन्न है तथापि अज्ञान के कारण वह अपने को इन विषयो से पृथक् नही समझ पाता। इसीलिए हिन्दू धर्म मे मोक्ष की प्राप्ति हेतु चित्त की स्थिरता पर विशेष बल दिया गया है। आत्मा अपने को अनात्म से तभी अलग समझ सकती है जब वह आध्यात्मिक अभ्यास का पालन करे। इसीलिए हिन्दू धर्म में राजयोग को मुक्ति का मार्ग बतलाया गया है। जब तक मनुष्य की बुद्धि बुरे विचारों से दूर हटकर शुद्ध नहीं होती तब तक वह आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार नही कर सकता। सत्य का साक्षात्कार करने के लिए हिन्दू धर्म मे 'अष्टांगिक-योग साधना' का उल्लेख किया गया है। अष्टांगिक योग साधना में हमे योग शब्द को विशेष रूप से समझ

लेना आवश्यक है। कुछ उपनिषदो मे योग शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसा वह योगसूत्र मे प्रयुक्त हुआ है।[३८] विज्ञ लोग योग द्वारा परमात्मा का ध्यान करके तथा मन को अन्तरात्मा मे स्थिर करके आनन्द एव चिन्ता से मुक्त हो जाते है। हिन्दू धर्म मे मोक्ष के सन्दर्भ मे राजयोग के अन्तर्गत अष्टागिक योग को महत्वपूर्ण बतलाया गया है, जो निम्न है—

१. यम

२. नियम

३. आसन

४. प्राणायाम

५. प्रत्याहार

६. धारणा

७. ध्यान

८. समाधि।

१. यम

'यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमा:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अवाछनीय कार्यो से निवृत्त कराते है यम कहलाते है। यम को हिन्दू धर्म मे पॉच प्रकार का बताया गया है। निवृत्ति मूलक यम पॉच प्रकार के हैं—

१. अहिंसा

२. सत्य

३. अस्तेय

४. ब्रह्मचर्य

५. अपरिग्रह

१. अहिसा— यह व्रत साधक को अत्यन्त निन्दित कार्य हिंसा से निवृत्त कराता है। प्राणिमात्र के प्रति किसी भी समय किसी भी प्रकार का (कायिक, वाचिक व मानसिक) हिंसात्मक व्यवहार न करना अहिंसा है।

२ सत्य— मन एवं वचन की एकाग्रता को सत्य कहते हैं। सत्य के अभ्यासी को अप्रिय सत्य से दूर रहना चाहिए।

३. अस्तेय— इसका अर्थ चोरी न करना है।

४. ब्रह्मचर्य— इस व्रत के द्वारा काम वासना को उद्दीप्त होने से बचाया जाता है। उपस्थेन्द्रिय विषयक संयम को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

५. अपरिग्रह— आवश्यकता से अधिक द्रव्य का ग्रहण न करना अपरिग्रह है।

२. नियम

"नियमयन्ति प्रेरयन्तीति नियमा:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो शुभ कार्यो मे प्रवृत्त कराते है नियम कहलाते है। प्रवृत्ति मूलक नियम पॉच प्रकार का होता है।

क. शौच

ख. सन्तोष

ग. तप

घ स्वाध्याय

ङ. ईश्वर प्राणिधान।

(क) शौच

वाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि ही शौच है। शौच के दो भेद है वाह्य तथा आभ्यान्तर। मृज्जलादि से वाह्य शुचिता तथा मैत्री आदि उदान्त भावनाओं से आन्तर शुचिता लायी जाती है। पहला शारीरिक शुद्धि और दूसरा मानस शुद्धि के लिए है। वाह्य शौच का धर्म मुख मण्डल की तेजस्विता तथा शरीर की लघुता है। इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से साधक मे स्व शरीर एव पर-शरीर के प्रति घृणा बुद्धि उत्पन्न होती है। आभ्यन्तर शौच मन एव इन्द्रियो को प्रसन्नता प्रदान करता हुआ उन्हे आत्मदर्शन के योग्य बनाता है।

(ख) सन्तोष

उचित प्रयास से जो कुछ भी प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट हो जाना ही सन्तोष है। मनुष्य को जब तक सन्तोष नही होगा वह मोक्ष प्राप्त नही कर सकता क्योकि सन्तोष के बिना उसकी इच्छाएँ समाप्त नही होती है। इच्छाओ की पूर्ति हेतु वह आवागमन चक्र मे बँधा रहता है। कबीरदास ने सन्तोष की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है—

'गो-धन, गज-धन, बाजि धन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।'

संस्कृत मे भी कहा गया है। 'सन्तोष: परमं सुखम्।' अर्थात् सन्तोष से परम सुख मिलता है।

(ग) तप

अर्थात् सर्दी-गर्मी सहने आदि का अभ्यास तथा कठिन व्रत का पालन करना। तप से शरीर की पूर्णता की प्राप्ति हाती है (अणिमा के समान गुप्त शक्तियो की उपलब्धि होती है) और उससे क्लेश दूर हो जाते है तथा पाप भी नष्ट हो जाते है तदुपरान्त ज्ञानेन्द्रियो की पूर्णता प्राप्त होती है।

(घ) स्वाध्याय

अर्थात् नियम पूर्वक धर्मग्रन्थो का अध्ययन करना। निरन्तर स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन (ओम् के जप आदि) से अपने मनचाहे देवता की अनुभूति होने लगती है।

(ङ.) ईश्वर प्राणिधान

ईश्वर का ध्यान और उस पर अपने को छोड़ देना ईश्वर प्राणिधान है। इससे समाधि मे पूर्णता प्राप्त होती है।

विष्णुपुराण ने पॉच यमो एव पॉच नियमो का वैसा ही उल्लेख किया है किन्तु ईश्वर प्राणिधान के स्थान पर 'परब्रह्म मे सलग्न मन' को रखा है (कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मन.)।[३९]

उपरोक्त पॉचो नियमों मे तप, स्वाध्याय एव ईश्वर प्राणिधान को क्रियायोग कहा जाता है जैसा कि योगसूत्र मे उल्लिखित है।[४०]

३. आसन

'आस्यतेऽनेनेति आसनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अवस्था में शरीर अपेक्षित समय तक सुख से रह सके, आसन कहते है। आसन का अर्थ है शरीर को विशेष मुद्रा मे रखना। आसन की अवस्था में शरीर का हिलना और मन की चंचलता इत्यादि का अभाव हो जाता है, तन-मन दोनो को स्थिर रखना पड़ता है। योग वार्तिक मे पृष्ठ सख्या २६८ पर कहा गया है कि जितने प्रकार की जीव जातियॉ है उतने ही प्रकार के आसन है। योगासनो पर हिन्दू धर्म मे कई ग्रन्थ है परन्तु सबसे अधिक आसनो का वर्णन 'योगसिद्धान्त चन्द्रिका' में प्राप्त होता है। कुछ प्रमुख आसन निम्न है।

पद्मासन, सिरासन, वीरासन, सिद्धासन, भद्रासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, मत्स्येन्द्रपीठासन, चक्रासन, गोमुखासन, कूर्मासन, बज्रासन, कमलासन, गरुणासन इत्यादि।

आसन के सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यम-नियम का जयी व्यक्ति ही आसन का अच्छा अभ्यास कर सकता है। इसीलिए यम और नियम के पश्चात् ही आसन का स्थान है। आसनो के दो प्रकार हैं जिनमे एक प्राणायाम, ध्यान एवं एकाग्रता के लिए उपयोगी है यथा पद्म, सिद्ध एवं स्वस्तिक। आसनो का दूसरा प्रकार शारीरिक रोगो के लिए निवारण एवं स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होता है किन्तु इनमे अधिकांश में विभिन्न आयामो की आवश्यकता पडती है और इन आसनो द्वारा उपस्थापित अन्तिम शरीर दशा गम्भीर ध्यान को असम्भव नही तो कठिन अवश्य बना देते है।

४. प्राणायाम

श्वास-प्रश्वास की अत्यन्त स्वाभाविक गति के नियन्त्रण को प्राणायाम कहते है।[४१] यह शरीर और मन को दृढ़ता प्रदान करता है। यह समाधि मे पूर्णतया सहायक होता है। प्राणायाम के तीन प्रमुख भेद होते है।

(क) पूरक

(ख) कुम्भक

(ग) रेचक

(क) पूरक

पूरक प्राणायाम में नासिका के छिद्रों से श्वास को भीतर की ओर खींचकर उसे नियन्त्रण मे रखा जाता है।

(ख) कुम्भक

इसमे प्राणवायु को जहॉ का तहॉ रोक दिया जाता है। आचार्य नारायणतीर्थ ने अपने व्यापक शास्त्रीय ज्ञान के कारण प्राणायाम के प्रतिपादन मे विशेष अभिरूचि प्रदर्शित किया है। कुछ व्याख्याकारो ने कुम्भक प्राणायाम को 'सहित कुम्भक प्राणायाम' तथा 'केवल कुम्भक प्राणायाम' इन दो नामो से दो भेद बताया है। आचार्य नारायणतीर्थ ने सहित कुम्भक प्राणायाम के आठ भेद बतलाये हैं– सूर्यभेदी, उज्जायी, क्षीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा मुख्य सहित। कुछ विद्वान् कुम्भक प्राणायाम को सोत्कर्ष एवं सापकर्ष नामक दो भेदों के रूप मे स्वीकार किये है। तदनन्तर इन दोनो के सात अवान्तर भेद है, रेचिक कुम्भक, पूरित कुम्भक, शान्तकुम्भक, प्रत्याहार कुम्भक, उत्तर कुम्भक, अपर कुम्भक, सम कुम्भक।

(ग) रेचक

रेचक प्राणायाम मे नासिका पुटो के द्वारा हृदय मे भरी प्राणवायु को अत्यन्त मन्दगति से बाहर निकालकर श्वास-प्रश्वास की क्रिया को अवरुद्ध किया जाता है।

५. प्रत्याहार

प्राणायाम की साधना पूरी होने के पश्चात् साधक के लिए प्रत्याहार की साधना प्रशस्त हुई है।

'इन्द्रियाणि विषयेभ्य: प्रत्याह्रियन्ते विमुखी क्रियन्तेऽनेनेति प्रत्याहार:'[४२]

इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो से हटाकर उन्हें अन्तर्मुखी बनाना प्रत्याहार है। इन्द्रियॉ प्राय: अपने-अपने विषयों की ओर दौडती रहती है। योगाभ्यास के लिए ध्यान को एक ओर लगाना होता है। अत: यह आवश्यक हो जाता है कि इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो से संसर्ग न हो। प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो से दूर हटकर मन के अधीन हो जाती हैं। यह कार्य योगी के लिए अत्यन्त कठिन है। प्रत्याहार को हम इन्द्रियों के परतन्त्र का साधन भी कह सकते हैं। आचार्य नारायणतीर्थ को छोड़कर पातन्जल योग के सभी व्याख्याकारो ने इसे इन्द्रिय का धर्म बतलाया है। आचार्य तीर्थ ने इसे इन्द्रिय तथा प्राणवायु दोनों का धर्म बतलाते हुए द्विविधिमार्गीय साधना उपन्यस्त की है। कूर्म पुराण में इसे इस प्रकार बताया गया है—

'प्रत्याहार उन इन्द्रियो का निग्रह है जो स्वभावत: इन्द्रिय विषयों से आकृष्ट हो उठती हैं।'[४३]

अब हम यह बतला देना उपयुक्त समझते है कि उपरोक्त यम से प्रत्याहार तक के साधनो को बहिरङ्ग कहते है क्योंकि इनका लक्ष्य चित्त को भौतिक बाह्य पदार्थों की ओर जाने से रोकना होता है। तत्पश्चात् धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन क्रियाओं से चित्त की एकाग्रता के विभिन्न रूपो की साधना प्रारम्भ होती है फलत: इसे अन्तरङ्ग साधन कहा जाता है क्योकि पदार्थ चिन्तन अन्तर्मुखी होता है।

६. धारणा

धारणा का अर्थ होता है चित्त को अभीष्ट विषय पर जमाना।[४४] यह अन्तरंग साधन की पहली सीढ़ी है। इसमे

चित्त किसी एक वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है। नाभिचक्र, हृदयकमल, कण्ठ, मुख आदि इसके आन्तरिक देश है। धारणा आध्यात्मिक देशो मे निम्नाकित क्रम से आगे बढती है। नाभि, हृदय, वक्षस्थल, कण्ठमुख, नासिकाग्र, नेत्र, भ्रू का मध्य भाग मूर्धा और सबसे अन्त मे बारह अगुल परिमित प्रदेश। धारणा के बाह्य देशो मे सूर्य, चन्द्रमा अथवा किसी देवी या देवता की प्रतिमा सम्मिलित है। योगसिद्धान्त चन्द्रिका मे महाभूत विषयक धारणा का भी उल्लेख मिलता है।[४५] जैसे पार्थवीय धारणा, जलीय धारणा, तैजसीय धारणा, वायवीय धारणा तथा नामसी धारणा। इसे हम क्रमशः स्तम्भिनी, प्लाविनी, दहनी, भ्रामणी, शमनी नामो से भी सम्बोधित करते है।[४६]

७. ध्यान

ध्यान का अर्थ होता है अभीष्ट वस्तु का निरन्तर अनुशीलन।[४७] योग सिद्धान्त चन्द्रिका मे सगुण एव निर्गुण दो प्रकार के ध्यानो का वर्णन मिलता है।

ध्यान और धारणा में अन्तर यह है कि धारणा मे ध्येयाकार-वृत्ति विच्छिद्य होती है और ध्यान मे ध्येयाकार वृत्ति की एकतानता रहती है अर्थात् नाभि आदि अभ्यान्तर देशो और सूर्य आदि बाह्य देशो मे चित्त की स्थापना करना धारणा है और इन्ही देशो में ईश्वर आदि देवताओ का चिन्तन करना ध्यान है।

८. समाधि

जब ध्यान ध्येयमात्र का प्रकाशक तथा अपने ध्यानाकार रूप से रहित के जैसा हो जाता है तब उसे समाधि कहते है। चित्त की एकाग्रता की इस सर्वोत्कृष्ट अवस्था मे ध्याता, ध्यान, ध्येय का त्रिपुटीमान नही रहता है फलतः साधक सब कुछ भूल जाता है। यद्यपि ध्यान की अवस्था मे वस्तु की ध्यान क्रिया और आत्मा की चेतना रहती है परन्तु समाधि मे यह चेतना बिल्कुल लुप्त जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति होने से चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है।

हिन्दू धर्म मे समाधि को भी दो प्रकार का बतलाया गया है।

१. सम्प्रज्ञात समाधि

२. असम्प्रज्ञात समाधि

सम्प्रज्ञात समाधि

जब तक पुरुष शरीर से सम्बन्धित है तब तक चित्त की वृत्तियॉ या उनके संस्कार बने रहते है। इस समाधि मे सूक्ष्म विषयों से सम्बन्धित वृत्तियॉ रहती हैं। इस समाधि के चार भेद बतलाये गये हैं।

क. वितर्कानुगत

ख. विचारानुगत

ग. आनन्दानुगत

घ. अस्मितानुगत

क. वितर्कानुगत

इसमे चित्त स्थूल विषयो से सम्बद्ध होकर उसी के आकार का हो जाता है । इसमे शब्द, अर्थ और उसका ज्ञान ये तीनो एक होकर भावना मे रहते है । शून्य को छोडकर केवल अर्थ की भावना होने पर निवितर्क समाधि होती है ।

ख. विचारानुगत अथवा सविचार

इसमे चित्त सूक्ष्म विषय से सम्बद्ध होकर उसी का आकार ग्रहण करता है अर्थात् जब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि सूक्ष्म भूत और अन्त.करण के सूक्ष्म विषयो पर उनके देशकाल धर्मादि सहित विचार किया जाता है तब उसे सविचार समाधि कहते है ।

ग. आनन्दानुगत अथवा सानन्द

जिस समाधि में रजस् और तमस् से अनुविद्ध अन्त:करण का सत्वभावना का विषय होता है उसे आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । इस समाधि मे भाव्य के रूप में सुख एवं प्रकाशमय तत्व मुख्य होता है और चित्त शक्ति गौण । इसमें सुख का अनुभव प्रमुख होता है । इसे ग्रहण सभापत्ति भी कहते हैं ।

घ. अस्मितानुगत अथवा सास्मित

इसमे रजोगुण और तमोगुण से अनभिभूत शुद्ध तत्व (चित्त का सत्व अंश) का आलम्बन करके भावना की जाती है किन्तु यहॉ ग्राह्य सत्व दब जाता है और चिति शक्ति का उद्रेत रहता है इसीलिए इसे अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते है ।

उपरोक्त चारों भेदो की परिभाषाये भोजवृत्ति के अनुसार हैं । इस स्थल पर वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु के बीच मतभेद भी है जिनका उल्लेख करना यहॉ आवश्यक नही है । समाधि की ये चारो अवस्थाये सालम्बन या सवीज बतलाई गई है क्योंकि इसमे ध्येय रूप विषय का आलम्बन अवश्य रहता है तथा इन अवस्थाओ मे अनर्थ का बीज भूत अज्ञान भी विद्यमान रहता है । यही कारण है कि किसी शास्त्र में इस समाधि का फल नित्य मोक्ष न बतलाकर अनित्य ससार ही बतलाया गया है ।[४८]

२. असम्प्रज्ञात समाधि

यह वस्तुत: निर्वीज समाधि है इस समाधि मे वस्तुत: सब प्रकार की वृत्तियों का विराम हो जाता है । 'पातन्जल योगशास्त्र' मे असम्प्रज्ञात समाधि भी दो प्रकार की बतलाई गई है ।

१. भव प्रत्यय

२. उपाय प्रत्यय

चित्त वृत्ति का सम्यक् निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण है । चित्त आत्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है यहॉ तक कि दोनों का सम्बन्ध स्व-स्वाभिभाव है ।[४९]

१. भव प्रत्यय

भव प्रत्यय विदेह तथा प्रकृति-लय जीवो का होता है जिनके शरीर की निरपेक्षता मे बुद्धि वृत्तियॉ रहती है क्योकि उनमे सहज ज्ञान रहता है । प्रकृति लय भी देवयोनि विशेष रहते है । ईश्वर अथवा प्रकृति की उपासना द्वारा अधिकार प्राप्त करके स्वेच्छा से प्रकृतिलीन रहते है । अधिकार समाप्ति के बाद वे मुक्त हो जाते है ।

२. उपाय प्रत्यय

इसमे प्रज्ञा के कारण अविद्या का नाश हो जाता है । इसमे कलेशो का नाश होता है और चित्त ज्ञान मे प्रतिष्ठित हो जाता है । यह समाधि योगियो की ही होती है । यह श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा से उत्पन्न होती है ।

हिन्दू धर्म मे प्राय: ऐसा विश्वास है कि इस अष्टागिक योग साधना द्वारा आठ प्रकार की सिद्धियॉ प्राप्त होती हैं जो निम्न प्रकार है—

१. अणिमा

अर्थात् अणु के समान छोटा होना ।

२. लघिमा

अर्थात् रुई से भी हल्का होकर उड जाना ।

३. महिमा

अर्थात् पर्वत के समान विशाल बन जाना ।

४. प्राप्ति

अर्थात् मनोवाछित किसी भी वस्तु को प्राप्त करना ।

५. प्रकाम्य

अर्थात् इच्छा शक्ति का बाधारहित हो जाना ।

६. वाशित्व

अर्थात् सब जीवो को वश मे करना ।

७. इशित्व

अर्थात् समस्त भौतिक पदार्थो पर अधिकार जमा लेना ।

८. यत्रकामावासायित्व

अर्थात् सम्पूर्ण संकल्पो की सिद्धि होना ।

इन सिद्धियो के प्राप्त होने से सम्पूर्ण लौकिक तथा पारलौकिक ऐश्वर्य योगी के अधीन हो जाता है । विवेकख्याति

प्राप्त योगी को सात प्रकार की प्रज्ञा का लाभ होता है अर्थात् उसे सात प्रकार की बुद्धि प्राप्त होती है। हेय संसार को मैने जान लिया और अब यह संसार मेरे जानने योग्य नही है। हेय अविद्यादि समस्त क्लेश क्षीण हो चुके है अब शेष नही। असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा मैने ससार की निवृत्ति का प्रत्यक्ष कर लिया है अब कुछ भी जानना शेष नही। विवेख्याति रूप मोक्ष का मैने निष्पादन कर लिया है अब कुछ निष्पादन करना शेष नही है। मेरी बुद्धि भागापवर्ग रूप पुरुषार्थ का सम्पादन कर अधिकारी हो चुकी है। सत्व, रज तथा तम ये तीनो गुण चित्त के साथ निराधार हो चुके हैं अब इसकी उत्पत्ति सम्भव नही। अब व्यक्ति (पुरुष) गुण सम्बन्धातीत ज्योति स्वरूप केवली अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो चुका है।

२. ज्ञान योग

ज्ञान योग भी मोक्ष प्राप्त करने का एक साधन है। ज्ञान योग ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने का आध्यात्मिक मार्ग है। हिन्दू धर्म में ज्ञान पर अनेक विवरण प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवद्गीता जो (हिन्दू धर्म का प्रमाणिक ग्रन्थ स्वीकार्य है) मे भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को ज्ञान का उपदेश दिये हैं।

ज्ञान योग के द्वारा भी जीव और शिव का, आत्मा और परमात्मा का, सम्बन्ध हो सकता है। यह सम्बन्ध परमात्मा से तदात्म्य या एकीकरण है। ज्ञानयोगी आत्मरूप को परमात्मा का स्वरूप समझता है। वह परमात्मा से भिन्न नही वरन् अभिन्न है। ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य को 'शिवोऽस्मि' का ज्ञान होता है। कबीरदास जी ने भी ज्ञान की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है—

'ज्यों तिलमा है तेल मे, ज्यो चकमग मे आगि।
तेरा साई तुज्झ में, जागि सके तो जागि॥'

मनुष्य अज्ञानवश इधर-उधर भटकता रहता है। अज्ञान के कारण ही वह इस चराचर विश्व मे जन्म ग्रहण करता है। अज्ञानवश ही वह जीवन मरण के चक्र मे बँधा रहता है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर वह इस संसार चक्र से दूर हो जाता है परन्तु ज्ञान का मार्ग अत्यन्त सरल नही है यह एक कठिन मार्ग है। यह मार्ग सभी व्यक्तियो के लिए नही है। इस मार्ग का पालन कर वही व्यक्ति मुक्त हो सकता है जो बुद्धिमान तथा प्रबुद्ध हो। मनुष्य मे बुद्धि और विवेक का विकास तब तक नहीं होता जब तक वह कर्म योग, भक्तियोग तथा राजयोग का पालन नही करता है।

संसार को असार तथा आत्मा को परमात्मा स्वरूप समझना ही ज्ञान योग का स्वरूप है। ज्ञानी के लिए जो कुछ भी दृश्य है वह माया है, मृगतृष्णा है स्वप्न की सृष्टि है। यथार्थ में सच्चिदानन्द ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं जो कुछ है वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म एक है शुद्ध ज्ञान स्वरूप है संसार का नानात्व मिथ्या है एकत्व ही सत् है। ब्रह्म ही आत्मा है अथवा आत्मा ही ब्रह्म है। संसार मे सब कुछ आत्मरूप है ब्रह्म स्वरूप है। यही एकत्व दर्शन ही ज्ञान योग का स्वरूप है। श्वेताश्वर उपनिषद् मे ज्ञान के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है। तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार या कुमारी है, तू ही वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है तथा तू ही उत्पन्न होने पर अनेक रूप हो जाता है।[५०] प्रसिद्ध राष्ट्रकवि डॉ० मैथिलीशरण गुप्त ने भी ज्ञानयोग का सुन्दर समन्वय किया है—

'हे सच्चिदानन्द प्रभो तुम नित्य सर्व सशक्त हो,
अनुपम अगोचर शुभ परात्पर ईश वर अव्यक्त हो।

तुम एक होकर भी अहो रखते अनेको वेश हो,
आद्यन्तहीन अचिन्त्य अद्‌भुत आत्म भू अखिलेश हो।'

ज्ञानी पुरुष आत्मा को ही समस्त प्राणियो में स्थित देखता है तथा सभी प्राणियो को आत्मा मे स्थित देखता है। एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वर ही सत तत्व है। परमात्मा से भिन्न सम्पूर्ण जगत मिथ्या है। इस रहस्य को जानने वाला ही ज्ञानयोगी है। ज्ञानयोगी परमात्मा मे अभिन्नभाव से स्थित हो सम्पूर्ण आत्मा मे एक अद्वितीय आत्मा को ही देखता है तथा समस्त चराचर जगत को आत्मा मे ही स्थित देखता है।[५१]

ईश्वर आत्मा तथा विश्व के ज्ञान से मानव मोक्ष का भागी हो सकता है। ईश्वर आत्मा आदि के सम्बन्ध से तार्किक तथा सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करना ही पर्याप्त नही है। ईश्वर और आत्मा का साक्षात्कार भी आवश्यक माना गया है। इस प्रकार के ज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान माना गया है। दूसरे शब्दो मे वस्तुओ के आभास मे व्याप्त सत्यता का निरूपण करने का प्रयास ही आध्यात्मिक ज्ञान है। इस ज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत नष्ट हो जाता है। तार्किक ज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत विद्यमान रहता है।

हिन्दू धर्म में प्राय: ऐसा विश्वास है कि जो व्यक्ति ज्ञान चाहता है उसे शरीर मन और इन्द्रियों को शुद्ध रखना नितान्त आवश्यक होता है। उसे यम का पालन करना चाहिए। ज्ञान की चाह रखने वाले व्यक्ति को निष्काम कर्म करना चाहिए। आचार्य शंकर ने मोक्ष अर्थात् आत्मा की अशरीरी अवस्था को नित्य माना है। शारीरिक भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है, 'मोक्षाख्यमशरीरत्वं नित्यम्। अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा नित्य मुक्त है तो मोक्ष के लिए शरीर मन और इन्द्रियो को शुद्ध रखते हुए साधन की क्या आवश्यकता है? दूसरी तरफ यदि साधनों से मोक्ष मिलता है तो फिर आत्मा को 'सर्वदा वर्तमान स्वभावत्वाद', 'नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात्', 'स्वमहिमप्रतिष्ठत्वम्' इत्यादि कहना निरर्थक प्रतीत होता है। सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि वेदान्त में कही दो प्रकार की आत्माओ का वर्णन है। विज्ञानात्मा भोक्ता और कर्त्ता है परमात्मा कूटस्थ और मुक्त है। जीव अपने नित्य आत्मा के रूप को भूलकर अपने विज्ञानात्मा रूप को ही सब कुछ समझने लगता है। जबकि जीव का वास्तविक रूप परमात्मा है। अविद्या के कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को नही पहचान पाता। जैसे मृग अपने अन्दर कस्तूरी के रहने पर अज्ञानवश इधर-उधर वनो मे खोजता रहता है जबकि मृग की नाभि में कस्तूरी विद्यमान रहती है उसी प्रकार अज्ञानवश मनुष्य परमात्मा को इधर-उधर खोजता रहता है। कबीरदास जी ने इसका सुन्दर चित्रण उपस्थित किया है—

'कस्तूरी कुण्डलि बसै, मृग ढूढै बन माहि।
ऐसे घटि-घटि राम हैं, दुनियाँ देखत नाहिं॥'

इस प्रकार स्पष्ट है कि अविद्या का अर्थ आत्मा और परमात्मा का द्वैत है। इसी द्वैत को नष्ट करना ज्ञान योग का प्रमुख कार्य है। वेदान्त दर्शन का यही प्रमुख लक्ष्य है। अत: परमात्मा नित्य मुक्त है परन्तु विज्ञानात्मा को मुक्त करने के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि साधनों की आवश्यकता पड़ती है। इन साधनों से जीवात्मा द्वैतभाव को छोड़कर परमात्मा को पहचान जाता है और परमात्मा को पहचानने पर उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

यहॉ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि जीव को परमात्मा का ज्ञान हो जाता है तो वह पहले अविद्या मे क्यो फॅसा रहता है। इस सन्दर्भ मे डायसन तथा पार्थसारथी मिश्र ने कहा है कि आचार्य शकर अविद्या के उत्पन्न होने का कारण नही बतलाते। परन्तु इस सन्दर्भ मे जहॉ तक मेरा अपना विचार है कि यदि अविद्या उत्पन्न न हो तो सभी जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेगे। हिन्दू धर्म मे ऐसा विश्वास है कि मोक्ष प्राप्त जीव इस ससार चक्र मे पुन: जन्म नही लेता। यदि अविद्या उत्पन्न न हो तो सभी जीवो को मोक्ष प्राप्त करने के कारण सृष्टि प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी। अत: स्पष्ट है कि सृष्टि निर्माण मे अविद्या का महत्वपूर्ण योगदान है। सम्भवत: अविद्या इसीलिए उत्पन्न होती है।

इसके पूर्व भी उल्लेख किया जा चुका है कि मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति हेतु साधना आवश्यक है। हिन्दू धर्म मे इसके लिए 'साधन-चतुष्टय' पर विशेष बल दिया गया है जो इस प्रकार है—

१. नित्यानित्यवस्तु विवेक

साधन को नित्य और अनित्य पदार्थों मे भेद करने का विवेक होना चाहिए।

२. इहामुत्रार्थभोग विरागः

साधक को लौकिक तथा पारलौकिक सब प्रकार के भोगों की कामना का त्याग कर देना चाहिए।

३. शमदमादिसाधनसम्पत्

साधक को शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छ: साधनों को अपनाना चाहिए। संक्षेप मे इन छ: साधनो का अर्थ बतलाना आवश्यक है।

क. शम

शम का तात्पर्य सयम से है। अर्थात् साधक को संयमी होना चाहिए। उसे संयम व्रत का पालन करना चाहिए।

ख. दम

दम का अर्थ इन्द्रियों के नियंत्रण से है। इन्द्रिय नियन्त्रण के बारे में भी पहले ही स्पष्ट हो चुका है अत: उसका यहॉ दुबारा उल्लेख करना अनावश्यक नही है।

ग. श्रद्धा

श्रद्धा का अर्थ है शास्त्र मे निष्ठा रखना। प्रत्येक धर्म का अलग-अलग प्रामाणिक ग्रन्थ होता है जैसे इस्लाम का कुरान और हिन्दुओ का ग्रन्थ गीता, भागवत्, रामायण, मनुस्मृति है उनमे साधक को विश्वास रखना चाहिए। यहॉ श्रद्धा से अर्थ प्राय: आस्तिक से है।

घ. समाधान

समाधान का अर्थ चित्त को ज्ञान के साधन मे लगाना है। यदि चित्त ज्ञान के ध्यान में नहीं लगता है तथा उसके मन में सदैव अज्ञान का ही विचार बना रहता है तो साधक को तुरन्त ही उस विचार की बुराइयों का ध्यान करना चाहिए।

यदि इससे भी ज्ञान की भावना उसके विचार मे नही आती है तो उसे अज्ञान मानकर उससे ध्यान हटाकर चित्त को ज्ञान के साधन मे लगाना चाहिए।

च. उपरति

उपरति का अर्थ विक्षेपकारी कार्यो से विरत होना है।

छ. तितिज्ञा

शीतोष्ण आदि सहन करने का अभ्यास साधक को करना चाहिए।

४. मुमुक्षुत्व

साधक को मोक्ष प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए। इस सन्दर्भ मे यह आवश्यक है कि साधक शुभ सकल्प का ग्रहण तथा अशुभ संकल्प का त्याग करे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि साधक को साधन चतुष्टय के माध्यम से वासनादि पर विजय प्राप्त हो जाती है। परन्तु वासनाओं पर विजय प्राप्त करने से ही उसे मुक्ति नही मिल सकती। मोक्ष प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि वह श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करे, जिसकी हिन्दू धर्म मे व्यवस्था दी गई है। वेदान्त दर्शन मे इसके लिए उसे सर्वप्रथम गुरु से उपदेश सुनना चाहिए। गुरु मिथ्या संस्कारो का विनाश तथा 'ब्रह्म सत्य' मे अचल विश्वास प्राप्त होने पर ही 'तत्वमसि' का उपदेश देते हैं तत्पश्चात् साधक एकाग्रचित्त से इस सत्य पर मनन करते हुए बारम्बार निदिध्यासन अर्थात् उसका ध्यान करता है। इस प्रकार उसे सत्य की अनुभूति होने लगती है तथा 'अहम्' का स्पष्ट साक्षात्कार होता है। यही साक्षात्कार एव सत्य का अनुभव ही ब्रह्मज्ञान की चरम सीमा है। यही मोक्ष है। इससे समस्त द्वैत मिट जाते है।[५२] सन्देह और मोह भी मिट जाते है और परम आनन्द की प्राप्ति होती है। मुक्त व्यक्ति जब तक जीवित रहता है तब तक समाज और प्राणिमात्र की सेवा करता है और शरीर छोड़ने पर फिर वह इस संसार के मायाजाल मे नही पड़ता अर्थात् वह पुनः जन्म नही लेता। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ज्ञान मार्ग का सुन्दर चित्रण निम्न प्रकार किया गया है—

एको हंसो भुवनस्य मध्ये
स एवाग्निः सलिलि सन्निविष्टः।
तमेव विदित्वाविमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यते यनाय॥[५३]

अर्थात् इस भुवन के मध्य मे एक ही परमात्मा (हंस) है उसी को जानकर पुरुष मृत्यु के पार हो जाता है मोक्ष के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।

३. कर्म योग

कर्म शब्द ऋग्वेद के चालीस बार से अधिक प्रयुक्त हुआ है। कही-कही इसका अर्थ है 'पराक्रम' या 'वीर कार्य' है। इसका उदाहरण हमे ऋग्वेद मे इस प्रकार प्राप्त होता है। 'विष्णु के कर्म (पराक्रम) का निरीक्षण करो'। 'प्रशंसा के

योग्य उसके (इन्द्र के) प्राचीन कर्मो की घोषणा अपने शब्दो से करो'[५४] पराक्रम के अतिरिक्त ऋग्वेद मे ही कर्म शब्द का अर्थ धार्मिक कृत्य से लिया गया है। जैसे 'देवलोग इस कवि के सभी कर्मो को स्वीकार करते है जो तुम्हे स्तुति देता है (तुम्हारी बन्दना करता है)'।[५५] मोक्ष प्राप्ति के सन्दर्भ मे ये दोनो अर्थ महत्वपूर्ण है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता जो हिन्दू धर्म का आधार ग्रन्थ है में कर्म योग का सुन्दर विवेचन है। इस सन्दर्भ में यह कह देना आवश्यक समझ रहे है कि इसी कारण गीता को कतिपय विचारक 'कर्मयोगशास्त्र' कहते है। 'दैवीय सेवा अर्थात् कर्म के द्वारा ही हम सर्वोच्च सत्ता तक पहुँच सकते है जिससे अमूर्त भी मूर्त रूप धारण करता है वह भी कर्म ही है।[५६] कर्म को अनादि कहा गया है और जगत् का कार्य ठीक किस प्रकार से होता है समझना कठिन है। सृष्टि के अन्त मे समस्त जगत् एक सूक्ष्म कर्मरूपी बीज की अवस्था मे विद्यमान रहता है और अगली सृष्टि मे अकुर के रूप में प्रस्फुटित होने के लिए उद्यत रहता है। अब प्रश्न उठता है कि इस कर्म का अधिपति कौन है? चूँकि हिन्दू धर्म मे ऐसा विश्वास है कि संसार की प्रक्रिया भगवान के ऊपर निर्भर है अत: उसे ही हम कर्म का अधिपति कह सकते है। मनुष्य इस संसार मे कर्म करने के लिए ही जन्म लेता है। मानव के लिए यह आवश्यक है कि उसका आचरण धर्म का हित सम्पादन करने वाला हो, जिसका परिणाम आध्यात्मिक शान्ति और सन्तोष की प्राप्ति है। कर्म मार्ग आचरण का वह मार्ग है जिसके द्वारा सेवार्थ इच्छुक व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

मानव की महत्वाकांक्षा आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए होती है किन्तु वह जगत के भौतिक तत्वो से इसे प्राप्त नही कर सकता। जिन सुखो की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करता है वे भी अनेकानेक हैं। 'भ्रान्तिमन एवं मिथ्या प्रकार की इच्छाओ से जिस सुख की प्राप्ति होती है उसमे तो अधिकतर तमाशा ही रहता है और इन्द्रियो से जो सुख प्राप्त होता है उसमे रजोगुण अधिक रहता है और आत्मज्ञान का जो सुख है उसमें सत्वगुण का भाव अधिकांश मे रहता है। मनुष्य अपने को जब स्वतन्त्र कर्त्ता समझना छोड़कर यह अनुभव करने लगे कि इस जगत् का मार्ग दर्शन ईश्वर की अनन्त कृपा से हो रहा है तब उसे अनन्य सुख एव सन्तोष की अनुभूति होती है। मनुष्य की यह अनुभूति ही सत्कर्म है और सत्कर्म द्वारा वह मोक्ष एव आत्मा की पूर्णता प्राप्त करता है। इसका सुन्दर उदाहरण हमे श्रीमद्‌गगवद्‌गीता मे प्राप्त होता है। जब अर्जुन के हृदय में शोक और मोह का उदय हुआ था और उनकी कर्मयोग के प्रति अनुभूति समाप्त हो रही थी जिससे वे अपने मार्ग से हट रहे थे। उनका विचार कर्म और अकर्म के भंवर से मंडरा रहा था फलत: उनकी बुद्धि नष्ट हो रही थी। उस समय यदुवंश शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें कर्मयोग का सुन्दर पाठ पढ़ाया। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि कर्मयोग का रहस्य बड़ा कठिन है। सर्वप्रथम इस अवश्य फल देने वाले योग (कर्मयोग) का मैंने सूर्य को उपदेश दिया था, सूर्य ने इसे मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु को सुनाया।[५७] आगे भगवान् ने पुन: कहा 'वह ही यह पुरातन योग (कर्मयोग) अब मैंने तेरे लिये वर्णन किया है क्योकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है इसलिए यह योग बहुत उत्तम तथा रहस्य का विषय है।'[५८] यदुवंशशिरोमणि भगवान् केशव के इस उपदेश से प्रभावित होने पर अर्जुन अपना कर्म करने के लिए तैयार हो गये और अपने कर्मो के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया।

अब कर्मयोग के सन्दर्भ मे यह प्रश्न उठता है कि हम जो कर्म करते हैं उसका कर्त्ता हमी हैं अथवा कोई दूसरा? इस प्रश्न के अनुसार जो व्यक्ति अपने को ही कर्त्ता मानता है वह अहकार विमूढ़ होता है।

गीता मे कर्म के पॉच कारण बतलाये गये है। अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा और दैव या ईश्वरीय शक्ति।[५९] इन पॉचो के समूह से ही किसी कार्य का सम्पादन समझना भूल है। अधिष्ठान या देह किसी कार्य का प्रथम कारण है क्योकि देह अथवा शरीर के बिना कोई भी कार्य संभव नही है। शरीर के कारण भोक्ता, भोग्य विषयो की प्राप्ति के लिए कर्म करता है। यदि शरीर ही नही तो कर्म का प्रारम्भ ही सम्भव नही। पुनः कर्ता को कर्म का दूसरा कारण कहा गया है। कर्त्ता मे चेतन शक्ति होती है। इस चेतन शक्ति के माध्यम से ही वह यह निर्णय करता है कि उसे कौन सा कार्य करना है। इसे ही कार्यता ज्ञान अथवा कृतिसांध्यता ज्ञान कहते हैं जब तक किसी अनुकूल कार्य का ज्ञान नही होता, मनुष्य कार्यरत नही होता। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कर्त्ताकार्यता ज्ञान का दूसरा कारण है। आगे किसी कार्य मे करण या इन्द्रियो की भी आवश्यकता पडती है। इन्द्रियो के अभाव मे किसी भी कार्य का सम्पादन सम्भव नही। मनुष्य कोई भी कार्य अपने कर्मेन्द्रियो के ही माध्यम से करता है अतः यह चौथा कारण है। इसके अतिरिक्त दैव अथवा ईश्वरयी शक्ति पॉचवा कारण है अतः इन पॉच कारणो के माध्यम से सम्पन्न हुए कार्य का कर्त्ता अपने को मान लेना अहकार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? इस अहकार से रहित कर्म करना ही कर्मयोग है। वस्तुतः सभी कर्म शरीर और इन्द्रियो के माध्यम से ही सम्पादित होते है। ये शरीर और इन्द्रियॉ प्रकृति प्रसूत है अर्थात् माया से उत्पन्न है। माया परमेश्वर की क्रिया शक्ति है। इसी माया से ही शरीर और इन्द्रियॉ उत्पन्न होती है। अतः स्पष्ट होता है कि सभी क्रियाएँ परमेश्वर की माया के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। यह माया जड़ है चेतन नही। चैतन्य तो ज्ञाता आत्मा है। यह आत्मा अज्ञान के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है तथा अचेतन प्रकृति द्वारा किये गये कार्यों का कर्त्ता अपने को समझने लगता है। गीता में इसे इस प्रकार बतलाया गया है—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥'[६०]

हिन्दू धर्म मे मोक्ष प्राप्ति करने के लिए मुख्यतया कर्मो को भी दो श्रेणियो में विभाजित किया गया है—

१. सकाम कर्म

२. निष्काम कर्म

१. सकाम कर्म

राग द्वेष तथा मोह से संचालित होने वाला कर्म सकाम कर्म कहलाता है। सकाम कर्म बन्धन का जनक होता है उदाहरणार्थ हम किसी कामना या इच्छा से प्रेरित होकर ही शारीरिक या मानसिक कर्म करते हैं। स्त्री, पुत्र, धन आदि सभी के लिए किए गये कर्म सकाम कर्म है। मनुष्य कामना से प्रेरित होकर अथवा फलाकांक्षा के वशीभूत हो कर्म करता है तथा उसका शुभ अथवा अशुभ फल भोगता है फिर भी उसे सन्तोष नही होता वह पुनः कामना से आक्रान्त होकर कर्म करता है और फल भोगता है। इस प्रकार कर्म की अनवरत धारा चलती है। इसी कर्म बन्धन के कारण ही हम नाना योनियों मे भ्रमण करते रहते हैं। श्वेताश्वर उपनिषद् में सकाम को ही जीव के नाना योनियों मे भ्रमण करने का कारण बतलाया गया है।[६१]

मीमासको का मत है 'स्वर्गकामी यजेत्' अर्थात् जो स्वर्ग चाहता है वह यज्ञ करे। इस प्रकार उनके मतानुसार स्वर्ग अर्थात् नित्य, निरतिशय आनन्द की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। यह भी सकाम कर्म का ही उदाहरण है क्योकि स्वर्गकामी यजेत से स्पष्ट है कि यज्ञ का फल स्वर्ग शब्द निश्चय ही मनुष्य को बन्धन की तरफ ले जाता है। सकाम कर्म से मनुष्य का सस्कार नष्ट नही होता और उसे पुन: इस विश्व में जन्म लेना पड़ता है अत: स्पष्ट है कि सकाम कर्म से मनुष्य को आनन्द की अनुभूति हो सकती है, स्वर्ग प्राप्त हो सकता है परन्तु मोक्ष नही मिल सकता।

२. निष्काम कर्म

इस प्रकार के कर्म मे कामनाओ का अभाव रहता है। यह कर्म बन्धन का उच्छेदक है। मनुष्य को मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है जब वह निष्काम भाव से कर्म करे। इस कर्म मे मनुष्य तृष्णा रजित होता है। तृष्णा के अभाव मे मनुष्य कर्म करते हुए कर्मफल का कारण नही बनता। निष्काम कर्म का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण श्रीमद्‌भगवद्‌गीता मे है जहॉ भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते है— 'तेरा कर्म करने मे ही अधिकार है उसके फलो मे कभी नही। इसलिए तू कर्मो के फल का हेतु न हो तथा मेरी उसमे आसक्ति भी न हो।'[६२]

निष्काम कर्म मे मनुष्य को फल की इच्छा नही होती और वह समस्त बन्धनो से मुक्त रहता है। उसकी सारी कामनाये नष्ट हो जाती है जिससे उसके पूर्व जन्म के समस्त सस्कार नष्ट हो जाते हैं। संस्कारो के नष्ट हो जाने से कर्मो का बन्धन छूट जाता है और जन्म मृत्यु का चक्र सदा के लिए समाप्त हो जाता है इस प्रकार उसे मोक्ष प्राप्त होता है। 'प्रकरण पचिका' के अनुसार मोक्ष मे आत्मा, शरीर, इन्द्रिय मन सभी बन्धनो से मुक्त हो जाता है और बन्धन का नाश होने से मनुष्य कभी भी जन्म-मरण के जाल मे नही फँसता।

निष्काम कर्म के दो अंग है, कर्त्तापन या ममता का त्याग, आसक्ति या तृष्णा का त्याग। किसी भी कायिक या मानसिक कर्म में कर्तृत्व (मै इस कार्य का कर्त्ता हूँ) का अभाव और कामना का अभाव (निस्पृहभाव से कर्म करना) यदि रहे तो वह कर्म निष्काम कर्म होता है। जिस प्रकार भूजे हुए बीज मे वपन शक्ति नही होती उसी प्रकार निष्काम कर्म में बन्धन की शक्ति नही होती है।

निष्काम कर्म का अर्थ कुछ लोग काम्य कर्मो का त्याग समझते है। उदाहरणार्थ स्त्री, पुत्र, धन आदि के लिए यज्ञ, दान, तप आदि काम्य कर्म है। इनका त्याग ही काम्य कर्म का त्याग है। कुछ लोग निष्काम कर्म से निद्धि कर्मो का त्याग समझते हैं। उदाहरणार्थ चोरी, व्यभिचार, झूठ आदि कर्मों को न करना। संसार के सभी कर्मों मे ममता और आसक्ति का सर्वथा त्याग नही वरन् कर्मफल का त्याग किया जाता है। कर्मयोग अकर्मण्यता की शिक्षा नही देता। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि निष्काम कर्म ईश्वरार्थ कम है। निष्काम कर्म करने वाला योगी ही परमात्मा को प्राप्त करता है यही कर्मयोग का लक्ष्य है। अनासक्त कर्म ही परमात्मा तक पहुँचने का सोपान या मार्ग है।[६३]

४. भक्तियोग

भक्ति शब्द 'भज्" धातु से बना है जिसका अर्थ सेवा करना है। भक्ति या सेवा के द्वारा ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित

करने का नाम ही भक्ति योग है। देवर्षि नारद के अनुसार 'भगवान् के प्रति 'उत्कृष्ट प्रेम' ही भक्ति है।'[६४] शाण्डिल्य ने 'परमात्मा के प्रति सर्वोच्च अभिलाषा- को भक्ति कहा है।[६५] इसी अभिलाषा के फलस्वरूप ही भक्त ईश्वर के सामने आत्मसमर्पण करता है। योग सूत्रो के अनुसार भक्ति ईश्वर प्राणिधान है इसके कारण ही भक्त का हृदय परमात्मा के प्रति श्रद्धा से ओत-प्रोत हो जाता है इस भक्ति द्वारा तत्व का ज्ञान स्वत: प्राप्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत् मे महर्षि व्यास ने कहा है कि 'तत्व में अर्थात् भगवान् में श्रद्धा रखने वाले मुनि जन ज्ञान और वैराग से युक्त भक्ति द्वारा, अपने हृदय मे उस परम तत्व परमात्मा का अनुभव करते है।'[६६] इस अनुभव से वह प्रेम-विभोर हो अपने भगवान् को ही सर्वत्र देखने लगता है। ईश्वर के प्रति असीम अनुराग हो जाने पर वह सब कुछ भूल जाता है और उसके चरणो मे अपने आप को समर्पित कर देता है। इसी श्रद्धा और भक्ति के कारण ईश्.वर उसे शरणागति प्रदान करता है। मोक्ष प्राप्ति हेतु यह सबसे सुगम मार्ग है। इस मार्ग मे किसी व्यक्ति के लिए न तो कोई अधिकार का प्रश्न है और न इसमे पतन का ही भय रहता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए महर्षि कपिल ने माता देवहूति से कहा है कि 'योगियो के लिए ब्रह्म प्राप्ति की सिद्धि के लिए सर्वात्मा भगवान् में की हुई भक्ति के समान और कोई मगलमय मार्ग नही है।'[६७] इतना ही नही भक्ति के महत्व को स्पष्ट करते हुए भक्तवर प्रह्लाद ने भी कहा है कि 'देवता, दैत्य, मनुष्य, यज्ञ अथवा गन्धर्व आदि कोई भी क्यो न हो, जो भगवान के चरण कमलो का सेवन करता है वह हमारे ही समान कल्याण का भाजन हो जाता है।'[६८] गीता के नवे अध्याय मे भक्तिमार्ग के विषय मे यों कहा गया है 'यह विद्याओ मे प्रमुख है, रहस्यो मे प्रमुख है, यह अति पवित्र है, प्रत्यक्ष फलदायक है। धर्मयुक्त है, अविनाशी है तथा बड़ा सुगम है।'[६९]

भक्ति के भेद

हिन्दू धर्म ग्रन्थो मे भक्ति के भेदो के बारे मे विद्वानों मे मतभेद रहा है। श्रीमद्भागवत् मे भक्ति के ९ प्रकार[७०] बतलाये गये हैं जो इस प्रकार हैं—

१. विष्णु के विषय मे सुनना।

२. विष्णु का कीर्तन करना।

३. स्मरण करना।

४. पद सेवन करना (विष्णु मूर्ति की सेवा करना)

५. अर्चन करना (पूजा करना)

६. बन्दन करना (नतमस्तक को प्रणाम करना)

७. दास्य भाव ग्रहण करना (अपने को विष्णु का दास समझना)

८. विष्णु को सखा के रूप मे मानना।

९. आत्म निवेदन (उन्हें अपने आप को समर्पित कर देना)

नारद भक्ति सूत्र के अनुसार भक्ति ११ प्रकार की होती है। यथा गुणमाहत्म्य, पूजा, रूप, स्मरण, दास्य, सख्य, वात्सल्य, कान्त, आत्म निवेदन, तन्मयता, विरह की ११ आसक्तियाँ।[७१] बृद्धहरीत स्मृति मे भी भक्ति के ९ रूपो का ही वर्णन मिलता है।[७२]

भक्ति के सन्दर्भ मे मनुष्य को यह नही सोचना चाहिए कि भक्ति के ये उपर्युक्त भेद एक ही समय प्रयोजित होते है। कोई भी व्यक्ति इनमे से किसी एक का सहारा लेकर ईश्वर का सच्चा भक्त हो सकता है और मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[७३]

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता मे भक्ति के बारे मे भगवान् श्रीकृष्ण का विचार भी उल्लेखनीय है जहाँ उन्होंने कहा है कि 'उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी[x], आर्त[o], जिज्ञासु[+], एवं ज्ञानी ऐसे चार प्रकार के मुझको भजते है।[७४] श्रीमद्‌भगवद् गीता के इस श्लोक से भक्ति के चार प्रकार स्पष्ट होते है परन्तु गीता मे भी केवल चार ही प्रकार के भक्ति का वर्णन नहीं है। गीता मे भी कुल नवधा भक्ति है। नवधा भक्ति के सब नाम एक स्थान पर नही है परन्तु उन्हे गीता ९/१४, २६, २७ श्लोको से स्पष्ट किया जा सकता है।

भक्ति का स्वरूप

भक्त को ईश्वर का साक्षात्कार करने हेतु उसका सदैव स्मरण करना चाहिए। जब चित्त ईश्वर मे लग जाता है और उसकी दिव्य प्रभा से आलोकित हो जाता है तब उसके लिए अन्य समस्त वस्तुओ का आकर्षण समाप्त हो जाता है फलतः उसका सर्वप्रिय आधार ईश्वर ही बन जाता है। चित्त की इस स्थिति को हिन्दू धर्म मे भक्ति कहा गया है। बुद्धि ही भक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है।[७५] बुद्धिपरक होने के कारण भक्ति को विशेष प्रकार का ज्ञान कहते है।[७६] भक्ति ज्ञान की पराकाष्ठा है। ज्ञान की चरम परिणति ईश्वर के प्रति परम प्रेम में होती है। इसे ही भक्ति कहते है। ईश्वर के प्रति भक्त का प्रेमपूर्ण ब्रह्मज्ञान अपेक्षित है। परन्तु केवल इस ब्रह्मज्ञान से ही भक्ति सम्भव नही है। तत्वबोध प्राप्त किये बिना कोई भी व्यक्ति भक्ति का अधिकारी नही हो सकता। रामानुज ने ध्यान, उपासना, वेदना (ज्ञान) को भक्ति का पर्यायवाची कहा है। जीव की भक्ति से प्रसन्न हो परमात्मा उसे मुक्ति प्रदान करते है। उपनिषदो मे कहा गया है कि वही देव सर्वदा उपास्य है।[७७] छान्दोग्य उपनिषद् ने एक अवतरण में कहा गया है कि अमरत्व का लाभ केवल उपासना से ही सम्भव है उपासना से भक्त उपास्य देव के लोक मे पहुँच जाता है और उस लोक में सुख प्राप्त करता है।[७८]

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि हिन्दू धर्म किसी एक पैगम्बर पर आधारित धर्म नही है वरन् यह विभिन्न मत-मतान्तरो का सम्मिलन है। अतः यहाँ भक्ति के बारे में भी विद्वानो में मतैक्य नहीं है। एक ही ईश्वर को विभिन्न नामो से सम्बोधित किया जाता है। कोई शिव कहता है तो कोई विष्णु, कुछ लोग ब्रह्म तो कुछ लोग कृष्ण आदि नामो से सम्बोधित करते हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए 'सुभाषित रत्न भण्डागार' में कहा गया है— 'जो हरि त्रैलोक्यनाथ हैं, जिनको शैव लोग शिव के रूप में पूजते हैं, वेदान्ती लोग ब्रह्म के रूप में, बौद्ध, बुद्ध के रूप मे, प्रमाणपटु (ज्ञान के साधन में प्रवीण) नैयायिक लोग कर्त्ता के रूप में, जैनमतावलम्बी 'अर्हत्' के रूप में और मीमांसक लोग कर्म के रूप

मे पूजते है, हम लोगो को वान्छित फल प्रदान करे।[७९]

कहने का तात्पर्य यह है कि परम तत्व (ईश्वर) की भक्ति भी विभिन्न सम्प्रदायो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। कोई ईश्वर के प्रति अपने को समर्पण कर देते है तो कोई उसकी शरण में जाते है।

अनन्यचित्त

भक्ति योग का मुख्य तात्पर्य है अनन्यभाव परमपूज्य परमात्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे का भाव मन मे न लाना ही अनन्यभाव कहलाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्वभूत है और जिस सच्चिदानन्दधन परमात्मा से यह समस्त जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन, अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है।[८०] सर्वाधार, सर्वान्तिर्यामी, सर्वशक्तिमान परमेश्वर मे ही सब कुछ समर्पण करके सदा सन्तुष्ट रहना और सब प्रकार से अनन्य प्रेमपूर्वक नित्य निरन्तर उनका स्मरण करना ही अनन्य भक्ति है। इसके द्वारा साधक अपने उपास्य देव परमेश्वर तक पहुँच सकता है।

गीता मे अनन्य भक्ति को अनन्यचित्त कहा गया है अनन्यचित्त को ईश्वर की प्राप्ति अवश्य होती है। भगवान् कहते है 'जो पुरुष मुझमे अनन्यचित्त होकर सदा निरन्तर मुझ परमेश्वर को स्मरण करता है उस नित्य निरन्तर योगी के लिए मै सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।[८१] तात्पर्य यह है कि जिसका चित्त अन्य किसी भी वस्तु मे न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेम से परमेश्वर मे ही लगा रहता है वही अन्य चेत्ता है वह सर्वदा ईश्वर के स्वरूप, नाम, गुण लीला आदि का चिन्तन और स्मरण करते हुए ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। अनन्य भक्ति का स्वरूप बतलाते हुए गीता मे कृष्ण ने कहा है कि जो पुरुष केवल मेरे ही लिए सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मो को करता है, मेरे परायण है मेरा भक्त है अनासक्त है और सभी प्राणियो मे वैरभाव से रहित है वही अनन्यभक्ति सम्पन्न पुरुष मुझको प्राप्त होता है।[८२] ईश्वर को प्राप्त पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है।

शरणागति

भक्ति योग के लिए अनन्यचित्त होने के साथ-साथ भगवान् में शरणागति भावना भी आवश्यक है। शरणागति का शाब्दिक अर्थ शरण में जाना (आना) है। शरण शब्द का प्रयोग तीन भिन्न-भिन्न अर्थो मे किया जा सकता है—

१. शरण का अर्थ एक ऐसा स्थान है जो निरापद एवं सुखप्रद है। संसार दु:खों का सागर होने के कारण एक भयावह स्थान है। इसके विपरीत ईश्वर लोक समस्त सुखों से भरपूर एक शान्तिप्रद स्थान है जहॉ जाकर जीव दु:खो से अन्तिम रूप से छुटकारा पा जाता है।

२. शरण शब्द उस क्रिया का वाचक है जिसके द्वारा उपर्युक्त प्रकार के निरापद स्थान तक पहुॅचा जाता है।

३. शरण शब्द स्वयं ईश्वर का भी वाचक कहा जाता है क्योंकि ईश्वर ही वह शक्तिशाली सत्ता है जिसे उस स्थान का एकमात्र स्वामी मानते हैं जो संसार से पूर्णतया भिन्न है और जहॉ किसी प्रकार के क्लेश, भय अथवा दु:ख का समावेश नहीं है।

अब हमे यह समझना आवश्यक है कि शरण के किसी स्थान विशेष का वाचक होने का अभिप्राय यह नही है कि शरणागति मृत्युलोक से वैकुण्ठलोक मे पहुँचने का नाम है । वास्तव मे शरणागति जीवात्मा की एक विशेष मनोदशा का ही वाचाक है जब जीव ईश्वर को परम लक्ष्य के रूप में जान लेता है और उसे ही मोक्ष का सर्वोत्तम उपाय समझने लगता है तब वह शरणागति की मनःस्थिति मे होता है । शरणागति का महत्व स्पष्ट करते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

सर्वधर्मान् परितज्य मामेक शरणं ब्रज ।
अहं त्वां सर्वपपिभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[८३]

शरणागति को प्रपत्ति भी कहते हैं । भक्ति के लिए प्रपत्ति अथवा शरणागति की आवश्यकता पडती है । प्रपत्ति को प्राप्त करने वाला व्यक्ति अनन्यगति होता है अर्थात् वह व्यक्ति भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी मे अपनी गति (मुक्ति) नही मानता । वह अपने को न तो धार्मिक समझता है, न आत्मवेत्ता और न भक्त । वह भगवान में अनन्य गति मानता है ।[८४] अर्थात् वह ईश्वर को ही अपना रक्षक और उद्धारक मानता है । यही आत्मसमर्पण है । आत्म समर्पण के तीन प्रमुख भेद हिन्दू धर्म मे माने गये है जो निम्न है—

अ. फल समर्पण

भक्त फल का त्याग करता है । भगवान् की प्रसन्नता ही उसका फल है । इसी सन्दर्भ मे गोपियो को सर्वोत्कृष्ट भक्त की सज्ञा दी जाती है ।

ब. भार समर्पण

भक्त अपनी रक्षा का भार भगवान् पर छोड़ देता है वह पाप-पुण्य आदि की भावना से रहित हो जाता है । भक्त प्रह्लाद ऐसे समर्पित भक्त थे ।

स. स्वरूप समर्पण

भक्त अपने स्वरूप का त्याग कर भगवान् के सम्मुख आत्म समर्पण कर अपने समस्त अहंकार को भगवान् के स्वरूप मे सम्मिलित कर देता है और वह अपने को भगवान् से पृथक नही समझता ।

हिन्दू धर्मशास्त्रो मे शरणागति के छः अंग माने गये है ।[८५]

१. भगवान् के अनुकूल विचार, संकल्प और कर्म करना ।

२. भगवान् के प्रतिकूल विचार, संकल्प और कर्म न करना ।

३. भगवान् की रक्षा में विश्वास करना ।

४. भगवान् से रक्षा की प्रार्थना करना ।

५. भगवान् के चरणों में अपने को समर्पण करना ।

६. भगवान् के प्रति दीन भाव का प्रदर्शन करना ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भगवान् ही परम गति है। वही एकमात्र भर्त्ता और स्वामी है।

मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष के स्वरूप का विवेचन करते समय ऋग्वेद की यह उक्ति 'तद्विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:'[८६]को समझना आवश्यक प्रतीत होता है। इस मन्त्र मे प्रयुक्त सूरि शब्द का प्राय: अर्थ विद्वान् से लगाया जाता है। सायण ने अपने भाष्य मे इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है 'सूरय: विद्वांस: ऋत्विगादय: विष्णो: सम्बन्धि परमं उत्कृष्टं तत् शास्त्र प्रसिद्धं पदं स्वर्गस्थानम् शास्त्रदृष्टया सर्वदा पश्यन्ति।'[८७] पांचरात्र जो हिन्दू धर्म का एक प्रमुख सम्प्रदाय है मे 'सूरि शब्द का अर्थ है नित्य जीव'[८८] जीव तीन प्रकार के होते है—

१. बद्ध जीव

वे जीव जिनका सांसारिक जीवन अभी समाप्त नही हुआ है। इनमें ब्रह्मा से लेकर कीडे मकोड़े तक के जीव सम्मिलित हैं ये चौदहो भुवनो मे रहते है।

२. मुक्त जीव

ये भी अनेक है तथा सब लोकों मे इच्छानुसार विचरण करते है।

३. नित्य जीव

ये जीव कभी संसार में नही जाते। ये सदैव ईश्वर के अनुकूल आचरण करने वाले तथा सर्वज्ञ है।

वेदात्त देशिक ने भी उपर्युक्त श्रुति मे प्रयुक्त सूरि शब्द का अर्थ इसी प्रकार नित्य जीव के अर्थ में किया है।[८९] उपरोक्त श्रुति में प्रयुक्त परमपद का अर्थ आचार्य सायण ने विष्णु से सम्बद्ध उत्कृष्ट स्वर्गस्थान किया है।[९०] परन्तु पान्वरात्र सम्प्रदाय में इस शब्द का अर्थ वैकुण्ठलोक है।[९१] विष्णु के परमपद की प्राप्ति मोक्ष है। अर्थात् इस अप्राकृतिक देश विशेष की प्राप्ति परिपूर्ण आनन्द का अनुभव तथा उस देश से अपुनरावृत्ति ही मोक्ष है।[९२] लक्ष्मीतन्त्र मे इसे इस प्रकार व्यक्त किया गया है 'करोड़ो सूर्यो के समान प्रकाशमान, सहस्त्रों पूर्ण चन्द्रमा के समान सांसारिक बन्धनो से मुक्त लोग जिस स्थान मे विराजमान रहते है इन्द्रिय आदि विकारो से रहित आहार आदि से रहित निर्मल तथा षाडगुण्य शरीर वाले एकान्ती लोग जहाँ हमे (लक्ष्मीनारायण) देखते है वही नित्य सिद्ध सर्वदा सर्वदर्शी सूरिगण परम वैष्णव रूप का साक्षात्कार करते रहते हैं। दूसरे शब्दो मे परमात्मा का सतत् अनुभव ही मोक्ष है। इसी को अमृतत्व अथवा अमरत्व भी कहते है। उपनिषदो में अमरत्व की दो व्याख्याएँ मिलती हैं— (१) तादात्म्य (२) सामीप्य, तादात्म्य के अनुसार ब्रह्मात्मैकत्वभाव ही मोक्ष है। सामीप्य के अनुसार परमात्मा सामीप्य ही मोक्ष है। इस पकार स्पष्ट है कि मोक्ष के दो स्वरूप हुए—

(१) तादात्म्य

आत्मा का ब्रह्म से तद्रूप हो जाना ही मोक्ष है। शंकराचार्य आदि अद्वैतवादी मोक्ष को ब्रह्म तादात्म्य ही मानते हैं। जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई अपने नाम और रूप को छोड़कर समुद्र में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम

और रूप से मुक्त होकर पर से भी पर दिव्य से भी दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।[९४] यही अभेद दृष्टि है। आत्मा और ब्रह्म की एकता है। कठो० मे कहा गया है कि जो जगत् मे विभेद देखने वाला मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। अभेद दृष्टि से ही अमरत्व की प्राप्ति होती है। छान्दोग्य उपनिषद् मे बताया गया है कि मृत्तिका के एक टुकडे के ज्ञान से सभी मृत्तिका निर्मित वस्तुओ का ज्ञान हो जाता है क्योकि सभी वस्तु मृत्तिका के विकार मात्र है। लोहे के एक खण्ड के ज्ञान से लोहे की बनी सभी वस्तुओ का ज्ञान हो जाता है। क्योकि सभी लोहे के विकार है। उसी प्रकार ब्रह्म के किसी रूप के ज्ञान से ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म ही परमतत्व है।[९५] आत्मा और ब्रह्म मे पूर्णतः अभेद, तादात्म्य है। जब जीवात्मा को ब्रह्म से तादात्म्य का अनुभव हो जाता है तो वह एक अद्वैत्वरूप हो जाता है। जीवात्मा और ब्रह्म मे व्यवहारिक दृष्टि से भेद तथा पारमार्थिक दृष्टि से अभेद है। श्वेताश्वर उपनिषद मे एक स्थल पर कहा गया है कि आत्मा हस के समान इस ब्रह्मचक्र मे भ्रमण करता है क्योंकि वह अपने को और ब्रह्मचक्र के संचालक को भिन्न समझता है परन्तु ब्रह्म से तद्रूप होने पर अमरत्व को प्राप्त करता है।[९६] वृहदारण्यक उपनिषद मे कहा गया है कि जो देवता को अपने से अलग मानकर उपासना करता है वह उसका पशु है।[९७] तैत्तरीय उपनिषद में तो मनुष्य के अन्तस्थित तथा सूर्य के अन्तःस्थित पुरुष के एकत्व का प्रतिपादन है।[९८] छान्दोग्य उपनिषद मे तो आत्मा और ब्रह्म के एकत्व का उपदेश देते हुए श्वेतकेतु को 'तत्वमसि' महावाक्य बतलाया गया है।[९९]

सामीप्य

कई स्थलो पर परमात्मा का सामीप्य भी मोक्ष माना गया है। एक स्थल पर बतलाया गया है कि अमरत्व देवलोक की प्राप्ति है जिसमे भक्त भगवान् के साथ सुखभोग करता है।[१००] मुण्डकोपनिषद मे एक स्थल पर यह उल्लेख किया गया है कि 'जब भक्त रुक्मवर्ण पुरुष का दर्शन करता है जो सर्वकर्त्ता सर्व नियन्ता तथा संसार का मूल कारण है तो सभी पापो-पुण्यो से मुक्त होकर निरंजन ब्रह्म के समीप हो जाता है।[१०१] अतः इन मन्त्रो से ज्ञान होता है कि परमात्मा सामीप्य ही मोक्ष है। आचार्य रामानुज इसी प्रकार के मोक्ष को स्वीकार करते है।

मोक्ष के स्वरूप के सन्दर्भ में हम यह बतला देना भी आवश्यक समझते हैं कि हिन्दू धर्म मे विभिन्न मतों के अनुसार मोक्ष के स्वरूप का का अलग-अलग विवेचन मिलता है। इतना ही नहीं मीमांसा दर्शन मे तो मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर के मत मे भी थोड़ा अन्तर है। प्रभाकर के अनुसार ज्ञान, सुख दुःख आदि आत्मा के विशेष गुण है जब इस विशेष गुणों का नाश हो जाता है तब आत्मा को अपनी स्वाभाविक स्थिति ज्ञात हो जाती है यही मोक्ष की अवस्था है। परन्तु कुमारिल इसे स्वीकार नही करते उनके अनुसार यदि मोक्ष में किसी प्रकार का आनन्द ही नही तो फिर उसकी प्राप्ति के लिए कोई क्यो प्रयत्न करेगा? कुमारिल ने मोक्ष के सन्दर्भ में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है 'दुःख का अत्यन्त नाश हो जाने पर आत्मा में पहले से विद्यमान रहने वाले सुख का मन के द्वारा उपभोग अथवा अनुभव होने लगता है। यही मुक्तावस्था है।'[१०२] इस प्रकार कुमारिल के मतानुसार मोक्ष मे आनन्द का अनुभव होता है। इसी प्रकार वेदान्तियों में भी मतभेद है जिसका उल्लेख किया जा रहा है।

पारमार्थिक दृष्टि से अद्धैत वेदान्त ब्रह्म और जीव मे कोई भेद नही मानता। परमार्थत: जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नही। 'जब तक स्थाणु मे पुरुष बुद्धि के समान द्वैतलक्षणा अविद्या का नाश नही होता और जीव अपने कूटस्थ, नित्य दृक् स्वरूप को पहचानकर 'अह ब्रह्मास्मि' का अनुभव नही करता तब तक जीव का जीवत्व है।[१०३] परन्तु जब श्रुति के द्वारा उसे यह बोध हो जाता है कि वह देहेन्द्रियमनोबुद्धि का संघात नही अपितु चैतन्यमात्रस्वरूप आत्मा है तब अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानकर शरीरादि के अभिमान से ऊपर उठकर कूटस्थ नित्य दृक् स्वरूप आत्मा हो जाता है। श्रुतियो मे कहा गया है कि जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है वह परम ब्रह्म ही हो जाता है।[१०४] मिथ्या ज्ञान के निवृत्ति हो जाने पर चैतन्य स्वरूप आत्मा वैसे ही प्रकाशित होता है। जैसे मलिनता के दूर हो जाने पर सुवर्ण अथवा मेघशून्य रात्रि मे तारागण चमकते है।[१०५] इसी प्रकार अविद्या की निवृत्ति होने पर जीव को विवेकज्ञान हो जाता है और वह अशरीरी एव मुक्त हो जाता है। जीव का सशरीरत्व (बन्ध) अविवेक का तथा अशरीरत्व (विवेक) का ही परिणाम होता है। पारमार्थिक दृष्टि से अशरीरी और सशरीरी मे कोई भेद नही होता। अतएव मोक्ष पारमार्थिक है। वह कूटस्थ, नित्य, व्योमवत, सर्वव्यापी, सर्वविक्रयारहित, नित्यतृप्त, निरवयव एवं स्वयं ज्योतिस्वभाव है। धर्म, अधर्म, कार्य, भूत, भविष्य, वर्तमान आदि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता।[१०६] इसका किसी देश काल से कोई सम्बन्ध नही रहता। इसी लोक तथा इसी काल मे मोक्ष सम्भव है।

मोक्षावस्था में जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है तथा जीव और ब्रह्म मे कोई भेद नही रहता। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के अविभागत्व के सम्बन्ध मे विचारको मे मतभेद है। आचार्य जैमिनी के मतानुसार मुक्त पुरुष ब्रह्मरूप हो जाता है और ब्रह्म के अपहतपाप्मत्व, सत्य संकल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व आदि गुणों की प्राप्ति उसे होती है।[१०७] परन्तु जैमिनी के इस सिद्धान्त से औण्डुलोभि सहमत नही है। उनके मत मे सत्यसंकल्पत्वादि गुण औपाधिक है। अत: ये आत्मा का स्वरूप नही हो सकते। चैतन्य की आत्मा का स्वरूप है'। अत: मोक्षावस्था मे आत्मा के चैतन्यमात्र स्वरूपत्व की अभिनिष्पत्ति के सिद्धान्त को ही वे ठीक मानते हैं।[१०८] इस प्रकार स्पष्ट है कि औण्डुलोमि के अनुसार मुक्तात्मा को ब्रह्म क्रे सत्यसंकल्पत्वादि गुणो की प्राप्ति नही होती। यद्यपि उपरोक्त दोनो मतो मे अन्तर हो तथापि आचार्य वादरायण ने इनमे सामजस्य स्थापित करते हुए कहा है कि 'जैमिनी का मत व्यवहारिक दृष्टि से ठीक है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से आण्डुलोमि का मत मान्य है।[१०९] आचार्य रामानुज के मत में भी जीव और ब्रह्म का भेद वास्तविक है तथा मोक्षावस्था मे भी यह भेद बना रहता है। परन्तु शंकराचार्य के मत में जीव और ब्रह्म का भेद पारमार्थिक नही अपितु अविद्याजन्य है। अविद्या के दूर होते ही जीव ब्रह्म हो जाता है। अविद्या के समाप्त हो जाते ही जीव ब्रह्म हो जाता है। जीव और ब्रह्म के अभेद के पारमार्थिक होने के कारण अविद्या निवृत्ति के अनन्तर जब जीव ब्रह्मरूप हो जाता है तब मुक्तात्मा और ब्रह्म के पूर्वोक्त भेद का उपपादन कैसे किया जा सकता है ? तथा जब जीव ब्रह्म रूप अथवा शिवरूप हो जाता है तब उसके जगद्व्यापार असामर्थ्य का कारण क्या है ? इस शंका का समाधान आचार्य शकर ने इस प्रकार कहकर किया है कि जब जीव की अविद्या पूर्णतया नष्ट हो जाती है तब वह परममुक्ति की दशा को प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थिति में जीव, जगत् कर्त्ता इत्यादि का भेद स्वत: समाप्त हो जाता है और जब जीव की जीव-मुक्ति अवस्था रहती है तब मुक्तात्मा को जगत व्यापार

के अतिरिक्त अन्य सत्यसकल्पत्वादि ऐश्वर्यो की प्राप्ति होती है । इस प्रकार मुक्तात्मा तथा परमात्मा मे भोगमात्र की समानता रहती है । जगत की उत्पत्ति आदि का सामर्थ्य तो परमात्मा मे रहता है, मुक्तात्मा मे नही । परन्तु जब जीव पूर्णतया अविद्यानिवृत्त हो जाता है और परममुक्त हो जाता है तब उसमे और ईश्वर मे कोई अन्तर नही रह जाता क्योकि जीव और ईश्वर का भेद मिथ्याज्ञानकृत है वस्तुकृत नही ।[११०]

हिन्दू धर्म में मोक्ष प्राप्ति हेतु सुगम मार्ग

हिन्दू धर्म मे मोक्ष प्राप्ति हेतु राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग इन चार प्रमुख सिद्धान्तो का विवेचन मिलता है । इन चारो मार्गो के अतिरिक्त भी चर्या, क्रिया इत्यादि मार्गो का उल्लेख हिन्दू धर्मशास्त्रो मे मिलता है । अब प्रश्न उठता है कि एक व्यक्ति सभी मार्गो का अनुसरण करने पर ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है अथवा किसी एक मार्ग का अनुसरण करने से ही उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है ? हम जानते है कि मुक्ति का उद्देश्य अज्ञान पाप तथा दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति तो है ही परन्तु परम पद का पुनर्लाभ भी है । आत्मा मुक्त होकर ब्रह्म में लीन नही होता किन्तु ब्रह्म रूप एव ब्रह्म रस होता है तो आत्मा के इस ब्रह्म रूप एवं ब्रह्म रस होने के लिए कौन-सा मार्ग सुगम है ? इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है । उपरोक्त चारों मार्ग हमे एक ही लक्ष्य तक पहुँचाते हैं किन्तु सब के पहुँच के ढग अलग-अलग है । मोक्ष प्राप्ति के इन चारो मार्गो का वर्णन हम कर चुके है । हम योग ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म की चाहे जिस पद्धति का अनुसरण करे, गन्तव्य लक्ष्य एक ही है जिसे हम 'सर्वोपरि ब्रह्म के साथ जीवात्मा का संयोग' कह सकते है । जब मन पवित्र हो जाता है और अहंकार नष्ट हो जाता है तो मनुष्य को सर्वोपरि ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त हो जाता है । यदि हम मानव की सेवा से प्रारम्भ करें तो भी हम सर्वोपरि ब्रह्म के साथ ऐक्य सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं । न केवल कार्य तथा चेतना के विषय में अपितु जीवन ओर सत के रूप मे भी । प्रेम भक्ति के परमानन्द मे परिणत हो जाता है जहॉ पहुँचकर आत्मा और ईश्वर एक हो जाते हैं । चाहे हम किसी भी मार्ग का अवलम्बन करके पहुँचे, अन्त मे हमे उसका दर्शन ही मिलता है ।

आध्यात्मिक यथार्थता की प्राप्ति का उपाय स्वरूप ज्ञान आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि रूपी उस ज्ञान से भिन्न है जो आदर्श है । इस सम्बन्ध मे आचार्य शंकर का कथन है कि 'मोक्ष अथवा ईश्वर का साक्षात्कार सेवा अथवा भक्ति का कर्म नही है और इसीलिए बोध भी नही है, यद्यपि ये मोक्ष प्राप्ति के साधन अवश्य हो सकते हैं । मोक्ष एक अनुभव अथवा सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन है । भिन्न-भिन्न मार्गो का अवलम्बन ईश्वर प्राप्ति के लिए ही किया जाता है ।'[१११]

ईश्वर प्राप्ति के सन्दर्भ मे भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है कि 'यदि तू मन को मेरे मे अचल स्थापन करने के लिए समर्थ नही है तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप[X] योग के द्वारा मेरे को प्राप्त होने के लिए इच्छा कर । यदि तू ऊपर कहे हुए अभ्यास में भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिए कर्म करने के ही परायण[XX] इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मों को करता हुआ भी मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा और यदि इसको भी करने के लिए असमर्थ है तो जीते हुए मन वाला और मेरी प्राप्ति रूप योग के शरण हुआ सब कर्मों के फल का मेरे लिए त्याग कर ।'[११२] गीता के इसी अध्याय मे आगे पुन: कहा गया है कि—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्धयानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥[११३]

अर्थात् निस्सन्देह निरन्तर कर्म करने की अपेक्षा ज्ञान उत्तम है, ध्यान ज्ञान से उत्तम है; कर्म फल का त्याग ध्यान से ही उत्तम है कर्म फल के त्याग से शान्ति प्राप्ति होती है । इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक उपाय को कभी न कभी प्रधान रूप मे माना गया है । अत: किसी भी मार्ग को प्रधान और किसी को गौण रूप मे स्वीकार कर यह कहना सर्वदा अनुपयुक्त ही होगा कि कौन-सा मार्ग सुगम है क्योकि यह उस व्यक्ति की कार्य क्षमता पर निर्भर रहता है जो मोक्ष प्राप्ति करना चाहता है क्योकि कोई कर्म मार्ग द्वारा मोक्ष (ईश्वर प्राप्ति) प्राप्त करता है तो कोई ज्ञान मार्ग द्वारा तो कुछ लोग भक्ति के माध्यम से ही मोक्ष प्राप्त करते है । पर हॉ इतना जरूर है कि ज्ञान का कार्य केवल अज्ञान का निवारण है और अज्ञान का निवारण होने पर व्यक्ति को परमतत्व का ज्ञान हो जाता है । इस सन्दर्भ में आचार्य रामानुज का कहना है कि अज्ञान तो भावात्मक स्वीकार किया गया है अत: इसका विनाश कैसे सम्भव है ? किसी भावात्मक वस्तु का विनाश ज्ञान मात्र से नही हो सकता । जीव का बन्धन भावात्मक है, कर्मजन्य है । बन्धन का विनाश केवल ज्ञान से नही हो सकता वरन् कर्म भक्ति, ज्ञान प्रसाद से इसका विनाश सम्भव है । जीव का बन्धन तभी समाप्त होता है जब सभी कर्म क्षय हो जाते है तथा जीव की भक्ति से परमात्मा प्रसन्न हो उसे मुक्ति प्रदान करता है ।'[११४]

इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य रामानुज भक्ति को ही मोक्ष प्राप्ति हेतु सुगम समझते है जबकि शंकराचार्य ज्ञान मार्ग से ही मोक्ष प्राप्ति करना सुगम समझते है ।

यतीन्द्र दीपिका मे स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि ज्ञान का अर्थ शुद्ध ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान नही जो मोक्ष का साधन अद्धैत मत मे माना गया है वरन् ईश्वर मे भक्ति प्रपत्ति ही मोक्ष का साधन है ।[११५]

परन्तु भक्ति के सन्दर्भ मे भी यह प्रश्न उठता है कि भक्ति किसकी की जाय जब तक हमें यह ज्ञान नही हो जाता तब तक हम भक्ति कर ही नहीं सकते । अत: भक्ति के लिए ज्ञान की भी आवश्यकता पड़ती है । इसीलिए आचार्य रामानुज भक्ति को ज्ञान का ही रूप मानते हैं ।[११६] ज्ञान हेतु कर्म करना भी जरूरी है क्योकि बिना कर्म के ज्ञान प्राप्त हो ही नही सकता । भक्ति करने हेतु शम, दम, निदिध्यासन की आवश्यकता मुमुक्षु को पड़ती है । भक्ति हेतु आत्म शुद्धि आवश्यक होती है जो व्यक्ति को राजमार्ग (योग) द्वारा ही सम्भव होता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य को मोक्ष प्राप्त करने हेतु सभी मार्ग आवश्यक होते है । यदि भक्ति मार्ग ही प्रधान होता है तो अन्य मार्ग भी उसके साथ गौण रूप मे अवश्य रहते है । परन्तु सभी मार्गो मे भक्ति मार्ग सबसे सुगम है क्योकि गीता मे कहा गया है 'यह विद्याओ मे प्रमुख है, रहस्यो मे प्रमुख है, यह अति पवित्र है, प्रत्यक्ष फलदायक है, धर्मयुक्त है, अविनाशी है तथा बड़ा सुगम है ।'[११७] इस प्रकार हम कह सकते है कि भक्ति मार्ग ज्ञान मार्ग से सुगम है । तभी भक्ति का सिद्धान्त हिन्दू समाज के सभी दलों को प्रभावित किया और जब पुराणों द्वारा भक्ति का प्रचार बढ़ा तो बौद्ध धर्म[११८] से हिन्दू लोग बाहर निकलने लगे । अपितु महायानी बौद्ध सम्प्रदाय ने भक्ति के सिद्धान्त को अपना लिया ।

भक्ति मार्ग के माध्यम से ही मनुष्य ईश्वर की शरण में जा सकता है और ईश्वर की शरण प्राप्त करने पर उसे ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है । ज्ञान प्राप्त करने हेतु भी भक्ति आवश्यक है इसका अनेकों उदाहरण हमें हिन्दू धर्म मे

मिलता है। उदाहरणार्थ भक्त प्रहलाद, ध्रुव गोपियाँ। इसके अतिरिक्त भगवान् बुद्ध ने भी भक्ति (तपस्या) के माध्यम से ही ज्ञान प्राप्त किया था। परन्तु भक्ति (तपस्या) के लिए भी उन्हे कर्म करना पड़ा था अत: कर्म को भी नकारा नही जा सकता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म मे मोक्ष प्राप्ति हेतु सर्वसुगम मार्ग भक्तियोग ही है।

संदर्भ

१ ६ अश ५ अ० ५७

२. यो० सू०

३. भारतीय दर्शन - दत्त एण्ड चटर्जी

४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्वार्थाधिगमसूत्र १/१

५. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥ रत्करण्ड

६. इदं खो पन भिक्खवे दुक्ख निरोध अरियसच्चं। सो तस्सार्येव तज्हाय असेसविराग निरोधो चागो परिनिस्सागो मुक्ति अनालयो। विनय महावग्ग ॥सुत्तनिपात॥

७. सर्वाजीवे सर्वसंस्थे वृहन्ते,
अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्म चक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा,
जुष्टस्ततस्तेनामृत्वमेति॥ श्वे० उ० १/१/६

८. तद्भावे संयोगाभावे प्रादुर्भावश्च मोक्षः। वै० सू० ५/२

९. दुखजन्मप्रवृत्तिदोषः तदन्तरापायादप वर्गः। न्या० सूत्र १/१/१

१०. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः _ स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः। योगदर्शन ४/३४

११. ब्रह्मसूत्र ३/२/४०

१२. उपाधिप्रलयं एवायम् नात्मप्रलयः ॥शारीरिक भाष्य॥

१३. स्वात्मन्यवस्थानम् मोक्षः। शांकरभाष्य तै० उप० १/११

१४. आत्मनि एवाविद्यानिवृत्तिः। शाकरभाष्य मुण्ड० उप०
अविद्यापगमयात्रत्वाह ब्रह्मप्राप्तिफलस्य। शांकरभाष्य बृह० उप० १/४/१०

१५. ब्रह्मणोभावः न तु स्वरूपैम्यम्। श्रीभाष्य १/१/१

१६. अविद्यास्तमयो मोक्षः या संसार उदाहृता।
विद्यैव, चाहया शान्ता तदस्तमय उच्यते॥ ब्रह्मसिद्धि, ३/१०६

१७ सत्यम् परमार्थतो न कश्चिद् बन्धः केवलं स्वस्मादनुत्तरात् स्वातन्त्रयात् यदा स्वात्मानं संकुचितं व भासयति स एव, तदा स्वस्य पूर्णस्य रूपस्य यद्परिज्ञानम् भासमानत्वे प्यपरामर्शरूपं तदेव कारणत्वेन् प्रकृतं यस्य स पूर्णत्वाख्यातिमात्रतत्व पुरुष· इत्युच्यते। भास्करकण्ठ, भास्करी

१८ बुद्धचरित IX, पृ० ५९ अश्वघोष

१९. अन्तर्भक्ति चमत्कारचर्वणामीलितेक्षण·

नमो महय शिवायोति पूजयन् स्वयां तृणान्यपि॥ शिवस्तोत्रावली, ५/१५

२० भवद्भक्तिसुधासारस्तैः किमप्युपलक्षित·।

ये न रागादिपङ्के स्मिल्लिप्यन्ते पतिता अपि॥ शिवस्तोत्रावली, ५/१५

२१. केव न स्यादृशा तेषां सुखसम्भारनिर्भरा।

येषामात्माधिकेनेश न क्वापि विरहस्त्वया॥ वही, ३/१०

२२ अन्ये भ्रमन्ति भगवन्नात्मन्येवातिदुः स्थिताः। वही, १०/१२

२३ जीवतः पुरुषः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुखादिलक्षण· चिद् धर्मः।

क्लेशरूपत्वाद् बन्धो भवति तस्य निवारणानि जीवन्मुक्तिः॥ जीवन्मुक्ति विवेक-विद्यारण्य

२४ भारतीय शोध संग्रह में उद्धृत प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त की जीवन्मुक्ति का तुलनात्मक अध्ययन।

२५ सक्षेपशारीरिक, ४/४० सर्वज्ञात्ममुनि

२६. ब्रह्मसिद्धि, मण्डन मिश्र

२७. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य ४/१/१० शंकराचार्य

२८. शिवस्तोत्रावली, १८/५

२९. निःसारित्रपुष्पे पुष्पपात्रस्थिताः सूक्ष्माः पुष्पावयवा एव गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति न संस्कार इति चेत् तथापि प्रलयावस्थायां सर्वकार्यसंस्कारो भ्युपगम्य एव। वि० प्र० सं०, पृ० ३६०

३०. ब्रह्मसाक्षात्कारे जाते प्याप्रारब्धक्षयविद्यालेशानुवृत्या जीवन्मुक्तिरस्तु। वही, पृ० ३६

३१. न च लेशस्यापि विरोधितत्वज्ञानान्निवृत्तिः किं न स्यादिति वाच्यम् प्रबलैः प्रारब्धकर्म विज्ञानस्य प्रतिवद्धत्वात्। तत्वदीपिका, पृ० ६०७

३२. स्थितिप्रज्ञस्तावन्न विगलितिखिलाविद्य· सिद्ध· किन्तु साधक एवावस्था विशेषं प्राप्तः स्यात्। ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३०

३३. स्थितप्रज्ञश्च न साधक., तस्योत्तरोत्तरध्यानोकर्षेण पूर्वप्रत्ययानवस्थितत्वात्।

निरतिशय प्रज्ञस्तु स्थितप्रज्ञः, स च सिद्ध एव। भामती, पृ० ९५९

३४. अन्यथा देवर्षीणां हिरण्यगर्भमनूद्दालक प्रभृतीनां विगलितक्लेशजालावरणतया परितः पद्योतमानबुद्धिसत्वानां न ज्योगजीविता भवेत्। वही, पृ० ९५८

३५. तस्मादागमानुसारतोस्ति प्रारब्ध विपाकानां कर्मणां प्रक्षयाय तदीयसमस्त फलोपभोगप्रतीक्षा सत्यपि तत्वसाक्षात्कारे। वही, पृ०

९५८

३६. वेदान्त पारिजात सौरम्भ सूत्र ४/४१, २, ४, ७, १२ इत्यादि

३७. सर्वज्ञात्मगुत्वस्तु विरोधिसाक्षात्कारोदये लेशतो पि अविद्यानुवृत्यसंभवाद् जीवन्मुक्ति शास्त्रं श्रवणादिविध्यर्थवादमात्रम्, शास्त्रस्य जीवन्मुक्ति प्रतिपादने प्रयोजनाभावात्। सि० ले० सं०, पृ० ५१३-१४

३८ यो० सू०

३९. विष्णुपुराण ६/७/३६-३७

४० तप स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि क्रियायोग.। यो० सू० २/१

४१. श्वासप्रश्वासंयोगतिविच्छेदः प्राणायामः। यो० सू० ८/४९

४२. योग सूत्र

४३. इन्द्रियाणा विचतां विषयेषु स्वभावतः। निग्रहः प्रोच्यते सद्भिः प्रत्याहारस्तु सत्तम। कूर्म पु० २/११/३८

४४. देशबन्धचित्तस्य धारणा (१) / यो० सू० वि० पा०

४५. योगसिद्धान्त चन्द्रिका, पृ० १०५

४६ भारतीय दर्शन देवराज, पृ० ४३८

४७ तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम् ॥२॥ यो० सू० वि० पा०

४८. वितर्कश्चितस्यालम्बने स्थूलअभोगः सूक्ष्मी विचारः आनन्दोहलाद. एकात्मिका संविदास्मिता व्या० भा० सू० १७

४९. भारतीय संस्कृति और साधना प्रथम खण्ड पृष्ठ ३८७ ले० महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

५० त्वं स्त्री त्व पुमानसिं त्व कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वन्चसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखम्॥ श्वे० उप० ४/३

५१. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगमुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ भारतीय दर्शन डॉ० वी० एन० सिंह, पृ० ८४

५२. इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए डॉ० ए सेन गुप्ता ने लिखा है—

If an individual is eager to attain liberation, he should first of all seek to attain a true knowledge of his pure aham.. as a mode of God. Naturally he feels an intense affection and longing for God. This feeling of dependence on God as his sole support and refuge gradually produces in him an attitude of self surrender . then he attains emancipation from all evils. Philosophy of Ramanuja P. 128.

५३. श्वे० उप० ६/६/१६

५४ अस्येदु प्र बूहि पूव्याणि कर्माणि नव्य उकथैः। ऋ० १/६१/१३

५५. जुवन्त विश्वान्यस्य कर्मोपस्तुतिं भरमाणस्य कारोः। ऋ० १/१४८/२

श्यावाश्वस्य सुन्वतस्तथा श्रृणु यथा शृणोरत्नेः कर्माणि कृण्ततः। ऋ० ८/३६/७

५६ लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

५७. इमे विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत॥ गी० ४/१

५८ स एवायं मया तेऽद्य योग प्रोक्त पुरातन·।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ वही ४/३

५९. अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।

विविधाश्च पृथकचेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। गीता, १८/१४

६०. गीता, ३/२७

६१. श्वे० उप० ५/११

६२. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ गीता २/४७

६३. तस्मादसक्त· सतत कार्य कर्म समाचार।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ गी० ३/१९

६४ परम प्रेम रूपा।

६५. सा परानुरक्तिरीश्वरे। १/१/२

६६ तत्छ्द्दधाना मुनयो ज्ञानवैरागयुक्तया।

पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतिगृर्हतया॥

६७. न युन्जमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।

सदृशो स्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥ भग ३/२५/१९

६८. देवो सुरो मनुष्यो वा यक्षों गन्धर्व एव वा।

भजन मुकुन्द चरणं स्वस्तिमान स्याद् यथा वयम्॥ भाग ७/७/५०

६९. राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ गी० ९/२

७०. श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पाद सेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यें सख्यमात्मनिवेदनम्॥ भाग० ७/५/२३

७१. ना० भ० सू० ८३

७२. वृ० ह० स्मृ० ८१-८३

७३ शा० सू० ७३

x. सासारिक पदार्थों के लिए भजने वाला

o सकट निवारणार्थ भजने वाला

+ मेरे को यथार्थ रूप से जानने की इच्छा भजने वाला

७४. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ॥

आर्तो, जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ गी० ७/१६

७५. भक्तिरपि निरतिशयप्रियानन्यप्रयोजनस्वेतरवैतृष्णयावहज्ञानविशेष एवं।

७६. ब्रह्मप्राप्त्युपायश्च शास्त्राधिगत तत्वज्ञानपूर्वक स्वकर्मानुग्रहीतभक्ति निष्ठा साध्यानवधिकातिशयप्रियदिशदतम प्रत्यक्षसापन्नानुध्यानरूप परभक्तिरेवेत्युक्तम्। भक्ति शब्दस्य प्रीतिविशेषे वर्तते। प्रीतिश्च ज्ञान विशेष एवं। वेदार्थ संग्रह, पृ० ४४

७७ सहि० आश्रमै. सदानुपास्य - छा० उप० ४/२/२

७८. सायुज्यं गच्छति--- छा० उप० २/२०/२

७९ यं शैवाः समुपासतेशिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,

बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।

अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,

सो यं वो विदधातु वान्छित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

सुभाषित रत्न भण्डागार निर्णय सागर प्रेस सं० १९३५ पृ० श्लोक २७

८० पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ गी० ८/२२

८१ अनन्यचेता· सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ गी० ८/१४

८२. मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ गी० ११/५५

८३. गी० १८/६६

८४. न धर्मानिष्ठोस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चारणारविन्दे।

अकिंचनो न्यगनि शरण्यं त्वत्यादमूलं शरणं प्रपद्ये॥ यामुनाचार्यः आलवन्तार स्त्रोत्र १५

८५. अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य नर्जनम्।

रक्षिस्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरण तथा॥

आत्मनिक्षेपकार्यण्ये षडविधा शरणागतिः॥ भारतीय दर्शन पृ० ५२७ डॉ० वी० एन० सिंह

८६. ऋग्वेद १/२२/२०

८७. वही सायणभाष्य १/२२/२०

८८ लक्ष्मी तन्त्र धर्म और दर्शन, पृष्ठ १८० ले० डॉ० अशोक कुमार कालिया

८९. अन्ये चानादिशुद्धाः श्रुतिसमधिगतास्सूरयस्त्वन्त्यसंख्याः।

कर्माभावादनादेर्व तु भवति कदाप्येषु संसारबन्धः॥ तत्वमुक्ताकलाप, पृ० ६६

यहाँ प्रयुक्त श्रुति समाधिगता का अर्थ करते हुए वेदान्तदेशिक उपर्युक्त श्रुति की ओर ही संकेत करते हैं—

श्रुतिसमाधिगता. सदा पश्यन्ति इति श्रुत्या निर्बाधमधिगता इत्यर्थः, स्वार्थ सिद्‌जीव ६६

९०. ऋग्वेद सायणभाष्य। १/२२/२०

९१. लक्ष्मीतन्त्र धर्म और दर्शन, पृष्ठ १८१ डॉ० कालिया

९२. तयोर्नो परमं व्योम निर्दुखं पदमुत्तमम्।

षड्गुण्यप्रसरो दिव्यः स्वाच्छन्द्योदेशतां गतः॥ ल० त० १७/९

९३. लक्ष्मीतन्त्र १७/१५-१९

९४ यथा नद्य. स्यन्दमाना समुद्रेस्तं

गच्छन्ति नामरूपे विहाय

तथा विद्वान्नामरुपादि मुक्त.

परात्परं पुरुष मुपैतिदिव्यम्॥ मुण्ड० उप० ३/२/८

९५. छान्दोग्य उप० ६/१/२-७

९६. अस्मिन हंसो, भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्ठस्ततः॥ तेनामृतत्वमेति श्वेता० १, ६

९७. स वेद यथा पशुरेव देवनाम्, वृ० १/४/१०

९८. यश्चायं पुरुष यश्चासावादिव्ये स एकः, तै० ११/८

९९. तत्वमसि श्वेतकेतो छा० ६/८/७

१०० सय एवमेतद्राजनं देवतास प्रोतं वेद एतासामेव देवानां सलोकतां सायुज्यं गच्छति। छा० ११/२०/२

१०१. यदा पश्य· पश्यते रुक्मवर्ण कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोमिम्।

तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरंजनं परम साम्य मुपैति। मु० ३/१/३

१०२. दुखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्त्तिनः

सुखस्य मनसा मुक्तिर्मुक्तितरूक्ता कुमारिलैः॥ मीमांसा दर्शन– पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, पृ० ३०

१०३ यावदेव हि स्थाजाविव पुरुष बुद्धिं द्वैतलक्षणाविद्या निवर्तयन कूटस्थनित्यदृकस्वरूप मात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते, तावज्जीवस्य जीवत्वम्। ब्र० सू० शां० भा० १/३/१९

१०४ यदा तु देहेन्द्रियमनो बुद्धिसघातात व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते नासित्व देहेन्द्रियमनोबुद्धिसघात नासिसंसारी, कि तर्हि तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्य मात्रस्वरूपरूत्मसीति, तदाकृटस्थनित्यदृकस्वरूपमात्मान प्रतिबुध्यस्माच्छति राद्यभिमानात् समुत्तिष्ठन स एव कूटस्थनित्यदृकृस्वरूप आत्मा भवति। वही

१०५ वही

१०६. इद तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत सर्वव्यापी सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वय ज्योति स्वभावम् यत्र धर्माधर्मो सहकार्येण कालत्रय न चोपावर्तते। ब्र० सू० शा० भा० १/१/४

१०७. स्वमस्यरूपं ब्राह्मण हतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं च सर्वेश्वरत्वं च तेनरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। ब्र० स० शाक्त ४/४/५

१०८ चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपणामिनिष्पत्तियुक्ता। ब्र० सू० शा० भा० ४/४/६

१०९ भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १२७

११० मिथ्याज्ञानकृत एवं जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः। ब्र० सू० शां० भा० १/३/२०

१११ भारतीय दर्शन, पृ० ५३१, भाग १, डॉ० राधाकृष्णन्

x भगवान् के नाम और गुणो का श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वास के द्वारा और भगवत्प्राप्ति विषयक शास्त्रो का पठन-पाठन इत्यादि चेष्टाएँ भगवत्प्राप्ति के लिए बारम्बार करने का नाम अभ्यास है।

xx स्वार्थ को त्यागकर तथा परमेश्वर को ही परम आश्रय और परमगति समझ कर निष्काम प्रेमभाव से सती शिरोमणि पवित्रता स्त्री की भाँति मन, वाणी और शरीर द्वारा परमेश्वर के ही लिए यज्ञ, दान और तपादि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों के करने का नाम 'भगवत अर्थ कर्म करने के परायण होना है।'

११२. गीता० १२/९-११

११३ वही, १२/२२

११४. इण्डियन फिलासफी, पृ० ३६०, डॉ० सी० डी० शर्मा

११५ भक्ति प्रपत्योरेव मोक्षसाधनत्वस्वीकारत्। भक्ति प्रपत्तिभ्यां प्रसन्न ईश्वर एवं मोक्षं ददाति। यतीन्द्रदीपिका, पृ० ४०

११६. भक्तिशब्दस्य प्रीतिविशेषे वर्तते। प्रीतिश्चज्ञानविशेषे एव। वेदार्थसंग्रह, पृ० ७४४

११७. राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्य सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ गी० ९/२

११८. बौद्ध धर्म का अर्थ यहाँ प्रारम्भिक बौद्ध जो अपने को पूजा-पाठ से अलग रखते थे, से है इन्हें हिन्दू धर्म से अलग नहीं समझना चाहिए वरन् ये आस्तिकता से प्रभावित होने लगे।

सप्तम - अध्याय

धम्म पद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं नैतिक उपदेश

धम्म पद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं नैतिक उपदेश

धम्म पद सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं जनप्रिय ग्रन्थ है। इसमें ४२३ गाथायें हैं जिन्हे तथागत ने अपने जीवन काल मे विभिन्न शिष्यो को उपदेश दिया था। ये गाथाये नीति तथा आचार की शिक्षा से ओतप्रोत है। यह ग्रन्थ २६ वर्गो मे विभक्त है। इनमे से कुछ गाथाये सुत्तपिटक आदि ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है और कुछ मनु तथा महाभारत से गृहीत प्रतीत होती है।

धम्म पद बौद्ध दर्शन का प्रमुख धर्म ग्रन्थ है और मुक्ति ही पूरे बौद्ध दर्शन का केन्द्र बिन्दु है।

चुल्लवग ने कहा भी है— "जिस प्रकार विशाल सागर मे एक ही स्वाद होता है नमक का स्वाद उसी प्रकार भिक्षुओं धम्म मे भी एक ही स्वाद व्याप्त है– मुक्ति ॥निर्वाण॥ का स्वाद।"

बुद्ध ने अपने उपदेश भिक्षु संघ के सम्मुख दिये थे। साधारण मनुष्यो से बुद्ध के संवाद बहुत कम दृष्टान्तो मे धार्मिक-दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हुए। साथ ही यह भी तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि बुद्ध हर सम्प्रत्यय की पूरी व्याख्या नही करते तथा एक पूर्ण सुनिश्चित पदावली का उपयोग करते हैं जो इस ओर ध्यान आकृष्ट करता है कि उनका श्रोता पहले से ही उन सम्प्रत्ययो तथा पदावली से परिचित होता होगा।

धम्म पद विश्व की सर्वश्रेष्ठ प्रज्ञा ग्रन्थों मे से एक है। गीता की तरह धम्म पद जीवन साथी श्रेणी की पुस्तक है। हर अवस्था मे, विभिन्न परिस्थितियों मे इसकी शरण मे जा सकते हैं। इसकी गाथाएँ सदा मधुर शांति प्रदान करती है।

सात्वना सुलभ करने की बजाय इसमे कठोर सदाचार और उद्योग की देशना है। "अक्खतारा तथागता" तथागत तो बतला या दिखला ही सकते हैं—प्रयास तुम्हे करना है। उपदिष्ट धर्म निर्मम है, परन्तु बुद्ध शासन में चित्त प्रसन्नता प्राप्त है।

धम्म पद का मोह हर पीढ़ी अपने ढंग से अनुभव करती है।

प्राकृत धम्म-पद

धम्म पद बौद्ध धर्म की गीता है। वह संसार का कदाचित् सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है जिसने बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त तो वर्णित है ही, शाश्वत सत्य और नैतिक मूल्यों की सुन्दरतम व्याख्या भी संकलित है। भाव और भाषा

की दृष्टि से भी यह एक महानतम ग्रन्थ है तथागत बुद्ध के प्रमुख उपदेशो का यह सर्वमान्य सग्रह है जो खुद्दक निकाय का अन्यतम भाग है। महानिदेश, चुल्लनिदेस, कथावत्थु आदि पिटक ग्रन्थो मे 'ननु वुत्तं भगवता' कहकर धम्म पद की अनेक गाथाओ का उल्लेख मिलता है।

धम्म पद के विविध संस्करण

१. पालि धम्म पद– पालि त्रिपिटक के सिहलीज, बर्मीज, स्यामीज, देवनागरी, रोमन आदि अनेक सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं जिनमे धम्म पद का मौलिक रूप संकलित हुआ है। इस पर बुद्ध घोष की भट्ठकथा भी प्रकाशित हुई है जो सिंहलीज अट्ठ कथा पर आधारित रही है। कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन इसका मुख्य उद्देश्यहै। इसमे २६ वर्ग है और १६२३ गाथाये है जो विषयानुसार विभाजित है, यद्यपि कही-कही इसका पालन नही किया गया। इदलेंदत ने कदाचित् सर्वप्रथम इन गाथाओ की तुलना बौद्ध और बौद्धेतर साहित्य से की थी और ईं श्लत्ती ने उसका अनुवाद अंग्रेजी मे किया था।

२. संस्कृत धम्म पद–

काल - ४१० ई०

इसमे ९०० गाथाये मानी जाती है।

१००० गाथायें

७०० गाथायें

१४-१५वी शती मे श्रीलंका में दीक्षित भारतीय भिक्षु वन रत्न ने पालि धम्म पद का संस्कृत रूपान्तरण किया। उनकी मागधी लिपि में लिखी एक प्रति तिब्बत मे मिली। जिसे महापंडित राहुल सांकृत्यायन भारत ले आये थे।

३. चीनी धम्म पद– २२४ ई०

३९ वर्ग

७५० गाथाये

पालि धम्म पद की ४२३ गाथाओ के स्थान पर ५०० गाथायें मिलती हैं उत्तरकाल मे इसमे १३ वर्ग और दिये गये, और कुल संख्या ३९ कही गई।

४. तिब्बती धम्म पद– १८८३ ई०

१००० गाथाएँ

३३ वर्ग

५. प्राकृत धम्म पद– १८९२ ई०

१२ वर्ग

२५१ गाथाएँ

पालि धम्म पद मे २६ वर्ग है जबकि प्राकृत धम्म पद मे २१ वर्ग मिलते है। पालि धम्म पद की अपेक्षा सस्कृत, तिब्बती और चीनी उदान वर्ग से प्राकृत धम्म पद की समानता अधिक है।

प्राकृत धम्म पद पालि और अन्य धम्म पदो की अपेक्षा अधिक सशक्त और गम्भीर है। इसमे पुनरावृत्ति कम और अपेक्षित सामग्री का संकलन अधिक है। पालि धम्म पद में जो पुनरावृत्ति दिखाई देती है वह प्राकृत धम्म पद मे नही है।

जहाँ तक प्राचीनता का प्रश्न है, पालि धम्म पद निश्चित ही प्राचीनतर है। प्राकृत धम्म पद उत्तरकालीन है। उसमे बौद्ध साहित्य से सुन्दर-सुन्दर गाथाओ को संकलित कर संग्राहक ने एक नया सुन्दर और सशक्त धम्म पद तैयार किया है। इसमे संग्रह कर्ता ने अपने ढग से पाठान्तर भी समाहित किये है जो भाषा विज्ञान की दृष्टि से अपना विकसित रूप लिए हुए है।

प्राकृत धम्म पद के संकलयिता के सन्दर्भ मे कोई जानकारी नही मिलती। उसके आदि पद मे धर्म पद के साथ ही बुद्ध नन्दी और बुद्ध वर्मन के नाम उल्लिखित है। अधिक संभव है कि ये लिपिकार रहे होगे जिन्होने धर्मोद्यान मे उसे लिखा होगा। धर्म पद की तुलना पुण्य से दी गई है। जिस प्रकार कुशल माली पुष्पो को गूथकर सुन्दर माला बनाता है वैसे ही शैक्ष्य बुद्धानुयायी तथागत बुद्ध के वचनो का संगायन कर अपना जीवन सार्थक करता है कदाचित् यही कारण है कि धम्म पद को कण्ठस्थ करने की परम्परा लगभग सभी बौद्ध देशों में प्रचलित है। जीवन को सार्थक, सुखद, समन्वित, सक्षम तथा आध्यात्मिक बनाने के लिए धम्म पद मे निर्दिष्ट मार्ग बड़ा प्रभावक व अनुपम है। उसमें नैतिक तत्व इतना सुगठित है कि वह बौद्ध ग्रन्थ न होकर सर्वमान्य ग्रन्थ बन गया है। उसकी लोकप्रियता का यही कारण है।

पालि धम्म पद के समान प्राकृत धम्म पद का भी विभाजन वर्गो मे हुआ है। यद्यपि वग्ग (वर्ग) शब्द कही आया नही है पर अपनी विशेषताओं के साथ ये वर्ग जुड़े हुए है।

प्राकृत धम्म पद के प्रारम्भ मे बुद्ध वर्मन का उल्लेख लेखक के रूप मे हुआ है। सम्भव है वे इसके संकलयिता रहे होगे।

पालि धम्म पद थेरवादी परम्परा का सर्वमान्य ग्रन्थ है, उसका सम्बन्ध महाबिहारवासी सम्प्रदाय से अधिक रहा है।

उदान वर्ग सर्वास्तिवादियों का और महावस्तु में आया धर्मपद लोकोत्तरवादी महासांघिको का है।

धम्म पद और उसका कालक्रम

धम्म पद का शाब्दिक अर्थ धार्मिक वचनों का संग्रह जिसमे है ऐसा संग्रह है तथागत बुद्ध की सूक्तियों और उदानो का संग्रह है, जिन पर चलने से व्यक्ति के जीवन का निर्माण होता है। पालि धम्म पद की गाथा ४५-४५ (प्राकृत धम्म पद ३०१-३०२) में धर्म पद शत्रु का उल्लेख हुआ है और वहाँ पुण्पमाला की उपमा दी गई है। जिस प्रकार कुशल

माली फूलो का सग्रह कर उनसे सुन्दर माला तैयार करता है वैसे ही यह धर्म पद शैक्ष्य सज्ञा प्राप्त बुद्धानुयायी को नैतिक और धार्मिक मार्ग पर आरुढ़ करता है।

सयुक्त निकाय के सज्झाय सुत्त मे एक ऐसे भिक्षु का उल्लेख है जो धर्म पदी का बहुत स्वाध्याय करता था पर जब वह आध्यात्मिक साधना में अधिक बढ़ गया तो उसने उसका स्वाध्याय छोड़ दिया। इसका कारण पूछने पर उसने बताया कि जब तक उसको वास्तविक वैराग्य नहीं हुआ था तब तक उसका मन 'धर्म पदी' को पढ़ने की ओर लगा रहता था पर अब उसकी आवश्यकता नही है। इसका अर्थ यह है कि साधना के प्राथमिक स्तर पर धर्म पद की नितान्त आवश्यकता है। ध्यान की उच्चतम अवस्था मे उसकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है।

धम्म पद का एक-एक पद वस्तुत: जीवन की दिशा बदलने वाला है। उसका दर्शन कर्म सिद्धान्त पर आधारित है। चतुर्थ आर्य सत्य की व्याख्या मे प्रतीत्य समुत्पाद को यहाँ व्यावहारिक दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयत्न हुआ है। सभी पापो से मुक्त होकर चित्त को विशुद्ध कर अर्हत् प्राप्ति का उसका साध्य है। इन्द्रिय-संयम, प्रज्ञा, शील और समाधि उसकी साधना है। धम्मपद की अधिकाश गाथाओ को जैनागमो में खोजा जा सकता है।

धम्म पद निश्चित ही सर्वाधिक मान्य ग्रन्थ रहा है। उसका उल्लेख मिलिन्द पन्हों, कथावत्थु, नेत्तियप्रकरण, पेटकोपदेश, महानिदेश चुल्लनिद्देस आदि ग्रन्थो मे मिलता है। पर यह भी उल्लेखनीय है कि इसका उल्लेख न अशोक के शिलालेखो में है और न भाबू अभिलेख मे। अत: कहा जा सकता है कि ई० पू० तृतीय शताब्दी तक धम्म पद का कोई अस्तित्व नही था। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि चूँकि ई० पू० प्रथम शती मे समूचा त्रिपिटक सिंहल मे बट्ट गामीण के शासन काल में लिपिबद्ध हो चुका था, अत: धम्म पद इस समय तक संकलित हो चुका होगा।

कालक्रम की दृष्टि से विचार किया जाये तो पालि धम्म पद प्राचीनतम संकलन होना चाहिए। उसके बाद संस्कृत धम्म पद लिखा गया और फिर प्राकृत धम्म पद को तैयार किया गया। प्राकृत धम्म पद का संकलन अधिक गम्भीर और स्वस्थ दिखाई देता है। इसमे पुनरावृत्ति कम और गाथाएँ अधिक गम्भीरार्थ देने वाली है। इन सभी धम्म पदो मे विषय लगभग एक जैसा प्रस्तुत किया गया है। अंगुत्तर निकाय के चतुर्थ निपात धम्म पद के चार विषय बताये गये है— अलोभ, अक्रोध, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। वस्तुत: धम्म पद मे इन चारो विषयों पर ही चर्चा की गई है।

डॉ० बरुआ ने धम्म पदो का कालक्रम निम्नलिखित रूप से प्रतिस्थापित किया है—

१. पालिधम्म पद (स्थविरवादी) ४-३वी शती ई० पू०।

२. धम्म पद (महासाधिक) २वी शती ई० पू०।

३. महावस्तु धम्म पद (महा साधिक) द्वितीय प्रथम शती ई० पू०।

४. प्राकृत धम्म पद (महासाधिक) द्वितीय प्रथम शती ई० पू०।

५. मूल अथवा उदान वर्ग का प्राचीनतम संस्करण (वैभाषिक) प्रथम-द्वितीय शती ई० पू०।

६. चीनी संस्करण - २३३ ई०

७. उदान वर्ग का अन्य सस्करण— चतुर्थ-पचम शती John Brough ने गांधारी धर्म पद को कालक्रम की दृष्टि से पालि धम्म पद के तुरन्त बाद का माना है। उनके अनुसार यह क्रम इस प्रकार होना चाहिए—

१. पालि धम्म पद

२. गांधारी धम्म पद

३. उदान वर्ग

४. महासांघिक धर्म पद

५. Fa-Chu-Ching सस्करण

तृतीय शताब्दी मे अनेक विहार और स्तूप भी यहॉ बन गये। कालान्तर में विदेशी आक्रमणो ने उन्हे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

धम्म पद की भाषा और इन प्राकृत अभिलेखो की भाषा मे काफी साम्य दिखाई देता है।

कतिपय संकीर्ण विचारधारा के तथाकथित विद्वान स्वार्थवश यह प्रचारित करते रहे कि प्राकृत मात्र जैनो की भाषा है। बौद्धो को उससे क्या लेना है? यह तो उनका दिग्भ्रम है।

पालि-प्राकृत-संस्कृत भाषाएँ परस्पर अत्यन्त जुड़ी हुई है शोध कार्य के लिए तीनो भाषाओ का ज्ञान होना वैसे ही अत्यावश्यक है।

विषय वस्तु— प्राकृत धम्म पद की विषय वस्तु लगभग वही है जो पालि धम्म पद की है। अन्तर मात्र इतना है कि प्राकृत धम्म पद मे उन गाथाओ को छोड दिया गया है जिनमें पुनरावृत्ति दिखाई देती थी। प्राकृत धम्म पद पालि धम्म पद की अपेक्षा अधिक सशक्त और गम्भीर बन रहा है।

धम्म पद बौद्ध धर्म का सर्वमान्य ग्रन्थ है जिसमे तथागत बुद्ध के मूल उपदेश संकलित है। वह धर्म विशेष की सीमा से भी हट कर शाश्वत सत्य और नैतिक मूल्यो को प्रतिष्ठापित करता है। जनकेन्द्रित नये आयामो को भी उद्घाटित करने मे धम्म पद की विशिष्ट भूमिका रही है।

नैतिक दर्शन— धम्म पद बौद्ध धर्म का संक्षित धर्म ग्रन्थ है। इनमें मानवीय जीवन के आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया का सुन्दर विवेचन है, व्यवहार, दर्शन, रीति और सिद्धान्त का सयुक्तिक व्याख्यान है तथा दृष्टान्तो और उपमाओ के माध्यम से जीवन के निर्माण की दिशा का संकेत है।

ससार का हर पदार्थ क्षण भंगुर है और जो क्षण भंगुर होता है उससे मोह करना बुद्धिमत्ता नही है। वह मोह दु:खदायी होता है। सभी संस्कार परिणामतः दु:खदायी होते हैं। अनित्य और नश्वर होते हैं। आत्मा के अस्तित्व का निषेधकर बौद्ध धर्म ने चिन्तन के क्षेत्र में एक नयी विचार-क्रान्ति खड़ी कर दी और फिर कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त की वकालत कर उस विचार क्रान्ति को साथ ही झकझोर भी दिया। इसलिए चिन्तको के मन में एक प्रश्नचिन्ह खडा

हो जाता है कि आत्मा के अनस्तित्व मे कर्मवाद की पहचान कैसे हो सकती है ? इसका समाधान अनेक प्रकार से किया, पर वह समाधान कारक न बन सका। चित्त, विज्ञान, हृदय वत्थु, जीवितेन्द्रिय जैसे शब्दो को आत्मा के स्थान पर बैठाकर कर्मवाद को पोषित किया। अविद्या और तृष्णा संसार चक्र मे घुमाने वाले तत्त्व है। चार आर्य सत्य, अष्टागिक मार्ग, प्रज्ञा, शील और समाधि उनसे मुक्त होने के साधन है।

धम्म पद धर्म के मार्ग का दर्शक है। पर दूसरे के हित के लिए अपने हित की आहूति करना बुद्धिमानी नही है। अप्रमादी होकर अकेला विचरण करते हुए अरण्यवासी होने का विधान धम्म पद मे मिलता है। इन्द्रिय सयम और प्रति मोक्ष-पालन बौद्ध भिक्षु के लिए अपरिहार्य नियम हैं। ईश्वर के स्थान पर आत्म पुरुषार्थ तथा यज्ञ के स्थान पर चित्तविशुद्धि की बाात करना धम्म पद की मूल भावना है। ध्यान-समाधि के उपयोग से अर्हत और निर्वाण अवस्था की प्राप्ति धम्म पद का परिणाम है। श्रामण्य का सम्बन्ध वाह्य शुद्धि पर नहीं बल्कि वह आन्तरिक शुद्धि पर टिका रहता है।

धम्म पद का सम्बन्ध अहिसा के सिद्धान्त से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। प्राणातिपात न करना, चोरी न करना, असत्य न बोलना, पर स्त्री गमन न करना, पापो से दूर रहना, कल्याण मित्रो की संगति करना, क्रोध-मान-माया-लोभ न करना, अकुशल कर्मो से दूर रहकर कुशल कर्म मे लीन रहना, बैर को अबैर से दूर करना, जातिवाद के स्थान पर चित्त विशुद्धि और कर्म-विशुद्धि को स्वीकार करना, प्रज्ञा-शील-समाधि का पालन कर सही श्रमण धर्म का पालन करना, पर छिद्रान्वेषी न होना, आत्मचिन्तन करना, निर्भय होकर धर्मसाधन करना आदि कुछ ऐसे नैतिक तत्त्व है जिनसे धम्म पद विश्व साहित्य मे अपना शीर्षस्थ स्थान बनाये हुए है।

धम्म पद वस्तुतः कोई स्वतन्त्र रचना नही है बल्कि पालि त्रिपिटक मे से महत्त्वपूर्ण गाथाओ का एक सुन्दर संकलन मात्र है। धम्म पद में दृष्टान्त शैली का प्रयोग हुआ है। इससे सिद्धान्त अथवा कथ्य को सरलतापूर्वक श्रोता के गले उतार दिया जाता है।

धम्म पद में कुछ विषयो को उपमा के माध्यम से समझाया गया है— उदाहरणार्थ— नश्वरता के लिए समुद्र फेन (३००) अज्ञानी व्यक्ति के लिए बैल (३६), निर्मलता के लिए चन्द्रमा (१४०) मृत शरीर के लिए अपथ्श्य लौकी और शख (१५४) विचरण के लिए मृग (३९१) आयु के लिए रात्रि का अवसान (१४५), वृद्ध के लिए ताल पत्र (१४६), स्वार्थी शूर के लिए काक (२२१), क्रोध के लिए मधु (२२३) मत्सर करने वाले के लिए मधुमक्खी, हिंसक व्यक्ति के लिए गधा, क्रोधी व्यक्ति के लिए सूअर (२८५) धर्म पद के लिए पुष्प (३०३-३०४)।

प्राकृत धम्म पद लौकिक संस्कृत छन्दो पर आधारित न होकर वैदिक छन्द पद्धति पर आधारित है। इस पद्धति मे चरण अक्षरों की संख्या पर जोर दिया जाता है। धम्म पद मे अनुष्टुप, त्रिष्टुप् और जगती इन तीन वैदिक छन्दों का उपयोग हुआ है।

धम्मपद के नैतिक उपदेश

— धम्मपद मे यह बतलाया गया है कि मनुष्य का धर्म क्या है ? और उसको क्या करना चाहिए और किस प्रकार अपनी आयु पूरी करनी चाहिए।

यह बौद्ध धर्म की सबसे प्राचीन और संसार की एक विख्यात पुस्तक है, मूल पुस्तक पाली और संस्कृत भाषा में लिखी गई है।

सस्कृत शब्द का 'धर्म पद' पालि भाषा मे 'धम्मपद' हुआ। धर्म का अर्थ है— कर्तव्य कर्म करने एवं भलाई का पथ, पद का अर्थ है स्थान, दशा, आश्रय।

शैली और उपदेश दृष्टि से धम्मपद हिन्दुओ की विख्यात पुस्तक गीता से मिलती है, गीता मे श्रीकृष्ण ने एक पुरुष (अर्जुन) से कही। धम्मपद के वाक्य बुद्ध ने कई स्थान और कई पुरुषो से कहे।

धम्म पद मे २६ वर्ग और ४२३ श्लोक है।

(१) नित्य के अनुभव से आने वाले विचार। (यमक वर्ग)

(२) लगन (अप्रमाद वर्ग)

(३) मन (चित्त वर्ग)

(४) फूल (पुष्प वर्ग)

(५) अज्ञानी (बाल वर्ग)

(६) पण्डित (पण्डित वर्ग)

(७) अरिहत (शत्रु का नाश करने वाला) (अर्हत वर्ग)

(८) मन (सहस्र वर्ग)

(९) पाप-बुराई (पाप वर्ग)

(१०) डंड (दण्ड वर्ग)

(११) बुढ़ापा वृद्धा पकाल (जरा वर्ग)

(१२) आप स्वय	(आत्म वर्ग)
(१३) ससार	(लोक वर्ग)
(१४) बुद्ध (जागा हुआ)	(बुद्ध वर्ग)
(१५) आनन्द	(सुख वर्ग)
(१६) सुख-आनन्द	(प्रिय वर्ग)
(१७) क्रोध	(क्रोध वर्ग)
(१८) मेल-अपवित्रता	(मल वर्ग)
(१९) न्यायकारी	(धर्मिष्ठ-वर्ग)
(२०) मार्ग-पथ	(मार्ग वर्ग)
(२१) इधर-उधर की बाते	(विविध वर्ग)
(२२) नीच गति-नीचे पतन	(नरक वर्ग)
(२३) हाथी	(नाग वर्ग)
(२४) इच्छा	(तृष्णा वर्ग)
(२५) भिक्षुक-साधु	(भिक्षु वर्ग)
(२६) ब्राह्मण	(ब्राह्मण वर्ग)

धम्म पद का पहला उपदेश

नित्य के अनुभव में आने वाले विचार—

(१) हम जो है, जैसे है अपनी ही भावना और अपनी ही वासना के पुतले है । वासना ही से हम बने है, वासना से ही हमारा अस्तित्व है । जो मनुष्य बुरी भावना से कुछ कहता या कोई काम करता है दु:ख इसी भॉति उसके पीछे है जिस प्रकार गाडी खीचते हुए बैल के पीछे पहिया ।

(२) हम जो हैं जैसे है अपने ही विचार और अपनी ही इच्छा के चित्र हैं । इच्छा ही से हम उत्पन्न हुए, इच्छा ही हमारा अस्तित्व है । जो मनुष्य शुभ विचार से बोलता है और शुभ विचार से काम करता है सुख इसी प्रकार उसके साथ-साथ है जिस प्रकार मनुष्य के साथ परछाई ।

(३) उसने मेरा निरादर किया उसने मुझे मारा उसने मुझे लूट लिया जो ऐसी बातों को मन में स्थान देते हैं, शत्रुता इनके मन से कभी नहीं जाती ।

(४) उसने मेरा अपमान किया, उसने मुझे ठग लिया, जो इन बातों का विचार नही करते उनके मन बैर भाव से मुक्त हो जाते हैं ।

(५) शत्रुता, घृणा से नही जाती, शत्रुता का नाश प्रेम से होता है, यह एक सनातनी बात है ।

(६) संसार यह नही जानता कि सबको एक दिन यहॉ से जाना है, जो यह जानते है उनके सारे झगडे मिट जाते है ।

(७) जो सुख (भोग) और आनन्द का पागल है, जिसकी इन्द्रियाँ बस मे नही जो खाने पीने का भूखा सुस्त और निर्बल है, माया उसको उसी प्रकार गिरा देती है जिस प्रकार ऑधी निर्बल पेड़ों को जड़ से उखाड़ फेकती है ।

(८) जो सुख और आनन्द के पीछे मारा-मारा नही फिरता जिसका मन बस में है, जो युक्त अहारी है, दृढ और श्रद्धा वाला है, माया इसी तरह उसका कुछ नही बिगाड़ सकती, जिस प्रकार पवन एक बड़े पहाड़ का कुछ नही कर सकता ।

(९) पापो को धोये बिना जो जोगिया वस्त्र (गेरुआ वस्त्र) पहन लेता है जिसमे सोच विचार व सत्य नही, वह जोगिया भेष धारण करने योग्य नही ।

(१०) जिसने पापो को धो डाला है, शुभ कामो से भरपूर और सत्य का ग्राहक है, जोगिया बाना उसी पर अच्छा लगता है ।

(११) जो झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा मान लेते है, वे कभी सच्चाई तक नही पहुॅचते वे झूठी खुशी के पीछे मारे-मारे फिरते हैं ।

(१२) जिन्हे सत्य, सत्य और असत्य, असत्य समझ पड़ता है, वे सच्ची बात जान लेते है और सच्चे रास्ते पर हो लेते हैं ।

(१३) जिस प्रकार भली प्रकार न छाई झोपडी मे मेह नही रुकता, उसी प्रकार डांवाडोल बुद्धि मे इच्छाएँ नही रुकती, बलपूर्वक घुस जाती है ।

(१४) अच्छी प्रकार छाई झोपड़ी मे जैसे पानी नहीं टपकता, ठहरे हुए स्थिर बुद्धि, मन में बुराईयॉ नही जाने पाती ।

(१५) बुरा काम करने वाला अब भी रोता है, आगे भी दु:ख उठाएगा । उसका यह लोक और परलोक दोनो बुरे है, जब वह अपने ही बुरे कामो का बुरा फल देखता है तब उसे दु:ख होता है ।

(१६) भला काम करने वाला अब भी प्रसन्न है, आगे भी सुख पायेगा । उसे यह लोक वह लोक दोनो जगह, सुख है और जब वह अपने ही भले कामों की भलाई देखता है तो प्रसन्न होता है और आनन्द उठाता है ।

(१७) पापी यहॉ भी दु:ख उठाता है और दूसरे लोक में भी । उसके लिए दोनो जगह दु:ख ही दु:ख है, उसके बुरे काम भी याद आ-आ के उसे सताते हैं और जब वह दु:खमय रास्ते पर चलता है जो उसी के बुरे कामों का फल है तो उसका दु:ख और भी और भी बढ़ जाता है ।

(१८) धर्मात्मा यहाँ भी प्रसन्न है और दूसरे लोक में भी । उसे दोनों जगह आराम ही आराम है और जब वह अपने ही भले कामो के अर्थ भले मार्ग पर चलता है तो अधिक-अधिक प्रसन्न होता है ।

(१९) अनजान बड़ा पण्डित ही क्यो न हो यदि उसका सच्चाई पर अधिकार नही तो वह पण्डित नही वह तो उस ग्वालिए की तरह है जो दूसरो की गौवो को गिनता और उनको अपनी समझता है।

(२०) धर्म के मार्ग पर चलने वाला बेपढा भी हो परन्तु उसने इच्छाओ को छोड़ दिया है, बैर भाव से रहित है जिसका मन चंचल नही जो सच्ची विद्या से भरपूर और शांत है, जिसे न इस लोक मे इच्छा है न परलोक मे वह निश्चय ही पण्डित और साधु है।

दूसरा उपदेश (लगन)

(२१) लगन जीवन का रास्ता है, लगन न होना मृत्यु की राह है जिनके मन मे लगन है, वह कभी नही मरते, सिर्फ मन मे लगन नही वह जीते हुए भी मरे हुए है।

(२२) जिसने इस बात को भली प्रकार समझ लिया है।

(२३) जिनको मन से लगी हुई है, जो लगन में मग्न है, भलो की बात जिनको भली मालूम होती है, हर समय काम मे लगे हुए वे शांत और संतोष वाले है ऐसे मुक्ति का आनन्द भोगते हैं जो मीठे से मीठा मेवा है।

(२४) जिस लगन के मतवाले ने अपने को जगा लिया है वह भूला हुआ नही है उसके काम अच्छे है सोच-समझ कर काम करता है उसका मन बस मे है धर्म के मार्ग पर चलता है ऐसी लगन वाले की बड़ाई और प्रभुता दिन दूनी रात चौगुनी होती है।

(२५) अपने को जगाकर भूल को छोड़, सच्ची लगन के द्वारा मन को बस मे करके ज्ञानी अपने लिए एक ऐसा टापू बनाता है जो बड़े से बड़े तूफान और चढ़ाव से भी ऊँचा है।

(२६) मूर्ख आलस्य के हाथ बिक जाते हैं, ज्ञानी लगन की एक अमूल्य रत्न की भाँति रक्षा करते है।

(२७) आलस्य को छोड़ इन्द्रियो के सुख में मत भूल, लगन के रास्ते पर चल, जिस सुख के आनन्द का वर्णन नही हो सकता उसका रास्ता यही है।

(२८) जब ज्ञानी संलग्न से धोखा दूर हो जाता है, तो ज्ञान की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँच जाता है॥ आप दुःख की पहुँच से बाहर ऊँचा बैठा हुआ संसार को दुःख के सागर में डुबकी लगाते और डूबते हुए देखता है।

(२९) आलसियो मे काम करने वाला, सोते हुए में जागता हुआ, ज्ञानी घुड़दौड़ के घोडों की भाँति फसड्डी को पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाता है।

(३०) संलग्न प्रयत्न से इन्द्र देवताओं का राजा हो गया, संलग्न और प्रयत्न की संसार प्रशंसा करता है। निर्बल और आलसी को सबने बुरा कहा है।

(३१) मन से प्रयत्न करने में जिसे आनन्द आता है, बिना विचारे काम करने से जो बचता है, ऐसा मनुष्य एक तीव्र अग्नि की भाँति धधकता और अपने सारे बन्धनों को जला डालता है।

(३२) एक साधु जिसे सोच-विचार से प्रेम है जो आँख बन्द करके अधाधुन्ध काम करने से डरता है, अपने ऊँचे पद से गिर नही सकता, वह तो मुक्ति के द्वार पर खड़ा है ।

तीसरा उपदेश (मन)

(३३) जिस प्रकार लुहार तीर को सीधा करता है, ज्ञानी अपने चंचल मन को जिसका रोकना कठिन है, वस मे करता और सीधे रास्ते पर लगता है ।

(३४) जिस प्रकार पृथ्वी पर पड़ी पहुई मछली पानी मे जाने को तड़पती है हमारा शुद्ध मन भी माया के फन्दे से छूटने को तड़पता है ।

(३५) मन झट हाथ से निकल जाने वाला और मनमाने मार्ग पर चलने वाला है, इसका रोकना कठिन है, परन्तु सधा हुआ मन, रुका हुआ मन, सदा सुख देता है, मन का साधना अच्छा है ।

(३६) ज्ञानी को चाहिए, मन को बस मे रखे, इसकी अच्छी तरह चौकसी करे, क्योंकि यह जाता हुआ दिखाई नही देता और बडा धोखा देने वाला है, भाई ! बस किया हुआ मन खुशियो की खान है ।

(३७) जो अपने ऐसे मन को (जो कही का कही चला जाता है, अकेला ही भागता और बिना पॉव दौडता है, दिल की कोठरी मे छिपा रहता है और बात करते-करते उड़ जाता है) जो रोकते हैं, वे माया के जाल से बच जाते है ।

(३८) जिसका विश्वास कच्चा है, जो अपने धर्म और कर्म को नही जानता जिसका मन चंचल और घबराया है । उसकी विद्या सदा अधूरी रहेगी ।

(३९) यदि मनुष्य के विचार बिखरे हुए नहीं है, मन अशांति से रहित है, अच्छे बुरे का ध्यान मन से निकाल चुका है । हर प्रकार चौकन्ना व सावधान है उसके लिए कोई डर नही ।

(४०) जब यह जान लिया कि यह शरीर घड़े की भॉति खाली है तो अपने मन को पहाड़ की भॉति अचल बनाकर ज्ञान के शस्त्रो से माया पर धावा बोल दे और जब तक जीत न जाय विश्राम न ले ।

(४१) खेद है कि अतिशीघ्र एक दिन यह शरीर निरुपयोगी लकड़ी के कुन्दे की भॉति निष्क्रिय पराधीन पृथ्वी पर निर्जीव पडा होगा ।

(४२) बैर करने वाला बैरी को, शत्रुता करने वाला शत्रु को, इतना दुःख नही देता जितना कि खोटे रास्ते पर चलने वाला मन ।

(४३) माता-पिता, मित्र, कुटुम्बी जन और सम्बन्धी इतना सुख नहीं देते जितना कि अच्छे रास्ते पर चलने वाला मन ।

चौथा उपदेश (फूल)

(४४) इस संसार को कौन जीतेगा, मृत्यु पर कौन विजय पायेगा और जिस प्रकार चतुर अच्छा फूल ढूढ़ लेता है, कौन सच्चे रास्ते को देखेगा ।

(४५) श्रद्धा वाला चेला इस संसार को जीतेगा। देवताओं और मृत्यु पर जय पायेगा और जिस भॉति ऑखों वाला सुन्दर सुगन्धित फूल देख लेता है, सच्चा चेला दिखाए हुए मार्ग को देखेगा बताए हुए मार्ग पर चलेगा।

(४६) जो यह जानता है कि शरीर पानी की बुद बुद की भॉति है, जो यह जानता है यह धोखा है वह माया के तीव्र तीरो को तोड़ डालेगा उसका यमराज या मृत्यु के दूत से सामना नही होता।

(४७) जिस प्रकार नदी का पूर सोते हुए गॉव को बहा ले जाता है, मृत्यु बात करते-करते इच्छा भरे फूल चुनते-चुनते मनुष्य को बहा ले जाती है।

(४८) जिसकी बुद्धि मे अभी अँधेरा है, जिसकी इच्छा अभी पूरी नही हुई, मृत्यु ऐसे मनुष्य को फूल की भॉति तोड डालती है।

(४९) जिस भॉति मधुमक्खी फूल का रग-रूप बिगाड़े बिना रस लेकर उड़ जाती है साधु को भी बस्ती मे इसी विध (प्रकार) रहना चाहिए।

(५०) औरो का हठ बुराई और कुव्यवहार को न देख अपनी बुराइयो और अच्छाइयो पर दृष्टि डाले।

(५१) एक सुन्दर किन्तु सुगन्ध रहित फूल की भॉति झूठे के मीठे, परन्तु झूंठे शब्द है जो कहने ही के है करने के नही।

(५२) सच्चे की बात एक सुन्दर और सुगन्धित फूल की भॉति मीठी और भली मालूम होती है।

(५३) जिस प्रकार फूलों से नाना भॉति के गुलदस्ते बन जाते हैं, भले मनुष्यों से बहुतों का भला होता है।

(५४) पुष्प की और चन्दन की सुगन्ध विपरीत नही उड़ती, परनतु भले आदमी की कीर्ति विपरीत वायु में फैलती है भले की भलाई का निर्वाह प्रत्येक जगह है।

(५५) भलाई की सुगन्ध, चन्दन, अगर और कमल के पुष्पों की सुगन्ध से भी बढ़कर है।

(५६) मालाबारी चन्दन की सुगन्ध सर्वथा सूक्ष्म है पर भलाई की सुगन्ध आकाश से भी परे पहुँचती है।

(५७) जो भले हैं जिनके मन में भलाई भर रही है जो सोच-विचार कर चलते है माया उनके पास भी नही आ सकती।

(५८-५९) निरुपयोगी और फेंके हुए कूड़े के ढेर पर सुन्दर और सुगन्धित फूल उगता है। ज्ञानी निरुद्योगी और बुरे लोगो मे ज्ञान से प्रकाशित होकर चमकता है।

पाँचवा उपदेश (अज्ञानी)

(६०) जागते हुए की रात्रि बड़ी है, थके हुए को एक मील की यात्रा भी कठिन है, धर्म का स्वरूप न जानने वाले का जीवन प्रपंच और संसार दुःख का स्थान मालूम होता है।

(६१) यात्रा में अपने से अच्छा या बराबर का साथी मिले तो अकेला ही चल निकले मूर्ख का साथ, खोटे की संगति अच्छी नही।

(६२) ये मेरे बेटे है, ये मेरा धन है, अज्ञानी इन विचारो मे रहता है ये तो आपके अपने नही, बेटे और धन भला किसका साथ देगा।

(६३) वह अज्ञानी जो अपने को मूर्ख समझता है किसी सीमा तक ज्ञानी है परन्तु वह नादान जो अपने को ज्ञानी समझता है प्रथम श्रेणी का मूर्ख है।

(६४) न समझ सारे जीवन अच्छो से मिलता रहे, जिस प्रकार चमचे को पदार्थ का स्वाद नही आता उसी प्रकार मूर्ख को वास्तविकता का पता नही लगता है।

(६५) जिस प्रकार जीभ भोजन का स्वाद लेती है, ज्ञानी एक ही मिनट मे अच्छो की संगति से असली बात ग्रहण कर लेता है।

(६६) ना समझ अज्ञानी स्वयं अपना शत्रु है, क्योंकि बुरा फल लाने वाला बुरा कार्य वह अपने आप ही करता है।

(६७) वह काम अच्छा काम नही जिसके लिए पछताना हो और जिसका फल रो-रो के खाना पडे।

(६८) वह काम अच्छा काम है जिसके लिए पछताना न हो और जिसका फल स्वाद ले ले के खाएँ।

(६९) जब तक बुरा काम बुरे फल नही लाता मूर्ख उसे मीठा समझता है किन्तु जब वह पक जाता है, तब कड़वा निकलता है, दुःख देता है और बुरा सिद्ध होता है।

(७०) नादान आजीवन तिनके से उठा-उठाकर खाता रहे परन्तु जिन्होंने धर्म को अच्छी तरह समझ लिया, उनका सौंवा भाग भी नहीं।

(७१) बुरा काम तुर्त के दूध की तरह शीघ्र नहीं बिगड़ जाता, राख से ढकी हुई चिनगारी के समान पाप पापी को जलाकर भस्म कर देता है।

(७२) जब बुरी बात खुल जाती है तो दुःख देती है। बुरी बात करने वाले का मुँह काला होता है और बुराई एक दिन उसका सर उडा देती है।

(७३) मूर्ख झूठा वैभव और दूसरों में आदर चाहा करे मान बड़ाई का विचार किया करे, कुछ नहीं होता।

(७४) जिस अज्ञानी के ऐसे विचार है कि सब यह जान जाएँ कि यह काम इसके प्रयत्न से हुआ है, मानने योग्य हैअथवा अयोग्य तो भी ससार मेरा कहना माने, इत्यादि तो इसका घमड और इसकी इच्छा अधिक बढ़ती है।

(७५) एक रास्ता तो संसार के झूठे धन की ओर ले जाता है, दूसरा मुक्ति का द्वार खोलता है, गले की फॉसी निकालता है, जिसने यह समझ लिया वह मिथ्या मान बड़ाई का विचार नही करता, इस संसार से बचने के लिए प्रयत्न करता है।

छठा उपदेश (पंडित)

(७६) यदि तुम्हें ऐसा मनुष्य मिले जो ऐसी बात बताता है जिससे बचना चाहिए और बुरी बात के लिए बुरा

भला कहता है वह ज्ञानी है तो ऐसे भले मनुष्य का कहना अवश्य मानो ऐसो का कहना मानने मे लाभ ही लाभ है।

(७७) उसका उपदेश सुनो, उसे समझाने दो, बुरी बात पर कडवा बोलने दो, भले ऐसो की सेवा करते है बुरे नि:सदेह उन्हे बुरा कहते है।

(७८) बुरो से मेल-जोल न करो, अच्छो का सग करो, भलो के साथी बनो।

(७९) धर्म ही जिनका भोजन है, धर्म ही जिनका पानी है, ऐसे शान्त चित्त सदा प्रसन्न रहते है ज्ञानी भले मनुष्यों के बताए मार्ग पर चलने से प्रसन्न होते है।

(८०) नहर बनाने वाले जहाॅ चाहे पानी ले जाते है, तीर बनाने वाले तीर को सीधा करते है, बढ़ई लकडी को गढ़ता है, ज्ञानी अपने को सुधारता है।

(८१) जिस प्रकार एक दृढ चट्टान हवा से नहीं हिलती, ज्ञानी बुरा भले कहने से अपना मार्ग नही छोडता।

(८२) ज्ञानी भली बात समझकर गहरी और स्थिर झील के पानी की भाॅति शान्त और स्थिर रहते है।

(८३) प्रवीण प्रत्येक दशा मे प्रसन्न हैं, इन्द्रियो के वश होकर कोई बात नही करते, दु:ख हो या सुख कभी साहस नही खोते न कभी इन्हे घमण्ड अथवा अभिमान होता है।

(८४) जो अपने लिए धन, दौलत अथवा सन्तान की इच्छा नही करता न बड़ा बनना चाहता है, न अपने उद्देश्य के लिए धोखा करता है न अपने लाभ के हेतु बुरी बात करता है वह ज्ञानी नेक और भला है।

(८५) बहुत थोड़े ऐसे है जो ससार सागर के किनारे पर पहुॅचते हैं, नहीं तो बीच ही में डूब जाते है।

(८६) जो भली बात को अच्छी प्रकार समझकर उस पर पूरी प्रकार पालन करते हैं, वह नाश के मार्ग से निकल जाते हैं चाहे वह कितना ही कठिन हो।

(८७) ज्ञानी को चाहिए, अंधकार की राह छोड़ प्रकाश का मार्ग लें, घर छोड़ जब बेघर हो गया तो एकान्त में जहाॅ प्रसन्नता कठिन ज़ान पड़ती है आनन्द की खोज करे, ज्ञानी को चाहिए कि खुशियों को छोड़, किसी को अपना न माने मन के मैल को धोवे।

(८८-८९) जिसने विद्या की बारीकियो को समझ लिया है, जिसको किसी वस्तु का लगाव नही, जो स्वतन्त्रता से प्रसन्न है, जिसकी इच्छाएॅ जाती रही हैं, जो विद्या के प्रकाश और ज्ञान के उजाले से प्रकाशित है, वह इस ससार में रहता हुआ भी स्वतंत्र है, जीते जी मुक्त है।

सातवाँ उपदेश (शत्रु का नाश करने वाला)

(९०) जिसकी जीवन यात्रा समाप्त हो गई, जिसने दु:ख का नाश कर दिया, जिसने सर्व प्रकार छुडा लिया जिसने सम्पूर्ण बन्धन काट दिये, उसे कोई दु:ख नही।

(९१) भले मनुष्य मन को स्थिर कर अपने ही विचार से लड़ते हैं किसी स्थान को घर नहीं समझते और जिस प्रकार बगुला सूखी झील छोड़ देता है ये सब कुछ छोड़कर विरक्त हो जाते हैं।

(९२-९३) जिनके पास धन-दौलत नही है, जिनके मन मर गए, रस रसहीन जान पडता है, जिन्होने निरुपाधि, निर्वाण को समझ लिया है, हवा के पक्षियो की भॉति उनका पन्थ उनका रहस्य जानना कठिन है।

(९४) थके हुए घोडे की भॉति जिनकी इन्द्रियो मे जान नहीं रही, जिनके मन के हाथ पॉव टूट गए, जो अभिमान से शून्य है, उन पर देवता भी ईर्षा (ईर्ष्या) करते है।

(९५) जो पृथ्वी की भॉति सहन करता हुआ, अपने काम मे लगा हुआ है वह निर्मल झील की पानी की भॉति स्वच्छ और जन्म मरण से मुक्त है।

(९६) जिनका मन शान्त है, जिनके प्रत्येक विचार बात और काम शान्ति के हेतु हैं, सच्ची विद्या की ज्योति उन्हे शान्त स्वरूप कर देती है।

(९७) जो झूठे विश्वास से मुक्त है जो अजन्मा को जानता है, जिसने सर्वबन्धनों को काट दिया है, जिसे किसी वस्तु का लालच नही है, जिसकी वासनाएँ विदा हो गई है, वह महापुरुष है और पूजा के योग्य है।

(९८) कुटियो मे रहे, जगल मे बसे, पृथ्वी पर सोवे, सज्जन पुरुष जहॉ भी रहता है, वह स्थान आनन्ददायक ही होता है।

(९९) जंगल मे बडा मगल है, जहॉ औरो को कोई प्रसन्नता दिखलाई नही देती, वासनाओ से विरक्त को वहॉ बड़ा आनन्द मिलता है क्योकि वह वहॉ प्रसन्नता की खोज नही करता, सासारिक सुख नही ढूँढ़ता।

आठवाँ उपदेश (मन)

(१००-१०१) एक बात चाहे हजारों शब्दों में कही गई हो परन्तु वे शब्द अर्थ रहित हों तो किस काम के ज्ञान का एक अक्षर अच्छा है जिसे पढ़ने से ज्ञान चक्षु खुलें, जिसके सुनने से मन शान्त हो।

(१०२) फालतू शब्दो और बेकार बातो की पुस्तकें जन्म भर पढ़ते रहो कुछ हाथ नहीं लगता, रहस्य की बात एक ही अच्छी जिसे सुनकर भेद का पर्दा हटे।

(१०३) युद्ध मे कोई अकेला हजारो बार हजारो को परास्त कर दे परन्तु विद्वानो के सम्मुख शूरमा वही है जो मन को मारता है।

(१०४-१०५) दूसरो को जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीतना अच्छा है। अपने को जीते हुए नियम से रहने और नियम पूर्वक चलने वाले की जीत को देवता, गंधर्व, माया और ब्रह्मा भी हार में नही बदल सके।

(१०६-१०७) मनुष्य चिरकाल तक पूजा-पाठ, दान-पुण्य करता रहे, बरसों अग्नि तपे, जंगल में तपस्या करे परन्तु यदि वह एक मिनट भी दिल से ऐसे आदमी की प्रतिष्ठा करे जो सच्चाई पर दृढ़ता से स्थित है तो यह एक मिनट जन्म भर की पूजा पाठ से अच्छा है।

(१०८) अपने लाभ के लिए जो चढ़ावे चढ़ाता है और दान करता है वह फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं भले आदमियों का मन से सत्कार करना लाभ का व्यवसाय है।

(१०९) जो वृद्धो और बडो का सच्चे मन से आदर करता है उसकी आयु, बल, कीर्ति दिन दूनी बढती है।

(११०) मन को बस मे रखने वाला बुरे चलन और खोटा सौ वर्ष भी जीता रहे तो क्या ? नेक चलन और सोच-विचार का जीवन एक दिन का भी अच्छा है।

(१११) अज्ञानी सौ वर्ष भी जीवित रहे तो किस काम का, ज्ञानी का एक दिन का जीवन भी अच्छा है।

(११२) निर्बल, सुस्त और निकम्मा सहस्र वर्ष भी जीवित रहे तो व्यर्थ है, दृढ़ हृदय और अपने कार्य मे सलग्न रहने वाले का एक ही दिन पर्याप्त है।

(११३) आदि और अन्त की बात को जिसने नही समझा वह युगो-युगो जीवित रहा तो क्या लाभ। प्रारम्भिक अन्तिम के भेद की समझ थोड़ी देर की भी अच्छी होती है।

(११४) जिसे कभी न मिटने वाली जगह न मिली वह युगो जीवित रहा तो क्या लाभ।

(११५) जिसने सच्चे धर्म को न पहिचाना वह सौ वर्ष भी जिया तो क्या जिया, धर्म के पथ पर एक दिन का चलना भी अच्छा है।

नवाँ उपदेश (पाप-बुराई)

(११६) मनुष्य को चाहिए कि भलाई की तरफ शीघ्र बढ़े और बुराई को विचार से दूर रक्खे, जो भलाई के मार्ग पर सुस्ती से चलता है उसे बुराई भली लगती है।

(११७) किसी से कोई काम बुरा हो जाय तो उसे फिर न करे, बुरे काम से प्रसन्न न हो क्योकि पापो का संग्रह करना दुःख देगा।

(११८) मनुष्य से जब कोई अच्छा काम हो जाय तो ऐसे काम फिर करे, क्योकि अच्छे काम सुख देगे।

(११९) जब तक बुरे काम पूर्ण बढ़ नही जाते बुरा मनुष्य भी प्रसन्न होता है, परन्तु जब वे बुरे फल ले आते हैं तो दुःख होता है।

(१२०) भला मनुष्य भी जब तक उसके अच्छे काम फल नही लाते कुछ दिन दुःख उठाता है, परन्तु जब अच्छे काम के अच्छे फल लगते है तो उसे प्रसन्नता होती है।

(१२१) मनुष्य को चाहिए कि बुरी बातों को बुरी न समझे और यह न सोचे कि ये मेरा क्या बिगाड़ेगा क्योकि जिस भाँति बूँद-बूँद पानी से घडा भर जाता है थोड़ी-थोड़ी करके एक दिन मनुष्य बुराइयों से भर जाता है।

(१२२) अच्छी बातो को यूँ ही न टाल दो और यह न सोचो कि इस किञ्चित बात से क्या होगा। छोटे-छोटे मिलकर एक दिन अच्छे कामों का ढेर बन जाता है।

(१२३) जिस प्रकार धनवान यात्री यदि उसके साथी थोड़े हों तो हानिकारक मार्ग से बचता है, जिसे प्राण प्यारे हैं वह विष से परे रहता है, इसीप्रकार अपना भला चाहने वाले मनुष्य को चाहिए कि बुराई से दूर रहे।

(१२४) जिसके हाथ में घाव नही वह विष को स्पर्श कर सकता है, क्योंकि बिना घाव के विष का प्रभाव नही

होता, इसी प्रकार जो बुरा काम नही करता उसके लिए कोई बुराई नही।

(१२५) जिस प्रकार आकाश की ओर थूका हुआ अपने ही ऊपर आकर गिरता है, इसी प्रकार जो सत्पुरुष और दीन मनुष्यो को सताता है वह स्वत: ही दु:ख उठाता है।

(१२६) अज्ञानी बार-बार जन्म लेता और मरता है, बुरे नरक मे जाते है और भले स्वर्ग मे, जो सासारिक इच्छाओ से पवित्र है वही मुक्त हो जाते है।

(१२७-१२८) न आकाश मे न समुद्र की गहराई मे' न पहाड़ो की गुफा मे'न पर्वत की चोटी पर' ससार मे कही ऐसा स्थान दृष्टि नही आता जहॉ मनुष्य अपने कामो के बुरे फल से बच सके या मृत्यु की दृष्टि से ओझल हो सके।

दसवाँ उपदेश (डंड)

(१२९) सब डंड से कॉपते है, सब मौत से भय खाते है, याद रक्खो तुम भी मनुष्य हो, किसी को मत मारो और न किसी को सताने मे सहायता करो।

(१३०-१३१) सब डंड से डरते है, सबको प्राण प्यारे है, अन्ततोगत्वा तुम भी जीवधारी हो, अत: किसी को मत सताओ, किसी को मत मारो, जो किसी को मारता है या दु:ख देता है मृत्यु के पश्चात् उसे भी हर्ष नही होता।

(१३२) जिसको अपने प्राण प्यारे है, वह न किसी का जीवन-घात करता है, न किसी को दु:ख देता है, मरने के पीछे स्वत: सुखी रहता है।

(१३३) किसी से कड़वी बात न कहो, क्योकि दूसरा भी वैसा ही उत्तर देगा, क्रोध और घृणायुक्त शब्द अनुचित होते है, 'थप्पड का बदला थप्पड़' स्वत: को दु:ख देगा।

(१३४) टूटी हुई घड़ियाल की भॉति यदि तुझसे कोई ध्वनि नहीं निकलती तो तू बुराई की आँच से मुक्त हो गया।

(१३५) जिस प्रकार ग्वालिया लकड़ी से हॉक कर ढोरो को खड्ग मे ढकेल देता है, काल एक दिन सब जानवरो को आगे रख लेगा।

(१३६) बुरा काम करते समय मूर्ख यह नहीं सोचता कि मै बुरा कर रहा हूॅ फिर अपनी ही लगाई हुई अग्नि से जलकर तडपता है।

(१३७ से १४०) जो निरपराधो और अवाक जीवों को दु:ख देता है, शीघ्र इस गति को पहुॅचता है, उसे राजरोग अर्थात् कभी अच्छी न होने वाली बीमारियॉ घेर लेती हैं, शारीरिक दु:ख और चित्त मे बेचैनी होती है, राजा की ओर से डंड मिलता है, अपराध लगता है, उसके सम्बन्धियों और द्रव्य की हानि होती है, उस पर बिजली गिरती है, बुरी तरह मरता है और मरने के अनन्तर भी नरक मे जाता है, इत्यादि दुर्दशाओं को वह प्राप्त होता है।

(१४१) जब तक मनुष्य अपनी इच्छाओ को न जीत ले, बाल बढ़ाना, भभूत-रमाना, नग्न रहना, पृथ्वी पर सोना व्रत रखना, उपवास करना, उसे पवित्र नहीं कर सके।

(१४२) अच्छे कपड़े पहिने किन्तु दिल मे सन्तोष और शान्ति है, मन वश में है, नेक जीवन और नेक चलन है, जिसकी दूसरो के गुणो पर दृष्टि नही, वह निस्सदेह सच्चा साधु और पूर्ण महात्मा है ।

(१४३) क्या संसार मे कोई ऐसा लज्जावान मनुष्य है जिसे अच्छे घोडे की भॉति चाबुक खाते हुए लज्जा आती है ।

(१४४) असली घोड़े की भॉति जब तुझ पर कोडे पडे तो पहले से अधिक सचेत हो जा, लगन को बढा, धर्म को जानकर बात को समझकर सत् बुद्धि और भलाई की सहायता से उस दु:ख से पार हो, चाल चलन का अच्छा और अज्ञान से बचकर सदाचारी बन जा ।

(१४५) जिस प्रकार तीर बनाने वाला तीर को सीधा करता है, बढ़ई लकड़ी को सुडोल बनाता है भले लोग अपने आप को सुधारते हैं ।

ग्यारहवाँ उपदेश (बुढ़ापा वृद्धा पकाल)

(१४६) कैसा हॅसना, कहॉ की प्रसन्नता ससार चारो ओर जल रहा है । अन्धकार से घिरे हुए अंधो ! तुम्हे प्रकाश की खोज नही ।

(१४७) इस मिट्टी के पुतले पर दृष्टि डालो, घावों से भरा हुआ और रोगो से घिरा हुआ । इच्छाओ का दास बिल्कुल असमर्थ और लाचार है ।

(१४८) शरीर एक व्यर्थ नाश होने वाली वस्तु है, यह कूड़े का ढेर शीघ्र बिखर जायेगा, जीवन मृत्यु पर समाप्त हो जायेगा ।

(१४९) जब इन गली सड़ी हड्डियो पर दृष्टि पड़ती है जिसे बरसाती कीड़े की भॉति यो ही फेक देते है, तो जीवन का आनन्द चला जाता है ।

(१५०) हड्डियों का पुतला मॉस से ढक रहा है । बुढ़ापा, मृत्यु, घमण्ड और धोखा, उसमें निवास करते है ।

(१५१) राजा के चमकते हुए रथ नाश हो जाते हैं, शरीर भी मिट्टी में मिल जाता है परन्तु भलो की भलाई कभी नही मिटती है, अच्छो ने अच्छों से यही कहा है ।

(१५२) जिस मनुष्य ने संसार में आकर अच्छी बाते न जानी, भलाई नही की, वह बैल की भॉति शीघ्र बूढा हो जाता है, उसका शरीर मोटा हो जाता है किन्तु ज्ञान नही बढता है ।

(१५३-५४) इस नाशवान घर के बनाने वाले की खोज अगणित जीवन धारण किए किन्तु वह नही मिला ऐ ! इस झूठे घर को बनाने वाली माया तेरा पता चल गया, तेरी बात खुल गई । अब तू यह झूठा मकान फिर नहीं बना सकती है । तेरी पाल टूट गई ! तेरे घर की कलें गिर पड़ी । अब मैं इच्छाओं के नाश हो जाने वाले स्थान पर पहुॅच गया ! अब मैं सदा बने रहने वाले पथ को पा गया ।

(१५५-५६) जो सोच-समझकर नही चले, जिन्होने बुरे भले का विचार नही किया, समय पर सच्चा धन नही कमाया, वह टूटी हुई कमान की भॉति पृथ्वी पर पडे होगे, बिना मछली की झील के किनारे बूढे बगुले की भॉति तडप-तडप कर मर जायेगे।

बारहवाँ उपदेश (आप स्वयं)

(१५७) यदि मनुष्य को अपने से प्रेम है तो अपनी जॉच पडताल करता रहे, तीन दशाओ (बचपन, यौवन, बुढ़ापा) मे, कम से कम बुढ़ापा मे तो बुद्धिमान अपनी देखभाल करे।

(१५८) प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि पहिले स्वयं अच्छे व सीधे रास्ते पर चले, फिर दूसरों को भी भले रास्ते पर लगाएँ, इस प्रकार ज्ञानी दु:खों से बच जाता है।

(१५९) जैसा तू दूसरों को उपदेश करता है, वैसे तू भी उस पर चल।

(१६०) तू आप अपना स्वामी है दूसरा तेरा कौन स्वामी हो सकता है, अपने को वश मे किए हुए को वह स्वामी मिलता है जो किसी को नही मिलता।

(१६१) अपना ही बुरा कार्य, अपने ही हाथो से उत्पन्न हुई बुराई, अपने ही हाथों से पाले पोसे बुरे काम, मूर्ख को इस प्रकार चूर-चूर कर डालते है जिस प्रकार हीरा कॉच को चूर-चूर कर डालता है।

(१६२) जिस प्रकार पेड़ पर फैली हुई बेल उसी पेड़ को हानि पहुँचाती है, पाप करने वाला स्वयं ही अपने आप वह दशा कर लेता है, जो उसका शत्रु चाहता है।

(१६३) बुरी बात (दूसरो को दु:ख देने वाला काम कर लेना) आसान है, भली बात (औरो को सुख देने वाला काम) करना कठिन है।

(१६४) वह मूर्ख जो बुद्धिमानो और अच्छे मनुष्यों की बात पर नाक भौं चढ़ाता है, और बुरो का कहना मानता है, अपने पैरों पर अपने हाथों से कुल्हाड़ी मारता है, स्वयं ही अपनी हानि करता है।

(१६५) बुरा काम भी यह आप ही करता है आप ही उसके बुरे परिणाम पर पहुँचता है, बुराई से बचने वाला यह स्वयं ही है, बुराई का धब्बा भी इसके धोने से ही छूटेगा, दूसरा न किसी को बुरा बना सकता है न कोई किसी का मैल धो सकता है।

(१६६) दूसरों के हेतु अपना कार्य मत छोड़ो, जब तुम्हे तुम्हारा कर्त्तव्य समझ में आ जायेगा तो शीघ्र कार्य मे लग जाना।

तेरहवाँ उपदेश (संसार)

(१६७) बुरे पन्थ पर न चलो असावधानी में अपना समय न खोओ, बुरे नियमों को छोड़ो, संसार से प्रेम न करो।

(१६८) अपने को जगाओ, आलस्य को छोड़ो, भलाई का रास्ता पकड़ो, क्योकि भलों को दोनों लोक में आराम

है।

(१६९) भलाई की डगरिया पर हो लो, पापो के रास्ते से बचो, भलो के लोक-परलोक दोनो भले है।

(१७०) संसार को पानी के बुदबुद की भॉति समझो, इसे धोखा ही धोखा मानो, जो संसार को अनित्य मानता है, उससे यमराज अर्थात् मृत्यु का दूत, ऑख नही मिला सकता है।

(१७१) तनिक इस ससार को देखो ! देखने मे कितना मनोहर प्रतीत होता है। मूर्ख इससे मन लगाते है, ज्ञानी उसे छूते तक नही।

(१७२) प्रथम जो निश्चिन्त था, परन्तु अब चौकन्ना रहा गया है। समझ आ गई है, ऑखे खुल गई है, वह ससार को इस प्रकार से प्रकाशित कर देता है, जिस प्रकारं बादलो से निकला हुआ चन्द्र।

(१७३) जिसके बुरे कृत्य अच्छे कार्यों से बदल जाते हैं वह संसार को इस प्रकार प्रकाशित कर देता है, जिस प्रकार बादलो से निकला हुआ चन्दा।

(१७४) संसार एक अन्धकार का स्थान है, बहुत कम ऐसे हैं, जिन्हें यह दिखाई देता है। फन्दे से निकले हुए जानवर की भॉति गिने चुने विरले ही उसके फन्दे से बचते है और थोड़े ही स्वर्ग को जाते है।

(१७५) हंस आकाश की ओर ऊँचा उड़ता है और बिना थकान उडा चला जाता है, ज्ञानी भी उसी प्रकार माया और उसके साथी मन को जीतकर ससार को छोड़ जाता है।

(१७६) जो मनुष्य सच्चे धर्म के विरुद्ध चलता है, दूसरे लोक और आने वाले समय पर हॅसता है, ऐसा कौन सा कार्य है जो वह नही कर सकता है।

(१७७) ओछा और कम साहसी पुरुष दिव्य लोक मे नही जाता है, नासमझ स्वतन्त्रता का सत्कार नही करता है, विद्वान् स्वतंत्रता के आनन्द को जानता है और फिर अपनी शुभ आकांक्षाओं से दोनों लोक का आनन्द लेता है।

(१७८) पूर्ण संसार का राजा बन जाने और स्वर्ग मिल जाने से भलाई का भिखारी बनना और भलाई की ओर प्रथम पदार्पण करना कई गुणा अच्छा है।

चौदहवाँ उपदेश (बुद्ध जगा हुआ)

(१७९) जिसकी जीत को कोई जीत नही सकता, जिसकी विजय मे कोई विघ्न नही कर सकता उसे कोई क्या मार्ग बता सकता है, वह तो अजीत, जागा हुआ पूर्ण ज्ञानी, सब कुछ ज्ञाता और सावधान है।

(१८०) इच्छा, माया का जाल, लालच और विष जिसे उसके पथ से नही डिगा सकते ऐसे जागे हुए ज्ञानी रमते हुए को किस लालच से ललचाऍ और क्यों कर पथ से हटाए।

(१८१) जो भूल को भुला चुके हैं, ध्यान में निमग्न है, काम के ज्ञाता है, ज्ञानवान हैं वे ऐसी जगह विश्राम कर रहे है जिसके हेतु देवता भी तरसते हैं।

(१८२) मनुष्य का सद्विचार उत्पन्न होना कठिन है, मनुष्य देह प्राप्त होना, सत्संग होना और धर्म का पथ मिलना भी कठिन है, बुद्ध कभी-कभी जन्म लेते है।

(१८३) सब विद्वानो का यही कहना है कि पापो से बचो, अवगुण छोड़ों, भलाई करो, भले बनो, मन को शुद्ध करो और हृदय पवित्र करो।

(१८४) विद्वानो ने सन्तोष को सबसे बडी तपस्या और दु:ख सहने की सिद्धि को निर्वाण माना है, जो औरो को दु:ख देता है वह कैसा विजयी कहा जा सकता है, दूसरो का अनादर करने वाला साधु नही।

(१८५) किसी को अपराध न लगाओ, किसी को न सताओ, नियम के भीतर रहो, थोडा खाओ, एकान्त झोपडी मे रहो, सदा अच्छी बातों मे समय व्यतीत करो, महात्माओ का यही उपदेश है।

(१८६) सोना भी यदि बरसे, इच्छा किसी की पूरी नही होती, जिसने जान लिया कि इच्छा एक झूठा आनन्द और दु:ख देने वाली वस्तु है, वही ज्ञानी है।

(१८७) स्वर्ग के भोगो में जिसे आनन्द नही, अच्छी प्रकार जागा हुआ त्यागी तो इच्छाओ के नाश करने से ही आनन्दित होता है।

(१८८-८९) दु:ख के भय से पुरुष कई प्रकार की शरण ढूँढते, पहाड़ो की गुफाओ मे सोते, जंगल मे निवास करते, पेड़ो की कुँज में विश्राम करते है, परन्तु यहाँ शान्ति कहाँ। यहाँ मनुष्य को दु:खो से छुटकारा नही मिलता।

(१९०-९१) जागते हुए की शरण जा, धर्म का आश्रय ले सन्तों का पल्ला पकड़ और इन चार बातो को समझ– (१) दु:ख है (२) दु:ख का कारण हमारा ही अज्ञान है (३) दु:ख ज्ञान से दूर हो जाता है (४) ज्ञान के पथ के आठ साधन है।

(१९२) शाति का स्थान इसमें है, सुख का पथ यह है ऐसे ज्ञान पर विश्वास करने वाले सारे दु:खो से छूट जाते हैं।

(१९३) ज्ञानी आसानी से नही मिलते, साधु हर स्थान पर नहीं होते, जब ये कही जन्म लेते हैं तो उस कुल का बेड़ा पार हो जाता है।

(१९४) भले पुरुषों का जन्म लेना और अच्छे धर्म का प्रचार अच्छा है, भले पुरुषों का प्रेम से रहना भी कल्याणकारी है, जिनका मन शांत और वश मे है उसकी सेवा करनी भी अच्छी है।

(१९५-१९६) अच्छा है वह पुरुष जो आदर के योग्य व्यक्तियों का आदर करता है, और आदर के योग्य हैं वे पुरुष जिन्होने पापो की फौज (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर्य ये छह अन्तरंग शत्रु) को जीत लिया है। जो दु:ख सागर से पार हो गए हैं।

पन्द्रहवाँ उपदेश (आनन्द)

(१९७) हम प्रसन्न हैं, क्योंकि घृणा करने वालों से हम घृणा नहीं करते, बैर करने वालों में रहते हुए उनसे प्रेम

करने मे हमने सुख देखा है।

(१९८) हम आराम से है, बीमारी से बचे हुए रोगियों मे रहते हुए, हमें निरोग रहना चाहिए।

(१९९) हमारी आनन्द से बीत रही है, इच्छा रहित, लालच रहित, लालचियो में रहते हुए संतोष से रहते है।

(२००) हम मग्न है, क्योकि हम किसी को अपना नही मानते, हम तो देवता है, हमारा भोजन तो आनन्द है।

(२०१) जीत वैर भाव उत्पन्न करता है, हारा हुआ सुखी नही, जो हार जीत से न्यारा है वही संतोषी और सुखी है।

(२०२) इच्छा से बढ़कर आग नहीं, घृणा से बढ़कर हारा हुआ पासा नही, शरीर से बढकर रोग नही, शांति और सतोष से बढकर सुख नहीं।

(२०३) भूख सबसे बुरा रोग है, शरीर दु:ख की जड़ है, जिसने यह भेद अच्छी प्रकार जान लिया वही सुखी है, निर्वाण पद यही है।

(२०४) स्वास्थ्य सहस्त्रों अच्छी वस्तुओ से भी बढ़कर है, संतोष सबसे बड़ा सुखद धन है, श्रद्धा और विश्वास सबसे अच्छे साथी है, निर्वाण ही सच्चा सुख है।

(२०५) जिन्होने विवेक और शांति की मीठी मिठाइयाॅ चखी है, जो धर्म के ठंडक पहुँचाने वाले सुरस पी रहे है, पाप के धब्बो से पवित्र है।

(२०६) भलो के दर्शन होने अच्छे है, उनके साथ रहने में सुख है, बुरो से मेल न होने में लाभ है।

(२०७) जो बुरो से मिलता जुलता है, उसे आगे चलकर बड़ा दु:ख होता है, खोटो का संग शत्रु के साथ की भाॅति दु:खदाई है, सज्जनो का साथ सुख देता है, जैसे किसी के प्रिय मित्र मिल जाए।

(२०८) मनुष्य को चाहिए कि ऐसो का अनुकरण करे जो ज्ञानी है, ज्ञानी बुद्धिमान गम्भीर धर्म पर चलने वाले और जो अपने कर्त्तव्य को जानते हैं, जिस प्रकार चन्द्र तारो के पीछे-पीछे चलता है तुम भी भलो के पथ पर चलो।

सोलहवाँ उपदेश (सुख आनन्द)

(२०९) जो झूठे सुखों में आनन्द ले रहा है, और विचार से काम नही लेता, जीवन का वास्तविक उद्देश्य भूल गया, संसार के प्रेम मे डूब रहा है, समय आयेगा, तब यह विचारकर चलने वालों को ईर्ष्या की दृष्टि से देखेगा।

(२१०) मनुष्य को चाहिए अच्दे और बुरे दोनो का विचार हृदय से निकाल दे, अच्छी वस्तु के प्राप्त न होने से दु:ख होता है और बुरी वस्तु के दर्शन से दु:ख होता हैं

(२११) किसी वस्तु से मन न लगा, क्योंकि प्रेम की वस्तु की हानि से दु:ख होता है, जो न किसी से प्रेम करते हैं, न घृणा, उनको कोई दु:ख नही।

(२१२) सुख से दु:ख होता है, सुख में डर होता है, जिसे सुख का विचार नही उसे न कोई दु:ख है न डर।

(२१३) प्रेम से शोक होता है, प्रेम मे डर होता है, जो मोह मे नही फसता उसे न शोक है न भय।

(२१४) इच्छा से दु:ख होता है, इच्छा भय उत्पन्न करती है, जो इच्छा से बचा हुआ है, उसे न शोक न मोह।

(२१५) हृदय के लगाव से विकलता होती है, दिल दु:खी होता है, जो लगाव से बिलग है उसे न विकलता है और न दु:ख है।

(२१६) लालच से शोक होता है, लालची डरता रहता है, जिसे लालच नही उसे न डर है न दु:ख।

(२१७) जो भला और बुद्धिमान है, न्यायप्रिय वाला और सत्य भाषी है, जिसे अपने काम से काम है, उसे ससार प्रेम करेगा।

(२१८) जिसे मुक्त हो जाने का विचार उत्पन्न हो गया है, जिसके मन मे मोह नही, ऐसी उन्नति की नदी पर ऊपर की ओ जा रहा है।

(२१९-२२०) जब कोई यात्रा से सकुशल आता है तो सम्बन्धी मित्र और प्रेमी उससे मिलने जाते है, इसी प्रकार जिसने ससार का विचार मन से निकाल दिया है और भले काम किये है, उसकी भलाइयॉ उसका स्वागत करने जाती है।

सत्रहवाँ उपदेश (क्रोध)

(२२१) क्रोध को छोड़ो, अहंकार से मुख मोड़ो, बंधन से निकला, जो नाम रुपात्मक वस्तु का इच्छुक नही, जो सबसे सम्बन्ध रहित है, जो कुछ अपना नही मानता, उस पर कोई संकट नही आता।

(२२२) भागते हुए घोड़ो की भॉति जो क्रोध से रोकता है, वह सच्चा सारथी है, दूसरे तो यो ही बागडोर पकड़ने वाले है।

(२२३) मनुष्य को चाहिए क्रोध को प्रेम से, बुराई को भलाई से, लालच को संतोष से और झूठ को सत्य से जीते।

(२२४) सत्य बोल, क्रोध के वशीभूत न हों, जो कुछ बन सके दे; इन तीन बातों से तू देवता बन जा।

(२२५) ज्ञानी और ऋषि जो किसी को कष्ट नही देते, जो अपने पर अधिकार पाए हुए हैं, वे उस एक रस रहने वाले पद में विश्राम करते हैं, उस पद को पाते हैं, जहॉ दु:ख का नाम नहीं।

(२२६) जो सदा सावधान है, जिन्हे हर समय पढ़ने-लिखने मे ध्यान है, स्वतंत्रता जिसके सम्मुख है; उनकी अनित्य इच्छाओ का नाश बहुत जल्द हो जायेगा।

(२२७) भाई यह आज की बात नहीं, पुरानी कहावत है कि संसार चुपचाप को भी बुरा कहता है, अधिक बोलने और कम बोलने वाले की भी बुराई करता है, संसार में ऐसा कोई नहीं जो सासारियो की बुराई से बचा हो।

(२२८) न कभी कोई ऐसा था न अब है न आगे कोई ऐसा होगा, जिसे सब बुरा ही बुरा या अच्छा ही अच्छा कहें।

(२२९-२३०) परन्तु खरा खोटा परखने वाले ही जिसकी दिन-रात प्रशसा करते है, जिसे दोष रहित गुणवान बताते हैं, जम्बू नदी के खरे सोने से ढले हुए सिक्के की भॉति उसे कौन दोष लगा सकता हैं; उसकी देवता भी प्रशसा करते है।

(२३१) शरीर के ध्यान को छोडो, मन को वश करके शरीर के मैल को धोओ, उसे भले काम मे लगाओ।

(२३२) जीभ की बुराईयो का विचार करो, जीभ को रोको, जीभ के दुर्गुणो को छोड़ो और भली बात मुँह से निकालो।

(२३३) मन की बुराईयो पर दृष्टि रखो, मन स दोष छोडो, और मन से भली बात विचारने का अभ्यास रखो।

(२३४) जिस ज्ञानी का शरीर वश मे है, जीभ पर लगाम है, वही जीता हुआ है।

अठारहवाँ उपदेश (मेल-अपवित्रता)

(२३५) अब तू एक सूखे हुए पत्ते की भॉति है, मृत्यु का दूत तेरे द्वार पर खडा है, चला चली का समय आ गया और तेरे पास यात्रा की कुछ सामग्री नही।

(२३६) अपने वास्ते कोई ठहरने की जगह बना, मन लगा कर बिना ठहरे काम करता रह, ज्ञानी बन, जब तेरी बुराईयॉ जाती रहेगी, कोई मैल नही रहेगा, तो तू भलो के ससार मे भरती हो जायेगा।

(२३७) जीवन का अन्त आ गया, मृत्यु पास आ गया, रास्ते में विश्राम का कोई ठौर नही और न यात्रा मे खाने-पीने की पोटली तेरी कांख मे है।

(२३८) अपने हेतु आश्रय का स्थान बना, लगातार काम कर, ज्ञानी बन, जब तेरी बुराइयॉ जाती रहेगी और तू निरपराध हो जायेगा तो मृत्यु और नाश से बच जायेगा।

(२३९) जिस प्रकार सुनार चॉदी के खोट को दूर कर देता है, ज्ञानी को चाहिए कि अपनी बुराईयों को एक-एक करके थोड़ी-थोड़ी करके दूर कर दे।

(२४०) जिस प्रकार लोह से उत्पन्न हुआ रंग लोहे को नष्ट कर देता है, बुराई करने वाले की बुराईयाँ स्वत: उसे बुराई के मार्ग पर ले जाती हैं।

(२४१) भजन भूखे रहने से, मकान सुधार न होने से, स्वास्थ्य आलस्य से बिगड़ जाता है, चौकीदार अज्ञानवश मारा जाता है।

(२४२) कुचलन स्त्री को बिगाड़ता है, कंजूसी भलाई करने वालों को, बुरा पथ लोक और परलोक दोनों को बिगाडता है।

(२४३) सब बुराईयों की जड़, सबसे बुरी वस्तु, अज्ञान और मूर्खता है, ऐ भाई ! इस बुराई को दूर कर और निरपराध हो ले।

(२४४) निर्लज्ज लड़ाई झगड़े कराने वाले, निरादर करने मे निडर मनुष्य को जीवन कठिन नही प्रतीत होता।

(२४५) जिसकी दृष्टि भलाई पर है, जिसे किसी के भले बुरे से सम्बन्ध नही, चुपचाप निरपराध और सोच विचार कर चलने वाला है, ऐसे भले को जीवन बिताना कठिन नही है।

(२४६-२४७) जो किसी को दुःख देता है, झूठ बोलता है और कपटी है, दूसरे की वस्तु लेता, दूसरे की स्त्री को बुरी दृष्टि से देखता और मद पीता है, वह अपनी जड़ आप उखाड़ता है और अपने आप अन्धे कुएँ मे कूदता है।

(२४८) ऐ मनुष्य ! सुन, देख, सोच और याद रख कि जिनका मन वश मे नही उनकी बुरी दशा होती है, पाप और लालच तुझे कई समय तक दुःख देगे।

(२४९) देने वाला अपनी शक्ति और श्रद्धा के अनुसार दान देता है, जो अधिक और कम मिलने का विचार करता है सदा दुःखी रहता है।

(२५०) जिसके हृदय से थोड़े अधिक का विचार निकल गया, इस बात की जड उखड़ गई उसे हर समय सुख है।

(२५१) इच्छा से बढ़कर कोई आग नही, घृणा से बढ़कर मगरमच्छ नहीं, अज्ञान से बढ़कर जाल नही, और लालच से बढ़कर बहा ले जाने वाली नदी नही।

(२५२) दूसरो के दोषों पर शीघ्र दृष्टि पड़ती है, अपनी बुराई कठिनाई से दिखती है, मूर्ख औरो की बुराईयो की छानबीन करता है और अपना पाप इस भॉति छुपाता है, जिस प्रकार कपटी खिलाड़ी खोटे पासों को औरो की दृष्टि से बचाता है।

(२५३) जो दूसरो की बुराईयो की खोज करता है और अपनी बुराईयो से चिढता है उसकी बुराईयॉ बढती रहेंगी, वह कभी निरपराध नही रहेगा।

(२५४) बाहर की बनावट से कोई साधु नही होता, संसार वाले बाहरी बनावट से प्रसन्न है, परन्तु बुद्ध जन और ज्ञानी दिखावे से सुरक्षित है।

(२५५) हवा मे कोई उड नही सकता, ऊपरी भेष किसी को साधु नही बन सकता, कोई मृत्यु से नहीं बचता, केवल बुद्ध ही मृत्यु और नाश होने से मुक्त हैं।

उन्नीसवाँ उपदेश (न्यायकारी)

(२५६-२५७) जो किसी काम मे कठिनाई से काम लेता है, वह न्यायकारी नही, न्यायकारी वह है, जो सत्य झूठ को जानता, दूसरों को ठीक रास्ता दिखाता है, बरजोरी के बदले प्रेम काम मे लाता है और स्वयं भी नियम पर चलता है।

(२५८) अधिक बाते करने से कोई पण्डित नहीं कहलाता। पण्डित तो वही है जो धैर्य वाला है, डर से रहित है।

(२५९) अधिक बोलने से कोई धर्म रक्षक नही बन जाता, वह थोडा जानने वाला भी अच्छा है, जो धर्म को सामने देखता और कर्त्तव्य को नेत्रो से ओझल होने नही देता।

(२६०) बाल सफेद हो जाने से कोई वृद्ध नही हो जाता, अज्ञानी बडा आयुष्मान भी हो तो क्या।

(२६१) जिसमे सत्य, भलाई, दया, शांति और सहनशीलता है, जो बुराई से मुक्त और ज्ञानी है, वही बडा है।

(२६२) कपटी, कृपण, अधिक बाते बनाने वाला, घमण्ड करने वाला, आदरणीय नही बन जाता है।

(२६३) जिसमें से ये सब बुराईयॉ जाती रही हो, वह निःसन्देह आदरणीय है।

(२६४) जिसका मन वश मे नही, जो झूठ बोलता है, वह केवल सिर मुड़ाने से साधु नही बन सकता, जिसकी इच्छाओ का नाश नही हुआ, उसे साधु कैसे कहे? साधु तो मन साधने वाले को कहते हैं।

(२६५) छोटी-बड़ी, थोड़ी अधिक, जो हर एक वस्तु को छोड़ता है वही साधु है।

(२६६) भीख मॉग कर खाने वाला साधु नही, जो साधन के पथ पर चलता है, वही साधु है।

(२६७) भिक्षा मॉग कर निर्वाह करने वाला भिक्षुक नही, जो बुराई भलाई से ऊँचा और सदाचारी है, चतुराई से संसार मे रहता है, वही भिक्षुक है।

(१६८-२६९) मौन रहने से कोई मुनि नही हो जाता, परन्तु वह ज्ञानी जो सोच-विचार कर और देखभालकर चलता, बुराई छोड़ता और भलाई को ग्रहण करता है मुनि है, चुपचाप मन को मारने वाला मुनि कहलाता है।

(२७०) जीवधारी को मारने वाला, आर्य या भला नही कहलाता, सब पर दया करने वाले का नाम आर्य है।

(२७१-२७२) किसी मुख्य नियम पर चलने से, कोई मुख्य प्रतिज्ञा करने, अधिक पढ़ने, समाधि लगाने या अकेला सोने से, मेरा छुटकारा नही हुआ, ऐ साधु! जब तक तेरी सब इच्छाओं का नाश न हो जाय शांति से न बैठ, विराम न ले।

बीसवाँ उपदेश (मार्ग-पथ)

(२७३) सबसे अच्छा मार्ग ८ साधन है, सबसे अच्छी बाते चार सच्चाईयॉ हैं, सबसे अच्छी भलाई इन्द्रियों को जीत लेना है और सबसे अच्छा मनुष्य वह है जिसकी आँखें देखती हैं, जिसे खोटे खरे की परख है।

(२७४) मार्ग यही है बुद्धि को शुद्ध करने, बुद्धि को प्रकाशित करने का और कोई उपाय नही, इस मार्ग पर चलो, यह माया को चक्कर में डाल देगा।

(२७५) यदि तुम समता के पथ पर चलते रहोगे तो दुःख कपूर की भाँति उड़ जायेगा।

(२७६) तुम्हें आप ही इस मार्ग पर प्रयत्न से चलना चाहिए, बुद्ध तो केवल मार्ग बताने वाले है, जो ज्ञानी इस मार्ग पर चलते हैं, वे माया के बन्धन से छूट जाते हैं।

(२७७) उत्पन्न होने वाली सब वस्तुएँ एक दिन नाश होती हैं, जो इसको जानता है और अच्छा देखता है उसका

दु:ख कुछ नही कर सकते, पवित्रता का मार्ग यही है, दु:ख की और कोई औषधि नही।

(२७८) उत्पन्न होने वाली सब वस्तुएँ दु:खो से भरी हैं, जो इसको अच्छी प्रकार देखता है और समझता है वह दु:खो की पहुॅच से बाहर है, छुटकारा इसी में है।

(२७९) अन्य सर्व साधन धोखे की टट्टी है, जो इस बात को जान गया वह दु:ख से बच गया बचाव का रास्ता यही है।

(२८०) जो समय पर न जागा, चाहे वह युवक और बलवान ही क्यो न हो, जो सुस्ती भरा और आलस्य का पुतला है, जिसका हृदय निर्बल है, जिसकी प्रतिज्ञा झूठी है, ऐसे आलसी और काम चोर को ज्ञान का रास्ता नही मिलता, ज्ञान का प्रकाश दिखाई नही देता।

(२८१) जिह्वा से कोई बुरी बात न निकले, मन से बुरी बात न सोचे, शरीर से बुरा काम न करे, जो तीनो बातो से मन पवित्र रखेगा, भले मनुष्यो का बताया हुआ सुमार्ग उसे स्वच्छ दिखाई देगा।

(२८२) ज्ञान, लगन और प्रयत्न से आता है, ज्ञान सुस्ती से धुँधला हो जाता है, जो इस लाभ हानि के भेद को जानता है, वह इस मार्ग पर चलता है, जिससे कि ज्ञान बढ़े और अँधेरा प्रकाश में बदले।

(२८३) इच्छा के सम्पूर्ण वन काट डालो, घास का तिनका भी न छोडो, इच्छा का वन दु:ख का घर है, जब तुम इस वन को काट डालोगे, जड़े भी खोद डालोगे, पौधे भी उखाड़ फेकोगे, तो इस जगल से निकलोगे।

(२८४) जब तक मनुष्य के मन मे स्त्री बस रही है, मन मे कामनी की कामना है, तब तक यह माया घर से नही निकलेगी। उसका परिवार, दु:ख, दीनतादि भी उसके साथ हैं, जिस प्रकार दूध पीता हुआ बछड़ा थन को बलपूर्वक पकडे रहता है, तू भी कामना के बन्धन से बँधा रहेगा।

(२८५) स्वत: का प्रेम छोड़, इसे सूखे कमल की डंडी की भॉति अपने हाथ से काट डाल, सच्चे सुख के विचार की रक्षा कर, मुक्ति का सुमार्ग तुम्हें बुद्ध ने अच्छी प्रकार दिखा दिया।

(२८६) यहॉ बरसात बिताऊँगा, यहॉ जाड़े मे रहूँगा, इस जगह गर्मी मे बसूँगा, ऐसा पहिनूँगा यह ओढूँगा, ये खाऊँगा, मूर्ख ऐसी ही बातें सोचता रहता है और मृत्यु की घड़ी को याद नहीं करता।

(२८७) मृत्यु आता है, मॉ-बाप की लाडली सन्तान और कुनबे के प्यारों को इस तरह बहा ले जाती है जिस तरह पानी का चढ़ाव सोते हुए गॉव को बहा ले जाता है।

(२८८) जब मृत्यु ने आ दबाया तो मॉ-बाप, बेटे, पोते, यार प्रेमी, भाई बन्धु कोई सहायता नही करता।

(२८९) विद्वान ज्ञानी को चाहिए कि इस बात को अच्छी तरह सोच-समझ और अपने भविष्य को सुधारे मुक्ति के रास्ते को शीघ्र साफ करे।

इक्कीसवाँ उपदेश (इधर उधर की बातें)

(२९०) छोटी सी खुशी छोड़ने से यदि कोई बड़ा लाभ दृष्टि आता हो तो छोटी बात को छोड़ दो और बड़े

लाभ पर दृष्टि डालो।

(२९१) जो दूसरो को सताकर आप प्रसन्न होना चाहता है वह घृणा के जाल मे फॅसा हुआ घृणा के फन्दो से नही छूटता।

(२९२) करने के काम मे आलस्य किया न करने का काम किया, ऐसे अज्ञानी मनुष्य की इच्छा बढती रहती है।

(२९३) जिनका सब ध्यान अपने ऊपर लगा हुआ है, जो न करने का काम नही करते, करने के काम मे लीन हैं, ऐसे ज्ञानी और सावधान की इच्छाएँ शीघ्र कम हो जायेगी।

(२९४-९५) जो वास्तविक ब्राह्मण डंड रहित है इस पर भी कि वह अपने मॉ-बाप दो वीर राजा, इनकी सारी प्रजाऔर एक बडे मनुष्य को मार डालता है, बुद्ध धर्म की पुस्तको से पता नही चलता कि बुद्ध ने यह बात किससे कही, मार डालना और पाप करके डड न पाना धर्म के विरुद्ध है, मै इसका आशय यह समझा—

(i) विषय वासना उत्पन्न करने वाली इच्छा 'मॉ' है, दोहाभिमान उत्पन्न करने वाला अहंकार 'बाप' है, इच्छा अर्थात् विषय वासना को मारना आवश्यक है।

(ii) मन और अज्ञान दो वीर राजा है, इनको भी मारो।

(iii) सारी प्रजा मन की आज्ञा लेने वाली और काम करने वाली इन्द्रियॉ हैं। इनको भी मारो, एक बड़े आदमी का आशय ज्ञान से है, इस पर भी ज्ञान ही के कारण ये वास्तविक भेद पाता है, परन्तु अन्तिम स्थान ज्ञान से भी ऊँचा है।

(२९६) बुद्ध के चेले सदा अच्छी प्रकार जागे हुए है, उनका ध्यान दिन-रात बुद्ध में लगा हुआ है।

(२९७) बुद्ध के चेले सदा भलीभॉति चौकन्ना हैं, उनका विचार प्रत्येक समय धर्म पर लगा हुआ है।

(२९८) बुद्ध के धर्म पर चलने वाले सदा जागे हुए हैं, उनका सारा समय साधु-सत्संग में व्यतीत होता है।

(२९९) बुद्ध को मानने वाले सदा जागे हुए है, उनकी सावधानी अपने सुधार मे लगी हुई है।

(३००) बुद्ध को मान लेने वाले कभी असावधान नहीं, वे सदा दया, परोपकार और परसेवा से प्रसन्न होते है।

(३०१) बुद्ध के मानने वाले कभी सुस्त नहीं, इन्हें सदा ध्यान में आनन्द आता है।

(३०२) संसार छोड़ना कठिन है, संसार के आनन्द भोगना भी कठिन है, मन्दिर सुख से शून्य है, घर भी दुःख से भरा है, बराबरी वालों मे रहने से सुख नही, साधु भी दुःखी है, दुःख सुख का विचार मन से न निकले, तो कोई साधु नहीं।

(३०३) श्रद्धा वाला और सत्यप्रिय जहॉ रहे लोग उसका आदर करते हैं।

(३०४) हिम से ढके हुए पहाड के अनुसार भले आदमी दूर से चमकते हैं, और बुरे मनुष्य अँधेरे में चलाए

हुए तीर की भाँति दृष्टि मे नही आते ।

(३०५) अकेला फिरता, अकेला बैठ, अकेला लेटा, अपने मन को वश मे रखता हुआ ऐ ज्ञानी ! किसी जगल के किनारे समय बिता दे ।

बाइसवाँ उपदेश (नीच गति-नीचे पतन)

(३०६) न होने वाली वस्तु को जो बताता है 'अस्ति' वह नरक मे जाता है, और जो एक काम करके कहता है, मैने नही किया वह भी नरक मे पड़ने वाला है । मरने के पश्चात् दोनो बराबर हैं, परलोक मे दोनो की कॉख मे बुराई की गठरी है ।

(३०७) साधु भेष मे रहने वाले बहुधा बुरे चलन और पराधीन होते है । ऐसे दुराचारी अपने पापो के कारण नरक मे जाते है ।

(३०८) दुष्ट चलन देश के दान से पेट भरने के स्थान मे अधिक अच्छा हो कि अग्नि की भाँति धधकता हुआ लोहे का गोला निगल ले ।

(३०९) पराई स्त्री पर दृष्टि डालने वाले कुकर्मी और निर्लज्ज को चार फल मिलते है— अपयश, निद्रा भग कर देने वाली विकलता, दण्ड और अन्त मे नरक के कष्ट ।

(३१०) यह अपयश और नरक की ओर ले जाने वाला कुमार्ग है, डरे हुए को डरते हुए की शरण मे शांति नही ऐसो को राजा भी दंड देता है, अत: पराई स्त्री का ध्यान न करो ।

(३११) जिस प्रकार भली-भाँति न पकड़ा हुआ तिनका भी घाव डाल देता है, अनियमित साधन भी दु:ख देते है ।

(३१२) असावधानी से किया हुआ काम, टूट जाने वाली सौगन्ध ऊपरी मन की पूजा, अच्छा फल नही लाते ।

(३१३) ऐ मनुष्य कुछ करना है तो कर डाल ! दत्तचित्त कर शीघ्र कर, कारण कि असावधान यात्री अपनी इच्छाओ की धूलि कुभाँति से उडाता है ।

(३१४) बुरा काम न करना ही अच्छा, कारण कि इसके करने से पीछे पछताना होगा, अच्छा काम कर डालना ही अच्छा है । कारण कि भला काम करने से पछताना नही पडता ।

(३१५) भीतर-बाहर दोनो ओर से दृढ दुर्ग की भाँति अपनी रक्षा कर, सावधान रह, एक पल भी व्यर्थ न जाने दे, जो इस अमूल्य समय को खो देते हैं, नरक में जाकर दु:ख भोगते हैं ।

(३१६) जो ऐसी बात से लज्जित होते हैं, जिससे लज्जित नहीं होना चाहिए और ऐसी बात से नही शर्माते जिससे शर्माना चाहिए, ऐसे लोग झूठे विश्वास का पल्ला पकड़ के झूठे मार्ग पर हो लेते हैं ।

(३१७) जो डरने के काम से नही डरते और न करने के काम से डरते हैं, वे खोटे विश्वास करके खोटे पंथ पर पड़ जाते हैं ।

(३१८) जिन्हे बुराई मे भलाई और भलाई मे बुराई दृष्टि आती है, वे अन्धो का हाथ पकड के आप भी ठोकरे खाते है।

(३१९) जो सच्चे को सच्चा और झूठे को झूठा समझते है वे सच्ची बात पल्लू मे बॉधकर सच्चे रास्ते पर चलते है।

तेईसवाँ उपदेश (हाथी)

(३२०) जिस प्रकार हाथी लडाई मे चलाये हुए तीरो को सहन करता है, मैने भी ससार को बुरी स्थिति मे देखकर ससार के उलाहने और बुराईयो को चुपचाप सहे।

(३२१) लडाई मे सधे हाथियो को ले जाते है, राजा भी सधे हुए हाथी पर चढते है, मनुष्यो मे भी वही सधा हुआ जो औरो के बुरा भला कहने को सहन करता है।

(३२२) खच्चर भी सधा हुआ अच्छा है, सिध का अनमोल और भला घोडा, लम्बे दॉत वाला हाथी भी अच्छा है परन्तु जो अपने को सुधारता है वह सबसे अच्छा है।

(३२३) इन जानवरो की सहायता से कोई उस कठिन चिन्ह रहित स्थान पर नही पहुॅच सकता जहॉ एक सधा हुआ मनुष्य अपने जीते हुये मन की सहायता से पहुॅचता है।

(३२४) धन-पालक नाम का हाथी जिसकी छाती पर मद बह रहा है, जिसका रोकना कठिन है, बॅधा हुआ एक तिनका भी नही खाता, उसका मन तो हथनियो के झुण्ड मे लगा रहता है।

(३२५) जो मनुष्य फूलकर कुप्पा हो रहा है, बहुत खाता है, हर समय ऊॅघता और लेटा रहता है, वह उस सूकर की भॉति है जो खेत खा-खा के मोटा हो गया है, ऐसा मूर्ख बार-बार जन्म लेता है।

(३२६) पहिले मेरा मन यूॅ ही फिरता रहता था, जहॉ जी चाहता चला जाता, जो जी मे आता करता, परन्तु जिस प्रकार महावत अकुश से बलवान हाथी को वश में कर लेता है, अब मैने भी मन को वश मे कर लिया है।

(३२७) भूले हुए मत रहो, मन को वश मे करो और जिस प्रकार दलदल मे फॅसा हुआ हाथी प्रयत्न करके साफ निकल जाता है, तुम भी पापो के दल-दल से बाहर हो जाओ।

(३२८) यात्रा मे यदि तुझे ऐसा साथी मिल जाए जो ज्ञानी और गम्भीर है, बचकर रहता है, तू उसके साथ हो ले, सारी कठिनाइयों को सुगम करता हुआ और सोच समझकर पॉव रखता हुआ चला जा।

(३२९) तुझे अच्छा साथी न मिले, तेरा साथी नासमझ हो, तो जिस प्रकार राजा जीता हुआ देश छोड़कर चला जाता है, तू भी जंगल मे हाथी की भॉति अकेला और बेधड़क चला जा।

(३३०) अकेला रहना अच्छा है, अज्ञानी का साथ अच्छा नहीं, थोड़ी सी आवश्यकताओं का विचार रखता हुआ अकेला रह और कोई पाप मत कर।

(३३१) अवसर पर मित्र भी अच्छे हैं, प्रसन्न होना भी अच्छा है, किसी कारण से किया हो मृत्यु के समय अच्छा

कार्य अच्छा है ।

(३३२-३३३) संसार मे माँ-बाप की सेवा करने से सुख मिलता है, साधु और गुणवान की सेवा करना अच्छा है, अन्त तक रहने वाली भलाई भी अच्छी है, वह धर्म भी अच्छा है जिसने मन मे घर कर लिया हो, ज्ञान हो जाना भी अच्छा है, परन्तु बुराई से बचना सबसे अच्छा है ।

चौबीसवाँ उपदेश (इच्छा)

(३३४) मूर्ख की इच्छा बेल की भाँति बढ़ती है और जिस प्रकार बदर फलो की खोज मे मारा-मारा फिरता है मूर्ख बार-बार जन्म लेता है ।

(३३५) ससार मे जिस किसी को तृष्णा का दुःखदाई विष चढता है उसका दुःख स्वयं घास की तरह पल-पल बढता है ।

(३३६) जो इस कठिनाई से वश मे आने वाली तृष्णा को रोकता है जिस प्रकार कमल के पत्ते पर से पानी की बूँद लुढक जाती है ।

(३३७) एक लाभ की बात सुनो ! जिस प्रकार खस की सुगन्धित जड़ निकालने वाला पहिले घास को काटता है, तुम्हे भी यदि सुगन्ध की खोज है तो पहिले तृष्णा की घास काटो, ताकि जिस प्रकार नदी का तीव्र बहाव नरसलो को बहा ले जाता है तुम संसार के लालच मे न बह जाओ ।

(३३८) पेड़ को काट भी डाले, परन्तु जब तक जड है, वह फिर फूटेगा, इसी प्रकार जब तक इच्छा है बार-बार दुःख देगी ।

(३३९) जिसकी इच्छाओ की नदियाँ इन्द्रिय सुखो के सागर की ओर बह रही हैं, ऐसे फूले हुए मनुष्य को एक दिन ये लहरे बहा ले जायेगी, वासना भरा मन इसे नष्ट कर देगा ।

(३४०) इच्छाओ की नदियाँ हर ओर बह रही है, इच्छा की बेल हर ओर उग रही है, ऐ मनुष्य ! जब तू पानी फूटता देखे तो उसी समय श्रोत बन्द कर दे, जहाँ तू ये बेल निकलती देखे, चट ज्ञान की दराँती से जडे काट डाल ।

(३४१) मनुष्य की इच्छाएँ अगणित है, सुखों का पुतला वासनाओं का दास बार-बार जन्म लेता और नष्ट होता रहता है ।

(३४२) इच्छाओं से घिरा हुआ, जाल में फँसे हुए खरगोश की भाँति इधर-उधर भागता है, इच्छा के फन्दो मे फँसा हुआ मनुष्य सदा दुःख पाता है ।

(३४३) साधु को चाहिए, इच्छा को छोड़, इच्छा रहित होने का प्रयत्न करे ।

(३४४) जो एक बार इच्छाओ को छोड़कर फिर इच्छा के बन में चला जाता है, ज्ञान हो जाने पर भी इच्छाओं को नही छोडता, उसकी मूर्खता देखो, स्वतंत्र होकर फिर बन्धन मे फँस जाता है ।

(३४५) ज्ञानी लोहे या लकड़ी की बेडी और रस्सी के फंदो को बहुत बड़ा बन्धन नही समझते, इनके विचार

मे धन-दौलत और बेटे पोते की इच्छा सबसे बडी कैद और बेबस कर देने वाली लाचारी है।

(३४६) विद्वान् तो ऐसे फदे को फॉसी समझते है, कारण कि ये नीचे पतन करता है, हराता और खुलता नही, जो इसको काटते है वे दु:ख से छूटकर मोह प्रेम का विचार पीछे छोड़कर, ससार से मुक्त हो जाते है।

(३४७) जिस प्रकार मकडी का जाला तनकर इधर-उधर दौडती है, इच्छा के बॅधे हुवे अपनी ही इच्छा की नदी मे बहे-बहे फिरते है, उनका लक्ष्य आगे की ओर हो जाता है, चिन्ताओ से निश्चिन्त होकर मुक्त हो जाते है।

(३४८) गये को भूल जा, अब का भी विचार न कर, आने वाले भविष्य से भी निश्चिन्त हो, जब तू अस्तित्व के दूसरे सिरे पर ससार सागर के किनारे पहुॅच जायेगा, और तेरा मन सर्वथा स्वतंत्र हो जायेगा तू जन्म-मरण के चक्र से निकल जायगा।

(३४९) जो मनुष्य सन्देह मे फॅस रहा है, जिसकी इच्छा बढी हुई है, जिसका मन मिथ्या सुख और आनन्द मे भटक रहा है, उसकी इच्छा बढती है और वह अपने बन्धनो को अधिकाधिक दृढ कर लेता है।

(३५०) जो मनुष्य धोखा छूटने मे आनन्द देखता है, सदा सोच-विचार कर काम करता है, सुख और आनन्द देने वाली वस्तुओ का विचार नही करता, वह निस्संदेह माया के फन्दे को काटकर स्वतत्र हो जायेगा।

(३५१) जो प्रवीणता की अन्तिम सीमा तक पहुॅच गया, निर्वाण पद के पास जा पहुॅचा, जो डर से नही डरता, जिसकी इच्छा नाश हो गई जिससे कोई पाप नही होता, जिसने खटकने वाले सारे कॉटे निकाल डाले, उसका ये अन्तिम जन्म है।

(३५२) जिसके मन मे न कोई इच्छा है, न किसी का प्रेम, जो सत्य बात और उसकी बारीकी को समझता है, उसका ये अन्तिम जन्म है, वह अब महात्मा और पुण्यवान है।

(३५३) मैने सब को जीत लिया, सब कुछ जान लिया, जीवन की प्रत्येक दशा मे प्रत्येक दोष से पवित्र हूँ, मैने सब कुछ छोड दिया, इच्छा का नाश करके मुक्त हो गया, मैने स्वत: के आत्मा से पाठ लिया, किसको गुरू मानूॅ।

(३५४) धर्म का दान सब दानो से बढकर है, धर्म का मिठास सबसे मीठा है, धर्म का आनन्द परम आनन्द है, इच्छा का नाश सब दु:खो को नाश कर देता है।

(३५५) भविष्य का विचार न करने वाले मनुष्य को धन दौलत नष्ट कर देते है। अज्ञानी धन की इच्छा करके अपना नाश कर लेता है।

(३५६) घास खेत को नष्ट करता है, आदमी इच्छा से नष्ट होता है, इसलिए इच्छा रहित को दान देना बड़ा फल देता है।

(३५७) कास से खेत बिगड़ता है, मनुष्य घृणा से बिगड़ता है, अतएव घृणा न करने वालो को दान देना अपने सम्मान को सॅवारना है।

(३५८) आड पौधे को बढने से रोकता है, घम ड आदमी को बिगाडता है, घमंडहीन आदमी को दान देना लाभप्रद है।

(३५९) खेत की उन्नति को कचरा कूडा रोकता है, इच्छा आदमी को उन्नति के रास्ते मे रुकावट हैं, अत: इच्छा रहित आदमी को दान देना, दान देने वाले को सुख देगा।

पच्चीसवाँ उपदेश (भिक्षुक-साधु)

(३६०) ऑख, कान, नाक और जिह्वा को वश मे रखना अच्छा है, इन्द्रियो को वश मे रखने से लाभ हैं।

(३६१) शरीर और इन्द्रियो को वश मे करना अच्छा है, जिस साधु को इन पर अधिकार है वह दु:खो से मुक्त है।

(३६२) हाथ-पॉव जिसके वश मे है, जिसकी जीभ पर लगाम है, जो हर प्रकार अपने ऊपर अधिकार पाए हुए है, जिसे अपने अन्त:पुर ही मे आनन्द आता है जिसका मन शांत है, जो अपने ही मे अकेला रहता है, वह साधु है।

(३६३) जिसके मुँह पर ताला लगा हुआ है, जो ज्ञान की बात कहता है, शाति और धैर्य से बोलता है, जो धर्म की बात बताता है, ऐसे साधु की बात मीठी होती है।

(३६४) जो धर्म ही मे रहता है धर्म ही से प्रसन्न होता है, धर्म ही का ध्यान धरता और धर्म ही का स्मरण करता है, ऐसा साधु धर्म से कभी नही हटता।

(३६५) जो मिल जाय वह खा ले, दूसरे को द्वेष की दृष्टि से नही देखे, जो साधु औरो को देखकर जलता है उसके मन को सुख नही।

(३६६) जो थोडे को भी संतोष और धन्यवाद के साथ ग्रहण कर लेता है, पवित्र है, जगा हुआ है, देवता भी उसकी पूजा करते है।

(३६७) जो अपने को किसी नाम और रूप की सीमा के भीतर नही लाता और गए हुए का शोक नही करता वह नि:संदेह साधु है।

(३६८) जो सबसे स्नेह से मिलता है जिसे बुद्ध की बात मे आनन्द आता है, वह निर्वाण पद को पाता है, उसे वह आनन्द मिलता है जो इच्छाओं के नाश होने से होता है।

(३६९) ऐ साधु ! अपनी नाव का बोझ हल्का कर, छूछी नाव शीघ्र किनारे पर लगती है, वैर भाव को धुत्कार बता, इच्छा से हाथ छुड़ा, तो मुक्त हो जायेगा।

(३७०) पॉचो बन्द (इन्द्रियॉ अर्थात् नाक, कान, आँख, जीभ और चर्म) को काट, पॉचों को छोड़ अर्थात् जो इन पॉचो विषयो से बचा वही मुक्त हुआ।

(३७१) ऐ साधु ! ध्यान कर, असावधान मत हो, सुख के विचार की ओर मन को मत जाने दे, ऐसा न हो तुझे

अपनी ही भूल से दु.ख भोगना पडे, और जब तू दु ख उठा रहा हो तो तुझे पछता-पछता कर यह न कहना पडे कि हाय दु:ख, हाय मरा, हाय मरा।

(३७२) बिना ज्ञान के ध्यान नही, न बिना ध्यान के ज्ञान, जहाॅ ज्ञान और ध्यान दोनो है मुक्ति वही है।

(३७३) जो साधु कुछ न रहने वाले स्थान पर पहुॅच गया है, जिसका मन ठहर गया है वह वास्तविकता को प्रत्यक्ष देखता है, उसे स्वर्गीय आनन्द प्राप्त होता है।

(३७४) जब इस भौतिक पुतले की वास्तविकता और इसके नाश करने का भेद प्रकट हो जाता है, तो बडा हर्ष होता है और यह उस आनन्द को पाता है जो मुक्त और स्वतन्त्र लोगो का भाग है।

(३७५) साधु पन की पहिला पाठ यह है कि इन्द्रियों पर देख-रेख रखे, सतोष, धर्म और कर्त्तव्य के भीतर चले, सत्सग करे और ऐसे भले मनुष्यो से मेल रखे जो भले है, जिनको भले काम करने मे प्रसन्नता प्रतीत होती है।

(३७६) जो परोपकारी और दानी है, जो अपने धर्म, कर्म और कर्त्तव्य मे भूल नही करता, ऐसे महात्मा की प्रसन्नता का प्याला ऊपर तक भर जाता हैं, इच्छा की प्यास बुझ जाती है।

(३७७) जिस प्रकार पौधा अपने मुरझाये हुए फूलो को गिरा देता है, मनुष्य को चाहिए कि बैर भाव और मस्ती को छोड दे।

(३७८) जिस साधु का शरीर, जिह्वा और मन शिथिल हो गये है, जिसका चित्त शांत है, जिसने संसार मे फॅसाने वाले लालच को छोड दिया है, वही शातिवान् कहलाता है।

(३७९) ऐ साधु ! अपने को जगा, अपनी जॉच तू आप ही कर, आप अपनी रक्षा करता हुआ सावधान रह।

(३८०) तू आप ही अपना राजा है, तू आप ही अपनी शरण का स्थान है, जिसप्रकार रथवान असली घोड़े को वश मे करता है, तू आप ही अपने को वश मे कर।

(३८१) जिसे बुद्ध की बात मे आनन्द आता है, वह आनन्द पद को पाता है, क्योकि सांसारिक इच्छाएॅ छोडने मे ही आनन्द है।

(३८२) बचपन ही से जो बुद्ध की बताई हुई बातों पर चलता है, वह इस संसार मे चॉद की भॉति प्रकाशित है।

छब्बीसवाँ उपदेश (ब्राह्मण)

(३८३) ऐ ब्राह्मण ! तृष्णा की नदी को वीरता से रोक, इच्छा का जल सुखा दे, जब तू उत्पन्न होने वाली वस्तुओ को समझ जायेगा तो उत्पन्न न होने वाले भेद को भी जान लेगा।

(३८४) जो बन्धन और मुक्ति दोनों को समझ गया है उसे ज्ञान हो जाता है, उसके बन्धन छूट जाते है।

(३८५) जिसके हेतु न यह है न वह, न यहाँ न वहाॅ, ऐसे निडर और स्वतंत्र को मै ब्राह्मण कहता हूँ।

(३८६) जो विचार वाला हैं, निश्कलक, धर्म-कर्म वाला इच्छा रहित है, और जिसने जानने वाली बात को जाना लिया है, उसे मै ब्राह्मण मानता हूँ।

(३८७) सूर्य दिन को प्रकाशित करता है, चॉद रात को प्रकाश देता है, सिपाही अपने हथियारो से भला लगता है, ब्राह्मण ध्यान करता हुआ अच्छा लगता है, परन्तु बुद्ध दिन-रात अपनी ज्योति जगमगाता है।

(३८८) पाप न करने वाले को ब्राह्मण कहते है, शांति से रहने वाला साधु कहलाता है, बुराई से पवित्र मनुष्य त्यागी है।

(३८९) किसी को ब्राह्मण पर आक्रमण न करना चाहिए और ब्राह्मण का भी यह धर्म है कि आप भी आक्रमण न करने वाले पर आक्रमण न करे, ब्राह्मण को मारने वाले पर खेद है, परन्तु इससे अधिक दु:ख उस ब्राह्मण पर है जो मारने वाले पर हाथ उठाता है।

(३९०) ससार के आनन्दो से मन हटाए रखने मे ब्राह्मण का लाभ है, ज्यो-ज्यो दु:ख देने वाली इच्छाएँ कम होगी, दु.ख का नाश होगा।

(३९१) जो मन से, वचन से, कर्म से किसी को दु:ख नही देता, जिसके ये तीनो अधिकार मे है, मै तो उसको ब्राह्मण मानता हूँ।

(३९२) जिस गुरु से ज्ञान मिले, उसकी पूजा उसी प्रकार करे जिस प्रकार ब्राह्मण अग्नि को पूजता है, बुद्ध का यही उपदेश है।

(३९३) बाल बढ़ाने अथवा किसी मुख्य घराने मे जन्म लेने से मनुष्य ब्राह्मण नही बन जाता, ब्राह्मण और शूद्र वही है जिसमे सत्य और धर्म है।

(३९४) ऐ मूर्ख ! जटा बढ़ाने या मृगछाला ओढ़ने से क्या होता है, भीतर तो तू मैला है, ऊपर से उजला हो गया है।

(३९५) दुबला, पतला, मैले, कुचैले, चिथडे लपेटे जो अकेला जगल में बैठा ध्यान कर रहा है, उसे मै नि:सन्देह ब्राह्मण मानता हूँ।

(३९६) जिसने ब्राह्मण कुल मे जन्म लिया मै उसे ब्राह्मण नही समझता, यह झूठा घमड है, यदि वह रुपये वाला भी हो, ब्राह्मण तो वह कंजूस है जिसे किसी वस्तु की चिन्ता नही, जिसे किसी से सम्बन्ध नही।

(३९७) मै तो उसे ब्राह्मण समझता हूँ कि जिसने सर्व सम्बन्ध और लगाव दूर कर दिये है, जो निर्भय सम्बन्धो से सम्बन्ध रहित दृढ़ और स्थिर चित्त है।

(३९८) मेरे विचार मे ब्राह्मण तो वह है जिसने सब बेड़ियॉ तोड़ दी हों, रस्सी गॉठ के सहित काट डाली हों सब रुकावटों को दूर कर दिया हो, जिसके ज्ञान की ऑंख खुल गई हो, अज्ञान की नींद उचट गई हो, और माया का अंधकार दूर हो गया हो।

(३९९) मान लो कि उसने कोई पाप नही किया, परन्तु निरादर को सहता और कोडो की चोटो को झेलता है, ब्राह्मण तो वह है कि "सह लेना" जिसकी बलवान सेना और बल है, सहना ही जिसका आहार है।

(४००) मै तो उसे ब्राह्मण समझता हूँ, जिसमे क्रोध नही, जो धर्म पर चलने वाला इच्छा रहित और इन्द्रियो को जीते हुए है, उसका यह अन्तिम जन्म है।

(४०१) ब्राह्मण वह है जो इन्द्रियो के सुख से इस प्रकार न्यारा और मुक्त है जैसे कमल के पत्ते पर पानी की बूँद, सुई की नोक पर सरसो का दाना।

(४०२) ब्राह्मण तो वह है जो इस संसार ही मे अपने दुःखो का नाश देख रहा है, जिसने अपना बोझ फेक दिया है, जो सर्वथा स्वतंत्र हो गया है।

(४०३) मै तो उसे ब्राह्मण बताता हूँ जिसने सब गुण सीख लिए हो, जो ज्ञानवान् और बुद्धिमान् है, जिसे झूठ और सत्य की परख है और जो अन्तिम पद पर पहुँच गया है।

(४०४) ब्राह्मण वह है जो गृहस्थ और त्याग दोनो से विलग है, जो घर-घर मारा-मारा नही फिरता, जिसे कोई इच्छा नही।

(४०५) ब्राह्मण वह है जो बलवान् या निर्बल किसी को नही सताता न आप किसी को दुःख देता है, न दुःख देने वाले की सहायता करता है।

(४०६) ब्राह्मण वह है जो लड़ाई मोल लेने वालों के सम्मुख सहनशील, कठोर के सम्मुख नरम और लालचियो के सम्मुख लालच रहित है।

(४०७) ब्राह्मण तो वह है जिसमे क्रोध, बैर भाव, अहंकार, दिखावा और कपट इस प्रकार गिर पड़े हो जिस भाँति सुई की नोक पर से राई का दाना।

(४०८) ब्राह्मण तो ऐसी बात कहता है जो सत्य और दूसरे के लाभ की हो।

(४०९) ब्राह्मण का तो धर्म यह है कि बिना दी हुई कोई वस्तु न ले, वह थोड़ी हो अथवा अधिक, छोटी हो अथवा बडी, बुरी हो अथवा भली।

(४१०) ब्राह्मण को चाहिए कि इस लोक अथवा परलोक अथवा किसी और वस्तु की उसे सर्वथा इच्छा न हो, वह बिना लगाव और बिना आसक्ति के हो।

(४११) ब्राह्मण हो तो ऐसा हो, जो त्यागी हो और अमर पद को पा गया हो और जब उसे ज्ञान हो जाय तो कहाँ? क्यो? और कैसा? न कहे, निशंक हो जाय।

(४१२) ब्राह्मण वह है जिसे अच्छे, बुरे, बुराई, भलाई दोनों से लगाव न हो, पाप और अपराध रहित और सर्व प्रकार पवित्र हो।

(४१३) ब्राह्मण वह है जो चाँद की भाँति शीतल, एक रस, स्थिर, जिसमे गर्मी न हो जिसका द्वेषानल ठंडा हो गया हो ।

(४१४) ब्राह्मण वह है जो इस दलदली मार्ग से निकल गया हो, ससार की कठिन घाटी और संसार सागर से पार हो गया हो, विचार वाला, माया के बन्धनो से छूटा हुआ और शात हो ।

(४१५) ब्राह्मण वह है जिसे कोई इच्छा न हो, बिना घर घूम रहा हो, जिसका मद और अज्ञानजन्य नशा उतर गया हो, सुस्ती जाती रही हो ।

(४१६-४१७) ब्राह्मण वह है जो मनुष्य देवता या किसी के किसी बंधन से बँधा न हो, जो सारे सम्बन्धो से ऊँचा हो ।

(४१८) ब्राह्मण वह है जिसे दु:ख सुख का विचार न हो, सर्वथा ठंडा हो गया हो, जन्म देने वाले कीडे जिसके मर गए हो, वह वीर जिसने सब लोक जीत लिए हो ।

(४१९) ब्राह्मण तो वह है जिसने आवागमन (जन्म-मरण) के चक्र को देख लिया हो, जो उसके बधन से मुक्त है, शुभ-गति वाला, सद्भाव वाला और सचेत है ।

(४२०) ब्राह्मण तो वह है जिसका मार्ग न मनुष्यों को ज्ञात हो न देवताओं को, जिसका देहाभिमान दूर हो गया हो, वह पूजा करने योग्य है ।

(४२१) मै तो उसे ब्राह्मण मानता हूँ जो भूत, भविष्य और वर्तमान किसी अवस्था को उच्च नही मानता, जिसे सासारिक प्रेम नही ।

(४२२) ब्राह्मण वह भला मनुष्य है जो भला, वीर, ज्ञानी, पण्डित, निश्चित और सचेत हो गया है ।

(४२३) ब्राह्मण वह है जिसे अपने पूर्व जन्मों, पूर्व दशाओ का ज्ञान है, जिसे स्वर्ग और नरक दोनो दिखाई देते है, जिसने मरने-जीने के चक्र को देख लिया है, सब गुणों से गुणवान् हो, जिसकी कोई बात अधूरी न हो ।

॥ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: ॥

अष्टम अध्याय

कर्म सिद्धान्त

कर्म सिद्धान्त

कर्म और कर्मवाद भारतीय चिन्तन धारा की एक आधारभूत मान्यता है । भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म कर्मवाद को पृष्ठिभूमि के रूप मे अनिवार्य रूप से स्वीकार करते है । कर्म एव कर्मवाद भौतिक और अभौतिक, चेतन और अचेतन जगत् के समस्त घटनाओ की व्याख्या, कार्य कारण सिद्धान्त को आधार बना कर करता है । यह एक ऐसा व्यापक शाश्वत् और अनुलघ्य नियम है, जिसके अधीन समस्त सृष्टि है, देव, मनुष्य, पशु-पक्षी कोई भी इस नियम से परे नही है । जहॉ यह एक ओर विश्व की वैज्ञानिक व्याख्या करता है, वहॉ दूसरी ओर यह विश्व की नैतिकता के लिए एक व्यापक आधार प्रस्तुत करता है । यह एक सर्वमान्य मत है कि कर्म की शृंखला ने ससार चक्र को प्रवाहित किया है और आगे भी वह इसे पल्लवित और पुष्पित करता रहेगा । कर्म सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म की मान्यता को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है । यही कारण है कि भारतीय शास्त्रो में कर्म और पुनर्जन्म का महत्त्व इतना व्यापक हो गया है कि इसे माने बिना किसी प्रकार की व्यवस्था या किसी प्रकार के सिद्धान्त का सगत विवेचन सम्भव नही है ।

कर्म के सम्बन्ध मे धर्मशास्त्रो मे भी बड़ी व्यापकता से विचार किया गया है । कर्म का अर्थ, कर्म स्वरूप एवं क्षेत्र, कर्म के प्रकार, कर्म का वर्गीकरण, विपाक प्रक्रिया मे कर्म, कर्म का कायिक वाचिक और मानसिक भेद, कर्म के शुक्ल और अशुक्ल भेद, कर्म तथा उसका फल, कर्मवाद तथा उसका सिद्धान्त आदि प्रमुख विषय है, जिन पर धर्मशास्त्रो ने अपना विचार व्यक्त किया है । इस सम्बन्ध मे विभिन्न पहलुओं पर धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण मे परस्पर मतभेद अवश्य है, किन्तु इस मान्यता मे कर्म का फल कर्त्ता को प्राप्त होता है और कर्म सृष्टि और प्राणी के जन्म चक्र का संचालक है । कोई मतभेद नही दिखाई देता है । धर्मशास्त्रों का समाज दर्शन भी इस कर्म, कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो से बॅधा हुआ है, इसलिए धर्मशास्त्रों के समाज, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना और कार्य एवं प्रयोजन को समझने के लिए कर्म, कर्मवाद और पुनर्जन्म का एक साधारण ज्ञान अति आवश्यक है ।

कर्म शब्द "कृ" धातु से बना है, इसका सामान्य अर्थ करना, व्यापार या हलचल होता है । करना अर्थ में मनुष्य जो कुछ करता है, वही उसका कर्म है, इसी सामान्य अर्थ में गीता में इसका उपयोग हुआ है । परन्तु यदि कर्म के अर्थ को व्यापक अर्थ मे देखा जाय तो स्पष्ट होता है कि— "मनुष्य जो कुछ करता है— खाना-पीना, खेलना, रहना, बैठना,

उठना, श्वासोच्छवास करना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना, सुनना, चलना, देना-लेना, जगन, मासा, मनन और अध्ययन करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञ-पाग करना, खेती, व्यापार और धन्धा करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना, इत्यादि । ये सब कर्म है ।[१]

प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार यज्ञ-पाग ही वह कर्म है, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है । वैदिक ग्रन्थ मे यज्ञ-पाग की विधि बताई गयी है, परन्तु इसके विषय मे कही-कही परस्पर विरोध भी परिलक्षित होता है । अतएव उनकी एकता एव सगति दिखलाने के लिए जैमिनी ने पूर्वमीमांसा शास्त्र की रचना की । जैमिनी के अनुसार— वैदिक और श्रोत यज्ञ-पाग करना ही प्रधान कर्म है, इसे वे धर्म कहते है । मनुष्य जो कुछ करता है वह सब यज्ञ के लिए करता है । यदि धन कमाता है तो यज्ञ के लिए और धन-धान्य का संग्रह करता है तो भी यज्ञ के लिए ।[२] धर्म यज्ञ का एक साधन है, वह स्वतन्त्र रीति से साध्य वस्तु नही है । इसलिए यज्ञ से जो मिलने वाला फल है, उसी मे उस कर्म का भी समावेश हो जाता है । उस कर्म का अलग से कोई फल नही होता । मीमांसको के अनुसार— यज्ञ करने से एक प्रकार की सुख की प्राप्ति होती है और इस सुख प्राप्ति के लिए व्यक्ति यज्ञ बडी ही निष्ठा से करता है । भगवद्गीता के दूसरे अध्याय मे भी यज्ञ-पाग आदि का काम्य कर्मो का निर्देश मिलता है ।[३] ब्रह्म ज्ञान के बिना किये जाने वाले यज्ञादि कर्म ही हैं । इसी तरह यह भी मीमासको के ही मत का अनुकरण है कि— "यज्ञार्थाकर्मणोन्यत्र लोको यं कर्म बन्धनः"[४] अर्थात् यज्ञ के लिए किए गये कर्म बन्धक नही है । शेष सब कर्म बन्धक है । गीता मे कर्म का लक्षण बतलाते हुए भी कहा गया है कि— अक्षर परब्रह्म से पंचभूतादि विविध सृष्टि निर्माण की जो क्रिया है, वही कर्म है ।[५]

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि कर्म व्यापार अथवा क्रिया है । चाहे वह मनुष्य कृत हो, सृष्टि के अन्य पदार्थो की क्रिया हो अथवा मूल सृष्टि से उत्पन्न होने की क्रिया हो उसका परिणाम सदैव केवल इतना होता है कि एक प्रकार का नाम रूप बदल कर उसकी जगह दूसरा नाम-रूप उत्पन्न हो जाता है । क्योकि इन नाम रूपो से आच्छादित मूल द्रव्य कभी नही बदलता, वह सदा एक सा ही रहता है । उदाहरणार्थ— बुनने की क्रिया से "सूत" का नाम बदलकर तथ्य को वस्त्र का नाम-रूप मिल जाता है । कुम्हार के व्यापार से मिट्टी के नाम रूप के स्थान पर घट का नाम रूप मिल जाता है ।

कर्म के स्वरूप तथा क्षेत्र पर 'मनुस्मृति' तथा अन्य धर्मशास्त्रो में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । मनुस्मृति मे कर्म के द्वारा चारो वर्णो, आश्रमों आदि कर्मो का निर्देश किया गया है । जैसे ब्राह्मण का कर्म वेदाध्ययन, क्षत्रिय के लिए युद्ध, वैश्य के लिए वाणिज्य आदि । वर्ण आश्रम कर्म का सम्यक् प्रतिपादन स्मृति ग्रन्थो मे किया गया है । इसलिए इन्हें 'स्मार्त कर्म' या 'स्मार्त यज्ञ' कहते है । इन श्रोत और स्मार्त कर्मों के अतिरिक्त और भी धार्मिक कर्म है, जैसे— व्रत, उपवास आदि । इनका विस्तृत प्रतिपादन पुराणों में किया गया है । इसलिए इन्हें पौराणिक कर्म कहते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रतिपादक शास्त्र के आधार पर कर्मों के नाम श्रोत कर्म ॥ जो श्रुति द्वारा प्रतिपादित होते हैं ॥ स्मार्त कर्म ॥ जिनका प्रतिपादन स्मृतियों के द्वारा किया जाता है ॥ तथा पौराणिक कर्म ॥ जिनका प्रतिपादन पुराणों में किया गया है ॥

आदि माने गये है।

धर्मशास्त्रो मे कर्मो के वर्गीकरण के लिए विभिन्न प्रसगों मे विभिन्न आधार अपनाये गये हैं। कर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वर्गीकरण के इन आधारो का एक सक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

विधान के आधार पर कर्म के भेद

विधान के आधार पर कर्मो के दो भेद किये गये है— विहित कर्म तथा निषिद्ध कर्म। विहित कर्म के अन्तर्गत नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मो को रखा गया है, जो कर्म प्रतिदिन किये जाने वाले है, जैसे— स्नान, सध्या आदि वे नित्य कर्म कहलाते है। जिनके करने से कुछ विशेष फल अथवा अर्थ की सिद्धि नही होती, परन्तु उनके न करने से दोष अवश्य लगता है। नैमित्तिक कर्म उसे कहते है, जिन्हे पहले किसी निमित्त के उपस्थित हो जाने पर करना पडता हैं। जैसे अनिष्ट ग्रहो की शान्ति, प्रायश्चित आदि। जिसके लिए हम शांति प्रायश्चित करते है, वह निमित्त कारण यदि पहले न होगा तो हमे नैमित्तिक कर्म करने की कोई आवश्यकता नही होती। काम्य कर्म हम उस कर्म को कहते है, जब हम कुछ विशेष इच्छा रखकर उसकी सफलता के लिए शास्त्रानुसार कर्म करते हैं। जैसे वर्षा होने के लिए या पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ करना, ये तीनो विहित कर्म के अन्तर्गत आते है। क्योकि शास्त्रो मे इनको करने का विधान किया गया है। कुछ कर्म ऐसे भी है, जो नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्म के अन्तर्गत नही आते जैसे— मदिरापान, असत्य भाषण इत्यादि, जिन्हे शास्त्रो ने त्याज्य कहा है, इसलिए ये निषिद्ध कर्म कहलाते हैं, क्योकि शास्त्रो ने इनको करने का निषेध किया है।

प्राकृतिक गुण के आधार पर कर्म के भेद

प्रकृति के तीनो गुणो के आधार पर मनु ने कर्म को तीन रूपो मे विभाजित किया है। जैसे— सात्विक, राजसिक व तामसिक। मनु ने यह भी कहा है कि मनुष्य को सत्व गुण वाले कर्मो को सर्वाधिक करणीय समझना चाहिए। सात्विक कर्मो के अन्तर्गत वेद का अध्ययन, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धर्म कार्य, आत्मा का मनन आदि सम्मिलित है। सात्विक कर्म की सामान्य विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि जिस कर्म को करने से भूत, वर्तमान तथा भविष्य मे मनुष्य लज्जित नही होता, जिस कर्म को सदैव जानने की इच्छा रहती है तथा जिस कर्म से मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है, वह सत्व गुण से प्रभावित होने के कारण सात्विक कर्म है।[६]

सात्विक कर्म मे धर्म की प्रधानता रहती है। सात्विक कर्मों को करने से मनुष्य को वैदैतत्व की प्राप्ति होती है। अत: मनु के अनुसार मनुष्य को अधिक से अधिक सात्विक कर्म करते रहना चाहिए। सात्विक कर्म ही श्रेष्ठ और उत्तम कर्म है। दूसरा कर्म राजसिक कर्म है। राजसिक कर्मों मे मनु ने उन कर्मों को रखा है, जिनके प्रति शीघ्र ही रुचि हो जाती है और फिर अधैर्य उत्पन्न होता है, ऐसे कर्म मे प्रवृत्ति को अनुचित माना जाता है। जैसे निरन्तर विषय भोग की इच्छा रखना, दूसरो पर विजय प्राप्त करना आदि। रज मे अर्थ की प्रधानता रहती है अर्थात् राजसिक कर्म अर्थ प्रेरित होते है। सात्विक कर्मों के प्रभाव से जहाँ देव तत्व की प्राप्ति होती है, वहाँ राजसिक कर्मों से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। तीसरा कर्म तामसिक कर्म है। तमोगुण से उत्पन्न कर्म तार्मसिक कहलाते हैं। लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, अनाचार, याचक वृत्ति

तथा प्रमाद आदि तामसिक कर्मो के करने से मनुष्य मृत्यु के पश्चात् निकृष्ट गति या तिर्थक ॥ वृक्ष पशु आदि ॥ की योनि प्राप्त करता है । अत: मनु के अनुसार तामसिक कर्मो से निरन्तर बचना चाहिए ।

गीता मे भी कर्म के उसी प्रकार तीन भेद किये गये है— सात्विक, राजसिक तथा तामसिक । यहाँ तीनो कर्मो की व्याख्या कर्ता के मन मे फल के प्रति उठने वाली प्रवृत्ति के आधार पर किया गया है । जो कर्म कर्म फल की आशा त्याग कर, बिना आसक्ति के धर्मानुसार किये जाते है, उन्हे सात्विक कर्म कहते है । फल की इच्छा रखते हुए अहकार पूर्ण मनोभाव से किया गया कर्म राजसिक है तथा तामसिक कर्म वह है जो मोहवश वर्तमान तथा भविष्य को सोचे बिना किया जाता है ।[७]

कर्म विपाक प्रक्रिया के आधार पर कर्म के भेद

कर्म विपाक प्रक्रिया अर्थात् कर्म एव कर्मफल का चक्र अनन्त है । इस प्रक्रिया मे प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मो का फल अनिवार्य रूप से भोगना पडता है । इस सन्दर्भ मे कर्म का जो भेद सामान्यत: किया जाता है, वह मनुस्मृति और गीता के कर्म की सामान्य अवधारणा से भिन्न है । कर्म विपाक प्रक्रिया मे कर्म के तीन भेद माने गये है—

१. संचित कर्म

२. प्रारब्ध कर्म

३. संचीय मान अथवा क्रियमाण कर्म ।

इन तीनो प्रकार के कर्मो को तिलक जी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि किसी मनुष्य के द्वारा इस क्षण तक किया गया जो कर्म है, चाहे वह कर्म इस जन्म मे किया गया हो या पूर्व जन्म मे, वह सब संचित कर्म कहा जाता है । इसी संचित कर्म का दूसरा नाम 'अदृव्य' है और मीमासको की परिभाषा मे इसे 'अपूर्व' भी कहा गया है । इन नामो की अन्वर्धता के सन्दर्भ मे यह कहा गया है कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है, उसी समय के लिए वह केवल दृश्य रहती है, उस समय के बीत जाने पर वह क्रिया तो स्वरूपत: शेष नही रहती, किन्तु उसके सूक्ष्म अतएव अदृश्य संस्कार शेष रहते है, जिन्हें न दिखाई देने के कारण और विलक्षण भावी फल के कारण होने से अपूर्व कहा गया है । सचित कर्मो को एक साथ भोगना असम्भव है, क्योकि इनके परिणामों के साथ-साथ शुभ और अशुभ दो प्रकार के कर्म जुडे रहते है, जैसे— कोई संचित कर्म स्वर्ग-पद, तो कोई नरक-पद हो सकता है । इसलिए इन दोनो के कर्म फलो को एक ही साथ भोगना सम्भव नही है, इन्हे एक के बाद एक क्रमश: भोगना पड़ता है । अत: संचित कर्म से जितने कर्म के फलो का भोगना पहले प्रारम्भ होता है, उतने अंश को ही प्रारब्ध कर्म कहते हैं । क्रियमाण का तात्पर्य है कि वह कर्म जो अभी हो रहा है अथवा जो अभी किया जा रहा है ।[८]

अन्य आधारों पर कर्म के भेद

कर्मभेद के उक्त आधारो के अतिरिक्त कुछ अन्य आधार भी धर्म शास्त्रो में मिलते हैं, जिनके आधार पर कर्मो का वर्गीकरण होता है । इन आधारो मे कभी कर्म के कारणों जैसे— मन, वचन और शरीर को दिया जाता है, तो कभी

कर्मो से होने वाले भले या बुरे फल को दिया जाता है। मनु के अनुसार समस्त कर्म मन, वाणी तथा शरीर की ही उपज ही है और ये कर्म शुभ अथवा अशुभ भाव उत्पन्न करते है, जिनके अनुसार मनुष्य की उत्तम, मध्यम तथा अधम गति ॥ जन्मान्तर की प्राप्ति होती है।[९] मनु के अनुसार शरीर के कर्म दोष या पाप कर्म मनुष्य की वृक्षादि योनि तथा मन के कर्म दोष चाण्डालादि कुल मे जन्म लेने के लिए विवश करते है।[१०] एक व्यक्ति शुभ कर्मो से देवभाव, शुभ-अशुभ मिश्रित कर्मो से मनुष्य भाव को प्राप्त होता है तथा केवल अशुभ कर्मो से नीच योनियो मे जन्म लेता है। उक्त तीनो आधारो से अर्थात् शरीर, वचन और मन से होने वाले पाप कर्मो की गणना करते हुए मनु ने उन्हे मानसिक पाप कर्म वाचिक पाप कर्म तथा कायिक पाप कर्म कहा है और उनमे विभिन्न अशुभ कार्यो की गणना भी की है।[११]

१. मानसिक पाप कर्म

अन्याय से दूसरे की वस्तु प्राप्त करने की इच्छा, मन से दूसरो का अनर्थ चाहना और परलोक के अस्तित्व को न मानना— ये तीन मानसिक अशुभ कर्म है।

२. वाचिक पाप कर्म

कठोर तथा असत्य वचन कहना, चुगली करना, अनावश्यक विवाद करना— ये चार वाचिक अशुभ कर्म है।[१२]

३. कायिक पाप कर्म

अन्याय से दूसरो की वस्तु या धन लेना, शास्त्र निषिद्ध हिंसा करना तथा पर स्त्री गमन— ये कायिक या शारीरिक पाप कर्म है।[१३]

मनु के अनुसार शुभ अशुभ कर्मो के परिणामो का विवेचन उनसे प्राप्त होने वाले योनियो के आधार पर किया गया है। ब्रह्म हत्या करने वाला मनुष्य कुत्ता, बकरी, पक्षी आदि अथवा चाण्डाल योनि मे जन्म लेता है।[१४] मद्यपान करने वाला व्यक्ति कीडे-मकोडे अथवा हिसक पशुओ की योनि प्राप्त करता है। चोरी करने वाला मकडी या पिशाच बनता है। गुरू पत्नी से सम्भोग करने वाला व्यक्ति बॉस, लता बनता है। कच्चा मांस खाने वाले पशु या क्रूर कर्म करने वाला प्राणी बनता है। चाण्डाल स्त्री से यौन सम्बन्ध रखने वाले, परस्त्री गमन करने वाले तथा विभिन्न पाप करने वाले मनुष्यो की अधोगति का भी उल्लेख मनु ने किया है।[१५] इसी प्रकार मनु ने शुभ कर्मो की ओर संकेत करते हुए कहा है कि वेद का अध्ययन, तप, गुरू सेवा, सत्य, अहिंसा और इन्द्रिय संयम आदि शुभ कर्म हैं।[१६] सबसे उत्तम कर्म आत्मज्ञान है, जो मोक्ष का मार्ग है। कर्मो का वर्गीकरण करते समय मनु ने कर्त्ता के कर्म फल के प्रति होने वाली मनोवृत्ति पर विशेष ध्यान दिया है। कर्म और कर्म फल परस्पर सम्बद्ध होते है। प्रत्येक शुभ एवं अशुभ कर्म अपना फल कर्त्ता को अवश्य देता है और कर्त्ता अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भी अवश्य पाता है। यह एक यांत्रिक प्रक्रिया के समान चलता है, किन्तु कर्त्ता को उसके कर्म फल से बॉधने में केवल कर्म पर्याप्त नहीं हैं, उन कर्म फलों के प्रति कर्त्ता की मनोवृत्ति ही वह मुख्य कारण है जो कर्त्ता को उसके लिए कर्म के फल से बॉधती है। कर्त्ता यदि कर्म फल की प्राप्ति की कामना से कर्म करता है तो कर्म का फल उसे अवश्य मिलेगा। किन्तु यदि कर्त्ता कर्म के फल की प्राप्ति की इच्छा न रखकर

केवल धर्म बुद्धि या कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करता है, तब उसे कर्म फल नही मिलेगा। उसके किये हुए कर्म उसकी आत्म शुद्धि करते है और वह मुक्ति का अधिकारी बन जाता है। इस दृष्टि को ध्यान मे रखकर मनु ने वैदिक कर्मो के दो भेद किये है— १. प्रवृत्त कर्म, २. निवृत्त कर्म। इन्ही को प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग कहते है। प्रवृत्ति मार्ग का शाब्दिक अर्थ है वह मार्ग जो मनुष्य को ससार की ओर प्रवृत्त कराता है। कर्त्ता को उसके कर्मो के अनुसार फल देकर ससार चक्र को चलाने मे सहायक होता है। निवृत्त मार्ग कर्म भी कर्म है किन्तु यह कर्त्ता को उसके फल से हटाकर मोक्ष की ओर ले जाने मे सहायक होता है। अत· इसे निवृत्ति मार्ग कहते है।

मनु ने प्रवृत्ति और निवृत्ति कर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रवृत्त कर्म वे कर्म है जिसमे कर्त्ता को स्वर्ग एव सुखादि की प्राप्ति होती है। ये कर्म ससार मे प्रवृत्त कराने वाले होते है, उदाहरण के लिए— वैदिक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञो को लिया जा सकता है। इस लोक मे या परलोक मे इच्छापूर्वक ॥ सकाम भाव से ॥ किया गया ॥ ज्योतिष्टोम यज्ञ रूप ॥ कर्म ससार मे प्रवृत्ति का साधक होने से प्रवृत्त कर्म कहा जाता है। द्वितीय— नि:श्रेयस ॥मुक्ति ॥ साधक ससार से निवृत्ति कराने वाला ॥ प्रतीकोपासनादि रूप ॥ तथा इच्छा रहित निष्काम भाव से ब्रह्म ज्ञान के अभ्यासपूर्वक किया गया कर्म ॥ ससार निवृत्ति साधक होने से ॥ निवृत्त कर्म कहा जाता है।[१७]

सामान्यतया निष्काम भाव से किया गया कर्म निवृत्त कर्म कहा जाता है और सकाम भाव से किया गया कर्म प्रवृत्त कर्म कहा जाता है।[१८] निष्काम कर्म राग विहीन कर्म होते है इन कर्मो के द्वारा भी वचन की उत्पत्ति नही होती है। अत: इनके द्वारा जाति, आयु, भोग— ये तीनो की प्राप्ति नहीं होती। निष्काम बुद्धि से किया हुआ कर्म आगे बन्धन पैदा नही करता। सकाम कर्म के द्वारा ही जाति, आयु और भोग— ये तीनो प्राप्त होते है। इन कर्मो के द्वारा ही व्यक्ति एक विशिष्ट स्थान, कुल, जाति तथा शरीर को प्राप्त करता है।

शरीर को 'भोगायतन' कहा गया है। सत्य तो यह है कि कर्म के द्वारा शरीर प्राप्त होता है और साथ ही साथ यह भी सत्य है कि शरीर के द्वारा कर्म भी होते है। ससार स्वय कर्म जाल है इसकी उत्पत्ति सब प्राणियो के कर्मो के ऊपर आधारित है। कर्मो को भोगने के हेतु देह की आवश्यकता होती है। शरीर द्वारा किये गये कर्मो को चार भागो मे रखा जा सकता है—

क. शुक्ल ॥पुण्य या धर्म ॥

ख. कृष्ण ॥पाप या अधर्म ॥

ग. शुक्ल कृष्ण ॥पुण्य-पाप मिश्रित ॥

घ. अशुक्ल अकृष्ण ॥न पुण्य न पाप ॥

जिन कर्मो से अपना पराया किसी का अहित नही होता किसी प्राणी को कष्ट नहीं होता बल्कि जो कोई परहित साधक होते है, केवल दूसरो को सुख पहुँचाते हैं, वे कर्म ही 'शुक्ल' कर्म कहे जाते हैं। समाज के लिए अकल्याणकारी अर्थात् असामयिक कर्म जिनके द्वारा दूसरों का अहित होता है तथा प्राणियो को कष्ट होता है वे कर्म कृष्ण कर्म कहलाते

है। इस प्रकार के कर्म करने वाले व्यक्ति को पापी या पापात्मा कहा जाता है।

साधारणतया सामान्य व्यक्ति के कर्म पाप पुण्य मिश्रित होते है, ऐसे व्यक्तियो के कर्मो के द्वारा समाज मे किसी का अहित होता है जिसके फलस्वरूप उसको दुख प्राप्त होता है और किसी का हित होता है जिसके परिणामस्वरूप उसको सुख होता है। इस प्रकार कर्मो के फलो के अनुरूप गुणो वाली वासनाये उत्पन्न होती है और इनके अनुसार ही प्राणी जाति, आयु और भोग प्राप्त करता है और सुख दु:खादि फल भोगता है। इन वासनाओ के द्वारा कर्म मे प्रवृत्ति होती है और पुन: कर्म के द्वारा वासनायें बनती हैं। इस रूप मे 'पुण्य-पाप मिश्रित' कर्मो वाले प्राणियों को उनकी मनोवृत्तियो के कारण सुख-दु:ख रूपी कर्म फल प्राप्त होते है। वासनामय कर्म अर्थात् राग पूर्ण कर्म ही प्राणियो को निरन्तर ससार चक्र मे घुमाते रहते है इसलिए यह कहा जाता है कि वासना मय कर्म ही संसार है। इनके बिना ससार चक्र की परिकल्पना ही नही की जा सकती। कर्म स्वय फल प्रदान करने की शक्ति नही रखते। वह तो कर्त्ता की मनोवृत्ति है जो फल प्रदान करने की क्षमता कर्म मे उत्पन्न करती है, चूँकि ये कर्म शुभ और अशुभ मिश्रित होते है। अत· इन्हे शुक्ल-कृष्ण 'मिश्रित कर्म' या 'पाप-पुण्य मिश्रित कर्म' कहा जाता है।

जो कर्म फलो की आशा से रहित होकर किये जाते है। उन निष्काम कर्मो की 'अशुक्ल-अकृष्ण' कर्म कहते है। ये कर्म किसी की मनोवृत्ति से नही किये जाते हैं। भावनाओ से प्रेरित होकर न किये जाने के कारण इनसे धर्म-अधर्म रूप कर्माशय उत्पन्न नही होते और इसी कारण इन कर्मो का फल भी प्राप्त नहीं होता। कर्म योगी लोग इस प्रकार के कर्म करते है। ये कर्म वासना रहित होते है। अत: ये धर्म-अधर्म रूप नही होते। यह तो स्पष्ट है कि कर्मो को किये बिना प्राणी का शरीर जीवित नही रह सकता। फिर भी कर्मो मे प्रवृत्त करने वाली वासना से बचा जा सकता है। क्योकि वासना के कारण ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पॉच क्लेश उत्पन्न होते है। वासना रहित कर्म केवल कर्त्तव्य के लिए ही किये जाते है। आत्म सन्तुष्ट व्यक्ति के लिए कोई भी फल शेष नही रह जाता। उसके जितने कार्य होते है वे सब वासना रहित होते है, उसके सम्पूर्ण कार्य ईश्वरार्पण बुद्धि से किये जाते है। अत: वे समाज के कार्य होते है। वह अज्ञानी लोगो की तरह अपने को कर्म करने का अभिमानी कर्त्ता समझकर उनमे आशक्त नही होता। यही कारण है कि वह समस्त कर्मो को कराते हुए भी निर्लिप्त रहता है।[१९]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ॥मनुष्य॥ प्रवृत्त कर्म का सेवन कर देवो की समानता ॥स्वर्ग॥ पाता है। निवृत्त कर्म का सेवन करता हुआ पंच महाभूत ॥पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश॥ का अतिक्रमण कर पुनर्जन्म रहित होकर मोक्ष प्राप्त करता है।[२०]

कर्म तथा उसका फल

कर्म और उसके फल के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रो की मान्यता का प्रभाव भारतीय जीवन और दर्शन दोनों में परिलक्षित हाता है। जीवन में यह विश्वास है कि व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार उत्तम, मध्यम, और निम्न गति प्राप्त करता है। दर्शन शास्त्र में कर्म और उसके फल के सम्बन्ध की सम्भावना, अनिवार्यता तथा अपरिहार्यता आदि का बड़ा सूक्ष्म विवेचन

किया गया है। योग दर्शन मे इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि— कर्म और उसके फल को समझने के लिए क्लेश कर्म, विपाक तथा आशय के स्वरूप एव परस्पर सम्बन्ध को समझना आवश्यक है। क्लेश ५ है, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये कर्म के कारण बनते है तथा पुन: कर्मो से उत्पन्न होते है। कहने का तात्पर्य यह है कि बीज और वृक्ष की भॉति क्लेश और कर्म का सम्बन्ध चलता रहता है। प्रथमत: कर्म क्लेश से उत्पन्न होता है और आगे चलकर वह क्लेशो को जन्म देता है और पुन: क्लेश से कर्म। इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है। कर्मो के विपाक या फल को तीन वर्गो मे रखकर समझा जा सकता है— (१) जाति, (२) आयु और (३) भोग। कर्म के कारण ही व्यक्ति विभिन्न उच्च्व, मध्य एव निम्न योनियो मे जन्म ग्रहण करता है। किसी योनि विशेष से जन्म लेना न तो आकस्मिक है और न उसकी इच्छा पर निर्भर है। यह तो उसके पूर्व जन्म के कर्मो के ऊपर आधारित है, वह एक बाध्यता है। उसके पूर्व कर्म जिस प्रकार के जन्म के उपादान सग्रह करेगे, उस प्रकार का जन्म उसे अवश्य ही ग्रहण करना पडेगा।

अत कर्म का प्रथम फल या परिणाम जाति या जन्म है। कर्म का दूसरा परिणाम आयु या जीवन की अवधि है। विभिन्न वर्ग के प्राणियो की आयु भिन्न-भिन्न होती है। कुछ प्राणी कुछ क्षण या कुछ दिन जीवित रहते है तो दूसरे कुछ महीने या कुछ वर्ष। ये भी प्राणी संसार मे है जो सैकडो वर्षो तक जीवित रहते है। प्रत्येक व्यक्तियो के जीवन मे भी भेद पाया जाता है। यह आवश्यक नही है कि कोई प्राणी किसी वर्ग विशेष मे जन्म ले लेता है तो वह उसी वर्ग की अधिकतम आयु तक जीवित रहे। इस कम या अधिक जीवन अवधि का कारण भी कर्म है, जिसका कर्म जितने दिन के भोग के लिए रहता है, वह प्राणी उतने दिन तक जीवित रह पाता है। कर्म का तीसरा परिणाम फल भोग है। भोग दु:ख और सुख के अनुभव को कहा जाता है, प्राणियो का जन्म तथा जीवन इस भोग के लिए ही प्राप्त होता है। जिस प्राणी का कर्म जिस प्रकार के भोग की सामग्री का संग्रह करने में समर्थ होता है, उस प्राणी को उसी प्रकार का फल भोगना पड़ता है। जीवन और भोग भी परस्पर सम्बद्ध है, जीवन भोग के लिए प्राप्त होता है और भोग जीवन के लिए सम्भव है। भोग समाप्ति होते ही जीवन समाप्त हो जाता है, किन्तु जीवन की समाप्ति हो जाने से कर्म फल से छुटकारा नही मिल जाता। जीवन के न रहने पर भी कर्म के आशय बने रहते हैं। आशय का तात्पर्य है कर्मो के वासनात्मक सस्कार। जन्म, जीवन और भोग कर्मो के दृश्य या वाह्य विपाक है, किन्तु आशय कर्मो के अन्त: विपाक है। ये आशय ही जन्म, जीवन और भोग की भूमिका उत्पन्न करते है। एक जन्म के जीवन और भोग के समाप्त होते ही दूसरे जन्म के जीवन और भोग की भूमिका आशय में तैयार रहती है।[२१] अत: मृत्यु एक शरीर की समाप्ति है एक जीवन की समाप्ति नही। इसी बात को गीता मे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और मृत्यु प्राप्त व्यक्ति का पुनर्जन्म भी निश्चित है।[२२]

जन्म, मृत्यु तथा कर्म फल भोग की परम्परा का नाम ही संसार या बन्धन है, इससे छुटकारा प्राप्त करने के लिए विभिन्न दर्शनों में उपाय बतलाये गये हैं। अधिकांश दर्शन कर्म संन्यास का समर्थन करते हैं, किन्तु धर्मशास्त्रों तथा गीता मे कर्म करते हुए कर्म बन्धन से छुटकारा दिलाने वाले मार्ग का विशेष समर्थन है। मनु ने उसे निवृत्त मार्ग कहा है और गीता मे उसे निष्काम कर्म या कर्मयोग कहा गया है।

निष्काम कर्म

गीता के अनुसार निष्काम कर्म वह है जो फल की आशा को त्याग कर किया जाता है। सुख-दु.ख, जय-पराजय, हानि-लाभ का विचार या आशा किये निष्काम बुद्धि से सद्कार्य मे लगे रहने ही को निष्काम कर्मयोग कहा गया है। निष्काम कर्मयोग मोक्ष का सरलतम उपाय है। एक बार किया गया, कर्म कभी समाप्त नही होता, उसकी प्रतिक्रिया चलती रहती है। अपने समस्त कर्मो को ईश्वर को समर्पित करके स्वयं को निमित्त मानना और कर्म के परिणाम पर अपना अधिकार न मानते हुए मोह और अहंकार से परे रहकर अपने धर्म के अनुसार बर्ताव करना निष्काम कर्मयोग है। गीता मे विवेचन है कि ससार के चाल ढाल परखने से दिखलाई पडता है कि आत्मज्ञानी पुरुषो के जीवन बिताने के अनादि काल से दो मार्ग चले आ रहे है।[२३] पूर्ण आत्म ज्ञान प्राप्त करने पर जहॉ शुक जैसे पुरुष संसार छोडकर आनन्द से भिक्षा मॉगते फिरते है, वही जनक सरीखे आत्मज्ञानी ज्ञान के पश्चात् भी स्वधर्मानुसार लोगो के कल्याणार्थ ससार के सैकडो कर्मो मे अपने को समाहित किये हुए पाये गये है। पहले मार्ग को साख्य या साख्यनिष्ठा कहते है और दूसरे को कर्मयोग या कर्मनिष्ठा कहते है। यद्यपि दोनो निष्ठाऍ प्रचलित है पर कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, ऐसा माना गया है। कर्मयोग या निष्काम कर्मयोग के अनुष्ठान के लिए आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है। जब यह ज्ञान बुद्धि मे प्रतिष्ठित हो जाता है, तो आत्मा का न तो जन्म होता है और न कभी मृत्यु। वह अज, नित्य, शाश्वत व पुरातन है एव शरीर के विनाश होने पर भी उसका नाश नही होता है। जिस प्रकार मनुष्य अपने पुराने वस्त्रो को छोड़कर नये वस्त्रो को धारण करता है उसी प्रकार ।।देही शरीर का स्वामी आत्मा— पुराने शरीर का त्याग कर दूसरा नया शरीर धारण करता है।[२४] इसलिए तब यह आवश्यक है कि जन्म और मृत्यु के विषय मे व्यर्थ का शोक न करके मनुष्य अपना कर्म करता रहे। इस कर्मयोग की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे एक बार प्रारम्भ किये हुए कर्म का नाश भी नही होता अर्थात् कर्मयोग मार्ग मे यदि एक जन्म मे सिद्धि न मिले तो किया हुआ कर्म व्यर्थ न जाकर अगले जन्म मे इसकी वृद्धि होती है एव अन्त मे इससे कभी न कभी सच्ची सद्‌गति अवश्य मिलती है।

कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त

भारतीय दर्शन, सस्कृति और सामाजिक जीवन मे यदि कोई सिद्धान्त सर्वमान्य रूप से स्वीकृत है तो वह है कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त। भारतीय विचारधारा में अनेक प्रकार की दृष्टियॉ जगत्, ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध मे उपलब्ध होता है किन्तु सभी के मूल मे कर्मवाद का सिद्धान्त स्वीकृत है। इसलिए कर्मवाद को समझे बिना भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति और भारतीय समाज को भली भॉति नही समझा जा सकता।

कर्मवाद एक व्यापक सिद्धान्त है। उसकी यह मान्यता है कि समस्त ब्रह्माण्ड, विश्व, व्यक्ति और समाज एक व्यापक, शाश्वत एवं अनुलंघ्य नियम में बॅधे हुए हैं। यह अनुलंघ्य नियम है, कर्म का नियम। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है, चाहे वह शुभ करता है या अशुभ, उचित या अनुचित सबका फल अवश्य उसे मिलता है। वह फल कर्त्ता को भोगना पड़ता है, इतना ही नही इसके अन्तर्गत यह भी स्पष्ट है कि कोई भी कर्त्ता अपने किये हुए कर्मो

के फल से न वचित रह सकता है और न छुटकारा ही पा सकता है ।[२५] इसके साथ ही साथ यह भी मान्यता है कि व्यक्ति जो कुछ भी सुख या दु:ख भोगता है, वह किसी अन्य का किया हुआ नही होता अपितु उसके अपने कर्मो का ही फल या परिणाम होता है । इस प्रकार कर्मवाद का विश्लेषण करने पर इसके अन्दर मुख्य तीन पहलू आते है— कर्त्ता, क्रिया और फल । अब यहॉ यह प्रश्न उठता है कि कर्त्ता जब कोई कर्म या क्रिया करता है तो उसकी प्रतिक्रिया अन्य वस्तु या व्यक्ति पर तत्काल ही पड जाती है और उसके बाद वह कर्म समाप्त हो जाता है । ऐसी स्थिति मे कर्त्ता को भविष्य मे होने वाले फल के साथ उस कर्म के सम्बन्ध की योजनाऍ कैसे सम्भव है ? क्योकि यह साधारण सा नियम है कि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का होना सम्भव नही है । यदि अपनी तात्कालिक प्रतिक्रिया के अतिरिक्त किसी अन्य फल का कारण भी उक्त क्रिया को माना जाय तो उस फल तक उसको स्थायी मानना होगा अन्यथा उस फल का वह कारण कैसे माना जा सकता है ? किन्तु यह भी अनुभव सिद्ध है कि कर्म क्रिया रूप होने के कारण तत्काल ही अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर नष्ट हो जाता है । इस विरोध को बहुत गहरायी से भारतीय चिन्तनधारा मे समझा गया है और इसको दूर करने के लिए दार्शनिक दृष्टि से इस पर पर्याप्त चिन्तन भी हुआ है ।

कर्म और कर्मफल के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध को लेकर अनेक प्रकार की स्थापनाये भारतीय दर्शन मे उपलब्ध होती हैं, किन्तु यहॉ हम केवल न्याय दर्शन एवं मीमासा के दृष्टिकोण का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे है । न्याय दर्शन का कहना है कि जब कोई कर्त्ता कोई कर्म या क्रिया करता है तो उसकी दो प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है एक प्रतिक्रिया तो दृष्ट है जिसे सामान्यतया लोग प्रतिक्रिया कहते है और दूसरी प्रतिक्रिया अदृष्ट है जो बाहर न उत्पन्न होकर उस कर्त्ता मे उत्पन्न होती है । यह कर्त्ता की आत्मा मे उत्पन्न होता है और तब तक के लिए विद्यमान रहता है, जब तक उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त न हो जाय । अत: कर्म और कर्मफल के बीच कार्य कारण सम्बन्ध मानने मे कोई बाधा नही है । क्योकि कर्म अदृष्ट द्वारा फल जनक होता है और आत्मा के नित्य होने से चिर स्थायी रहता है । जब वह अदृष्ट फलोन्मुख होता है, उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त हो जाता है, और फल प्राप्त होने के बाद वह अदृष्ट समाप्त हो जाता है ।

इस अदृष्ट की मान्यता के साथ नैयायिको ने ईश्वर की मान्यता को भी जोड दिया है उनका कहना है कि अदृष्ट स्वय मे एक गुण विशेष मात्र है, वह फल की व्यवस्था अपने आप करने मे समर्थ नही है । इसीलिए एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान चेतन तत्व की आवश्यकता है जो समस्त प्राणियो के अदृष्ट को समझकर उसके फल का विधान कर सके और उन फलो के करने वाले प्राणियों के फल प्रदान करने की परिस्थिति तैयार करे तथा उन्हें अपने कर्मों के फल भोगने के लिए बाध्य करे ।

इसके विपरीत मीमांसको का कहना है कि कर्म एक शाश्वत नियम 'चाहिए' या विधि वाक्य से प्रेरित होकर किए जाते हैं । इन कर्मो से एक 'अपूर्व' उत्पन्न होता है । वह अपूर्व कर्त्ता में उत्पन्न न होकर उस कर्म से होने वाले फल में उत्पन्न होता है, जिस प्रकार खेत जोतने से, दही मंथन से या चावल पकाने से उर्वरक शक्ति खेत मे, मक्खन दही मे और विकृति चावल में उत्पन्न होती है, उसी प्रकार समस्त कर्मों का फल उन वस्तुओ मे होता है जो उस कर्मो के फल

है । कर्म एक शाश्वत नियम होने के कारण अपना अपूर्व उन फलो मे उत्पन्न कर देता है । इसके लिए ईश्वर की मान्यता आवश्यक नही, अवसर आने पर वे फल स्वय ही कर्त्ता को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है और कर्त्ता को वह फल भोगना पडता है ।

कर्मवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि यह आवश्यक नही कि व्यक्ति जो कुछ कर्म अपने इस जीवन मे करता है, उन सबका फल उसको उसी जीवन मे प्राप्त हो जाये और जो कुछ भी वह फल सुख या दुःख रूप मे इस जीवन मे भोगता है, उन सब भोगो का कारण कहलाने वाला कर्म केवल इसी जीवन मे हो । कर्मवाद का सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म और उत्तर जन्म या जन्म मरण के चक्र की स्थापना करता है । समस्त भोगो की व्याख्या इस आधार पर की जाती है कि मनुष्य या प्राणी अपने जीवन मे जो सुख या दुःख भोगता है, उन सबका कारण इस जन्म के ही कर्म नही होते, अपितु उसके पुनर्जन्म के कर्म होते है । इसलिए कर्मवाद के सिद्धान्त पर यह आरोप नही बनता कि जन्म के पूर्व व्यक्ति की स्थिति न होने के कारण उसका कोई कर्म नही होता और कोई व्यक्ति जन्म से सम्पन्न या दरिद्र घर मे कैसे उत्पन्न हो जाता है ? क्योकि कर्मवाद केवल इस जन्म के कर्म पर आधारित सिद्धान्त नही है । वह इस जन्म से पूर्व जन्म को भी स्वीकार करता है । कर्मवाद के आधार पर उक्त प्रश्नो के उत्तर सरलता से दिये जा सकते है कि जन्म से दुःख सुख प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने पूर्व जन्म के कर्मो का फल प्राप्त करता है । उसी प्रकार यह अनुभव विरोध कि जो व्यक्ति जीवन मे अच्छा कर्म करता है, दुःखी रहता है और जो बुरा कर्म करता है, वह सुखी रहता है कर्मवाद के सिद्धान्त मे बाधक नही बन पाता क्योकि कर्मवाद के आधार पर व्याख्या करने वाले यह कहते है कि इस समय प्राप्त होने वाला सुख-दुःख पिछले जन्म मे हुए कर्मो के पाप पुण्य के फल है और इस जन्म मे किये जाने वाले शुभ और अशुभ कर्म जिनका फल इस जन्म में नही मिल पाता अपना फल उत्तर जन्म मे लेते हैं ।

कर्मवाद के सिद्धान्त की कुछ आधारभूत मान्यताएँ है, इन्हीं आधारभूत मान्यताओ पर कर्मवाद के सिद्धान्त को भली-भॉति समझा जा सकता है । इन मान्यताओ का संक्षेप मे वर्णन करना विषय की स्पष्टता के लिए आवश्यक प्रतीत होता है—

(अ) कर्म केवल भौतिक क्रिया ही नही है, अपितु इसके अन्तर्गत मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक सभी क्रियाओ का समावेश है । कर्म का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर से नही है, अपितु सूक्ष्म शरीर से भी है । स्थूल पच भौतिक शरीर मृत्यु के उपरान्त नष्ट हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर कर्मो के समस्त संस्कारो के साथ मृत्यु के उपरान्त भी रहता है । जिसके साथ आत्मा एक योनि से दूसरे योनि मे जाकर जन्म ग्रहण करती है ।

(ब) कर्मवाद के अनुसार— कर्मो के संस्कार धर्म अथवा अधर्म, पुण्य अथवा पाप पूर्ण सुरक्षित रहते है । न तो किये हुए कर्म का नाश सम्भव है और न अकृत कर्म का अभ्युपगम ही सम्भव है । इसे ही कृत प्रणाश तथा अकृताभ्युपगम कहा जाता है । अर्थात् जब कोई कर्ता कर्म करता है तो वह कर्म अपने संस्कार रूप में तब तक बना रहता है, जब तक उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त न हो जाये । दूसरी ओर कर्ता को कोई भी ऐसा फल नही मिलता जो उसके कर्म का परिणाम या फल न हो ।

(स) कर्मवाद कर्मचक्र अनादि और अनन्त है इसे चक्र कहने का तात्पर्य यह है कि यह एक वृत्त के रूप मे है, जिसमे आदि और अन्त बतलाना और खोजना सम्भव नही है। प्राणी अपने पूर्व कर्मो के अनुसार जन्म लेता है, पुन कर्म करता है और पुन: जन्म लेता है। कर्म, जन्म और भोग का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इसको कर्म विपाक भी कहा जाता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि कोई दृष्टि आदि दृष्टि नही और कोई प्रलय अन्तिम प्रलय नहीं। प्रत्येक सृष्टि अपने आप मे तो नवीन है किन्तु उसका आधार उसके अपूर्व की सृष्टि है। जब ब्रह्मा सृष्टि करना प्रारम्भ करते है तो उस सृष्टि मे उस सृष्टि से पूर्व वाली सृष्टि के प्राणियों के उन कर्मो को ध्यान मे रखते है, जिनका फल अभी तक उन कर्मो के कर्त्ताओं को प्राप्त नही हुआ रहता। अत: नवीन सृष्टि के प्राणियो की योनि का निर्धारण उनको प्राप्त होने वाले फल की व्यवस्था आदि उनके पूर्व जन्म के कर्म के आधार पर की जाती है।[२६]

(द) कर्मवाद के अनुसार कर्म का परिणाम सस्कार के रूप मे कर्ता के चरित्र, प्रवृत्ति, विचार या भावनाओ पर पडता है। यह सस्कार उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। जीवन पर्यन्त तो यह उसके साथ रहती ही है, मरने के बाद दूसरे जन्म मे भी यह उसके साथ जाता है। आज के कर्म का फल कल भोगना पडता है और कल के कर्म फल का भोग परसो। इस प्रकार कर्म फल का क्रम सदैव चलता रहता है।[२७]

(य) कुछ विचारको का मत है कि कर्मवाद के सिद्धान्तो के अनुसार आत्मा की अमरता को स्वीकार करना अनिवार्य है, क्योकि जब पूर्वजन्म के कर्मो का फल इस जन्म मे मिलता है और इस जन्म के कर्मो का फल अगले जन्म मे मिलेगा तो फल पाने वाले आत्मा का अस्तित्व तीन जन्मों तक अवश्य स्वीकार करना होगा। इस प्रकार अनेक पूर्व जन्म और उसके उत्तर जन्म की परम्परा स्वीकार करने मे आत्मा को निर्विवाद रूप से नित्य एवं अविनाशी मानना होगा।

(र) कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार— सामाजिक जीवन का और व्यक्तिगत जीवन में विद्यमान अपरिहार्य विषमता और विसंगतियों मे रहने वाले मानव को अपने जीवन से सन्तुष्ट रहने के लिए एक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। जीवन की परिस्थितियॉ समान नही हैं, कोई धनी है तो कोई निर्धन, कोई सुखी है तो कोई दु:खी। ऐसी स्थिति मे निराशा और हताशा का होना स्वाभाविक है, यदि उसके पास विसंगतियो को सुलझाने का ठोस आधार न हो। कर्म का सिद्धान्त एक ठोस दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, जिसके आधार पर यह विश्वास किया जा सकता है कि मनुष्य के वर्तमान जन्म मे जो परिस्थितियॉ है वह उसके पूर्वजन्मो के कर्मो के फल के रूप मे प्राप्त हुई है। इसने जिस वर्ण, जिस व्यवस्था, जिस परिवेश और परिवार मे जन्म ग्रहण किया है, वे सब उसके प्रारब्ध से प्राप्त हुए हैं।

(ल) कर्म का सिद्धान्त इस अवस्था को भी दृढ़ करता है कि मनुष्य अपने कर्मो के फल का भोग तो स्वर्ग या नरक के रूप मे मृत्यु के पश्चात् प्राप्त करता है या पुनर्जन्म मे सुख दु:ख के रूप में प्राप्त करता है।

(व) कुछ विचारकों का यह मत है कि कर्मवाद अनिवार्य रूप से नियतिवाद या भाग्यवाद का समर्थन करता है। क्योकि कर्मवाद के अनुसार मानव जीवन की सारी विषमताओं की व्याख्या पुनर्जन्म के आधार पर हो जाती है।

अत: यह कहा जा सकता है कि मानव का वर्तमान जीवन पूर्व कर्मों के पूर्व रूप से नियमित और नियन्त्रित है। ऐसी स्थिति में कुछ भी करने की स्वतंत्रता नही है। वह केवल वही कर सकता है जो उसके पूर्व संस्कार करने के

लिए प्रेरित करते है, किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मवाद अनिवार्य रूप से भाग्यवाद या नियतिवाद नही है । कुछ अश तक इसमे नियतिवाद की झलक अवश्य मिलती है, किन्तु कर्मवाद नियतिवाद या भाग्वाद का पूर्ण रूप से समर्थक नही है । कर्मवाद का सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होने वाले परिवेश शारीरिक, मानसिक क्षमताएँ उसके प्रारब्ध के कारण है । इसमे उसका कोई स्वतत्र अधिकार नहीं है कि वह इसे बदल सके । जन्म स्थान, माता-पिता, परिवार-परिवेश आदि ऐसे तथ्य है,जिसमे उसे चुनाव या परिवर्तन की स्वतत्रता नही है फिर भी उसे इसके उपयोग करने की पूर्ण स्वतत्रता है । उसके संकल्प मे इतनी शक्ति या क्षमता है कि वह अपने पुराने संस्कारो को नये कर्मो के द्वारा बदल सकता है । नये सस्कार अर्जित कर सकता है और अपने आने वाले जीवन को नई दिशा दे सकता है । इस प्रकार हम देखते है कि कर्मवाद पुरुषार्थ का समर्थन करता है । नियतिवाद या भाग्यवाद का नही । किसी भी व्यक्ति को जो कुछ प्राप्त होता है वह उसके कर्मो के फल हैं किन्तु जिन कर्मो का फल अभी नही मिला है उन कर्मो के सस्कार को नये कर्मो के द्वारा दृढ सकल्प, सयम, उपदेश आदि से बदला जा सकता है ।

मनु का विचार

मनु समस्त कर्मो को मन, वाणी और शरीर की उपज मानते है । कर्म के अच्छे या बुरे प्रभाव उत्पन्न होते है जिसके अनुसार प्राणी को दूसरे जन्म मे उत्तम, मध्यम या अधम गति प्राप्त होती है । मन, वाणी और शरीर मनुष्य के समस्त कर्मो के साधक है । इन्ही से वह पुण्य कर्म करता है और स्वर्ग, देव आदि योनियो में जाकर सुख-भोग प्राप्त करता है । इन्ही के द्वारा वह पाप कर्म भी करता है जिससे उसको नरक या दुःख भोगना पड़ता है तिा निम्न योनि मे जन्म ग्रहण करना पड़ता है । मनु ने शरीर, मन और वाणी से होने वाले पाप कर्मो की गणना तथा उनसे होने वाले फलो का वर्णन बड़ी विस्तार से किया है—

मन से होने वाले पापो में

अन्यास से दूसरो की चीजो को लेने की इच्छा, मन से दूसरों का बुरा चाहना, परलोक मे अविश्वास आदि कोअधिक महत्तव दिया गया है ।

वाणी से होने वाले पापो में

कठोर और असत्य भाषण सब प्रकार की चुगली तथा अनावश्यक वाद-विवाद आदि को अधिक महत्व दिया गया है ।

शरीर से होने वाले पापों में

अन्याय से दूसरों के धन का अपहरण शास्त्र के विधान के अतिरिक्त हिंसा, परस्त्री के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करना आदि को प्रमुख माना गया है ।

मनु का कहना है कि शरीर के कर्म दोषो या पाप कर्मो से मनुष्य वृक्ष आदि योनि, वाणी के कर्म दोष से पक्षी और मृग की योनि तथा मन आदि पाप कर्मों के दोष से चाण्डाल आदि कुल मे जन्म लेता है । व्यक्ति शुभ कर्म से देवत्व

प्राप्त करता है । मिश्रित कर्मो से मनुष्यत्व और अशुभ कर्म से नीच योनि मे जन्म लेता है ।[२८] इस प्रकार हम देखते है कि मनु ने शुभ और अशुभ कर्मो की गणना बडी विस्तार के साथ की है तथा उनसे प्राप्त होने वाले शुभ और अशुभ फल योनियो का वर्णन भी विस्तार पूर्वक किया है, जिसका साराश केवल इतना है कि कर्मवाद का सिद्धान्त अटल और अनिवार्य है । कर्म अपना फल अवश्य देते है । शुभ कर्मो का फल शुभ होता है और अशुभ कर्मो का फल अशुभ होता है ।

बौद्ध दर्शन में कर्म सिद्धान्त

बौद्ध विचारको ने भी कर्म शब्द का प्रयोग क्रिया के अर्थ मे किया है । वहॉ भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओ को कर्म कहा गया है, जो अपनी नैतिक शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार कुशल कर्म अथवा अकुशल कर्म कहे जाते है । बौद्ध दर्शन मे यद्यपि शारीरिक वाचिक और मानसिक इन तीनो प्रकार की क्रियाओ के अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है, फिर भी वहॉ केवल चेतना को प्रमुखता दी गयी है और चेतना को ही कर्म कहा गया है । बुद्ध ने कहा है कि 'चेतना ही भिक्षुओ का कर्म है, ऐसा मै कहता हूँ ।' चेतना ही कर्म को करता है, काया से, वाणी से या मन से ।[२९] यहॉ पर चेतना को कर्म कहने का आशय केवल यही है कि चेतना के होने पर ये समस्त क्रियाएँ सम्भव है । बौद्ध दर्शन मे चेतना को ही कर्म कहा गया है लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि दूसरे कर्मो का निरसन किया गया है । उसमे कर्म के सभी पक्षों·का सापेक्ष महत्त्व स्वीकार किया गया है । आश्रय स्वभाव और समुत्थान की दृष्टि से तीनो प्रकार के कर्मो का अपना-अपना विशिष्ट स्थान है । आश्रय की दृष्टि से काय कर्म ही प्रधान है । क्योकि मन कर्म और वाचा कर्म भी काय कर्म पर ही आश्रित है । स्वभाव की दृष्टि से वाक् कर्म ही प्रधान है क्योकि काय और मन स्वभावत: कर्म नही है । कर्म उनका स्वस्वभाव नही है । यदि समुत्थान (आरम्भ) की दृष्टि से विचार करें तो मन कर्म ही प्रधान है, क्योकि सभी कर्मो का आरम्भ मन से होता है । बौद्ध दर्शन मे समुत्थान कारण को प्रमुखता देकर ही यह कहा गया है कि चेतना ही कर्म है । साथ ही इसी आधार पर कर्मो का एक द्विविध वर्गीकरण किया गया है— १. चेतना कर्म, और २. चेतयित्वा कर्म ।चेतना मानस कर्म है और चेतना से उत्पन्न होने के कारण शेष दोनो वाचिक और कायिक कर्म चेतयित्वा कर्म कहे गये है ।[३०]

इस प्रकार हम देखते है कि यद्यपि कर्म शब्द क्रिया के अर्थ मे प्रयुक्त होता है, लेकिन कर्म सिद्धान्त मे कर्म शब्द का अर्थ क्रिया से अधिक विस्तृत है । वहॉ पर कर्म शब्द में शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रिया, उस क्रिया का विशुद्ध चेतना पर पड़ने वाला प्रभाव एवं इस प्रभाव के फलस्वरूप भावी क्रियाओं का निर्धारण और भावी क्रियाओं के कारण उत्पन्न होने वाली अनुभूति सभी समाविष्ट हो जाती है । साधारण रूप में कर्म शब्द क्रिया, क्रिया का उद्देश्य और उसका फल विपाक तीनो ही अर्थ लिए जाते है । कर्म में क्रिया का उद्देश्य क्रिया और उसके फल विपाक तक के सारे तथ्य सन्निहित हैं । आचार्य नरेन्द देव लिखते हैं कि– केवल चेतना (आशय) और कर्म ही सकल कर्म नही है (उसमें) कर्म के परिणाम का भी विचार करना होगा ।[३१]

बौद्ध दर्शन में आर्य आष्टांगिक मार्ग को स्वीकार किया गया है, जिसके घटक, सम्यक् ज्ञान या (दृष्टि) सम्यक्

सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि । सम्यक् सकल्प, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव सम्यक् व्यायाम निश्चित रूप से व्यक्ति को सही प्रकार के कर्म करने की प्रेरणा देते हैं । उसके अन्तर्गत बौद्धो का चतुर्थ आर्य सत्य दु:ख निरोध मार्ग है अर्थात् निर्वाण प्राप्ति का मार्ग है, जिन कारणो से दु.ख उत्पन्न होता है, उन कारणो के नाश का उपाय ही निर्वाण मार्ग कहा जाता है, इसके आठ अग है, इसलिए इन्हे आष्टागिक मार्ग कहते है ।[३२] इसके अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि और सम्यक् सकल्प का प्रज्ञा तथा सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त सम्यक् आजीव और सम्यक् व्यायाम को शील और सम्यक् स्मृति एव सम्यक् समाधि को समाधि कहा जाता है । इस अष्टांग मार्ग को प्रज्ञा, शील और समाधि नामक त्रिरत्न में विभाजित किया गया है । यह अष्टांग मार्ग ही श्रेष्ठ मार्ग है ।[३३] तथा इसी का अनुसरण करने से निर्वाण लाभ हो सकता है ।

१. सम्यक् दृष्टि या ज्ञान

सम्यक् दृष्टि यथार्थ दृष्टि है । अविद्या के कारण ही मिथ्या दृष्टि उत्पन्न होती है । मिथ्या दृष्टि के कारण हम अनित्य, दुखद तथा अनात्म पदार्थ को नित्य सुखद तथा आत्मरूप मानते है यथार्थ दृष्टि से ही मिथ्या दृष्टि का नाश सम्भव है । पालि निकायो मे मिथ्या दृष्टि को विपल्लासा कहा गया है । विपल्लासा तीन प्रकार की है— सज्ञा, चित्त और दिट्ठी विपल्लासा । क्षणिक को शाश्वत या सनातन मानना सज्ञा विपल्लासा है । दु:खद और सुखद मानना चित्त विपल्लासा है । अनात्म को आत्मा मानना दिट्ठी विपल्लासा है । मिथ्या दृष्टि का निवारण ही सम्यक् दृष्टि है । सम्यक् दृष्टि से ही कुशल तथा अकुशल कर्मो का ज्ञान सम्भव है, जब तक कुशल कर्मो का ज्ञान नहीं होता तब तक कुशल कर्मो का आचरण भी नही होता । अत: सम्यक् दृष्टि आचार मार्ग का प्रथम अंग है कुशल तथा अकुशल कर्मो का विभाजन इस प्रकार है—

	अकुशल	कुशल
१	हिंसा	अ. हिंसा
२	चोरी (अदत्तदान)	अ. चौर्य
३	व्यभिचार (मिथ्याचार)	अ. व्यभिचार
४.	अनृत (मृषावचन)	अ. मृषावचन
५	चुगुली (पिशुनवचन)	अ. पिशुनवचन
६	कटुवचन (परुषवचन)	अ. परुषवचन
७	व्यर्थवचन (संप्रलाप)	अ. सप्रलाप
८.	लाभ (अभिध्या)	अ. लोभ
९.	प्रतिहिंसा (व्यापाद)	अ. प्रतिहिंसा
१०.	असत्यज्ञान (मिथ्यादृष्टि)	अ. मिथ्यादृष्टि (सम्यक्दृष्टि)

इन कर्मों का ज्ञान तथा चार आर्य सत्यो का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान या सम्यक् दृष्टि है ।

२. सम्यक् संकल्प

दृढ निश्चय करना है । सम्यक् संकल्प के दो अंश है– शुभ संकल्प का ग्रहण करना तथा अशुभ सकल्पो का त्याग । शुभ सकल्प तीन है— नेक्खम अर्थात् निष्कामना का सकल्प, अत्यापाद सकल्प अर्थात् अद्रोह का सकल्प और अव्रिहिसा सकल्प अर्थात् अहिंसा का सकल्प । शुभ संकल्प के विपरीत अशुभ सकल्प हैं ये भी तीन है— काम सकल्प अर्थात् कामना का सकल्प, व्यापाद का सकल्प अर्थात् द्रोह का संकल्प और विहिंसा का सकल्प अर्थात् हिसा का सकल्प ।[३४] शुभ सकल्पो को धारण करने के लिए दो गुणो की आवश्यकता है— मैत्री और करुणा अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति और सभी जीवो के प्रति दया का भाव ही शुभ संकल्प का आधार है ।

३. सम्यक् वाक्

अनुचित वचन का त्याग करना ही सम्यक् वाक् है । अनुचित वचन चार तरह के बतलाये गये है— मृषा वाचा, पिशुन वाचा, परुषा वाचा और सकल्पना वाचा । संक्षेप मे मिथ्यावादिता, निन्दा, अप्रियवचन तथा वाचालता ये चार वाणी के दोष बतलाये गये है । इससे मनुष्य को बचना चाहिए तथा मंगलमय (कल्याणकारी), मित (संक्षिप्त) और मधुर (प्रिय) बोलना चाहिए ।

४. सम्यक् कर्मान्त

पाप कर्मो का त्याग ही सम्यक् कर्म है । पाप कर्म मुख्यत: तीन बतलाये गये है— हिंसा अर्थात् पानातित्पात, स्तेय अर्थात् अदिन्नवदान (चोरी) और अब्रह्मचर्य अर्थात् इन्द्रियनिग्रह का अभाव ये सभी निन्दनीय कर्म माने गये है । इनके विपरीत अहिसा, अस्तेय, और इन्द्रिय निग्रह की पुण्य कर्म है । अहिंसा के लिए करुणा की आवश्यकता है । अस्तेय के लिए यथालाभ संतोष की आवश्यकता है । ब्रह्मचर्य के लिए इन्द्रिय-निग्रह की आवश्यकता है ।

५. सम्यक् आजीव

जीविका अर्थात् जीवन निर्वाह के लिए उचित मार्ग का अनुसरण तथा निषिद्ध मार्ग का त्याग ही सम्यक् आजीव है । जीवन निर्वाह के लिए जीविका की आवश्यकता है, परन्तु जीविका का उपार्जन उचित मार्ग से होना चाहिए, अनुचित मार्ग से नही । अनुचित मार्ग है— दूसरो को क्लेश देकर तथा दूसरो की हिंसा कर जीविकोपार्जन करना ये निषिद्ध हैं । पालि निकायो मे तथागत के समय पॉच प्रकार के निषिद्ध मार्ग का वर्णन आया है—

१. शस्त्र का व्यापार / सत्थ वणिज्जा

२. प्राणी का व्यापार / सत्र वणिज्जा

३. मांस का व्यापार / मंस वणिज्जा

४. मद्य का व्यापार / मज्ज वणिज्जा

५. विष का व्यापार / विसव वणिज्जा

६. सम्यक् व्यायाम

शुभ विचारो का ग्रहण और अशुभ विचारो का परित्याग करने के लिए प्रयत्न ही सम्यक् व्यायाम है। सम्यक् व्यायाम के चार अग है— पहले के शुभ विचारो का पूर्णत: त्याग, नये अशुभ विचारो का उदय न हो, मन को सर्वदा शुभ विचारो से आच्छादित करना तथा इन शुभ विचारो को बनाये रखने के लिए सतत् प्रयत्न करना। प्रयास के बिना बुरी भावनाओ का अन्त नही तथा अच्छी भावनाओ का आगमन नहीं। बुरी भावनाओ के परित्याग के लिए भगवान् बुद्ध ने पॉच उपाय बताये है।

क. यदि किसी वस्तु को देखकर अपवित्र भावना का उदय होता है तो तुरन्त ही उस व्यक्ति को किसी पवित्र वस्तु का ध्यान करना चाहिए, जिससे अपवित्र का अन्त हो।

ख. यदि किसी पवित्र वस्तु के ध्यान से अपवित्र भावना का अन्त नही होता तो उस व्यक्ति को अपवित्र वस्तु की बुराइयो का ध्यान करना चाहिए।

ग यदि अपवित्रता वस्तु की बुराइयो पर ध्यान देने से भी अपवित्र का अन्त न होता तो उस व्यक्ति को उस वस्तु से ध्यान हटा लेना चाहिए।

घ. यदि अपवित्रता से ध्यान हटा लेने पर भी अपवित्र विचार आते ही रहे तो उस व्यक्ति को उन अपवित्र विचारो को निर्मूल करने का प्रयास करना चाहिए।

ड. यदि बुरे विचारो को निर्मूल करने में वह व्यक्ति समर्थ न हो तो उसे मुट्ठी बॉधकर दॉतो को दबाकर बलपूर्वक बुरे विचारो को रोककर मन को अच्छे विचारों से भर देना चाहिए।

७. सम्यक् स्मृति

ज्ञात विषयो का यथार्थ स्मरण है, जिन विषयो का सम्यक् ज्ञान हो चुका है, उन्हे सतत् स्मरण करना चाहिए। इससे विषय का विस्मरण नही होता। उदाहरणार्थ— शरीर को शरीर, वेदना को वेदना, मानसिक अवस्थाओं को मानसिक अवस्थाओ के रूप मे स्मरण करते रहना चाहिए इन स्मरणों या चिन्तन से इन विषयों के यथार्थ स्वरूप का ध्यान बना रहता है।[३५]

सम्यक् स्मृति के चार अंग है— कायानुपस्थान, वेदनानुपस्थान, चित्तानुपस्थान और धम्मानुपस्थान। इन उपस्थानो का तात्पर्य है कि शरीर, वेदना, चित्त और धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझना। शरीर को क्षणिक और विनाशी समझने वाला कायानुपश्यी है। वेदना को सुखात्मक, दु:खात्मक और उभयात्मक समझने वाला वेदनानुपश्यी है। इस प्रकार का सतत् स्मरण ही सम्यक् स्मृति है। सम्यक् स्मृति का महत्त्व बुद्ध ने अन्तिम क्षण तक बतलाया है— अप्पमादेन सम्यादेट्ठा अर्थात् अप्रमाद से इनका आचरण करना चाहिए।

८. सम्यक् समाधि

बौद्ध धर्म मे समाधि का सर्वोपरि महत्त्व बतलाया गया है, इसका वर्णन विशद है। सम्यक् समाधि अष्टाग मार्ग

का अन्तिम चरण है । इसका वर्णन कई प्रकार से किया गया है । समाधि के दो अग बतलाये गये हैं— चित्त एकाग्रता और प्रज्ञा । ये दोनो अग भगवान् के अपने अनुभव पर आधारित है । भगवान् स्वत: बोधि-वृक्ष के नीचे चित्त को एकाग्र कर बैठे और उन्हे प्रज्ञा प्राप्त हुई । इस अन्तर्दृष्टि से उन्हे दु:ख, अनात्म तथा क्षणिकवाद का ज्ञान प्राप्त हुआ ।

बौद्ध धर्म मे समाधि के चार अग बतलाये गये है । ध्यान की पहली अवस्था मे साधक एकाग्रचित हो । बाह्य विषयो को ध्यान से हटाकर केवल आर्यसत्यो पर ही चिन्तन करता है । आर्य सत्य सम्बन्धी अनेक तर्क-वितर्क उसके मन मे उठते है तथा आर्य सत्यो के प्रति श्रद्धा का उदय होता है । साधक को ध्यान जन्य आनन्द का अनुभव होता हैं । तीसरी अवस्था मे साधक का ध्यान आनन्द से भी हट जाता है तथा उसके मन मे उपेक्षा भाव का उदय होता हैं । परन्तु दैहिक सुख का भान रहता है । चौथी अवस्था मे ध्यानजन्य आनन्द, दैहिक सुख आदि किसी का भान नही रहता । यह सुख दु:ख से रहित, स्फूर्ण शान्ति, पूर्ण विराग तथा पूर्ण-निरोध की अवस्था है ।

बौद्ध दर्शन के प्रमुख प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से ही कर्मवाद की स्थापना होती है । दोनो के अनुसार मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके अतीत कालीन जीवन का परिणाम है और भविष्य वर्तमान पर अवलम्बित है । बौद्ध धर्म के अनुसार अपने कर्मो मे अन्तर के कारण मनुष्य एक जैसे नही होते, परन्तु कुछ अधिक आयु कुछ कम आयु, कुछ निरोग और कुछ रोगी इत्यादि होते है ।[३६]

जब एक पीडित शिष्य बुद्ध के पास आया, जिसका सिर कटा था और उससे रक्त बह रहा था, तब बुद्ध ने कहा— हे अर्हत उसे ऐसा ही सहन करो । तुम उन कर्मो का फल सहन कर रहे हो, जिसके लिए तुम्हे सदियो तर्क नर्क का दु.ख सहन करना पडता है । कर्म के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मो का उत्तरदायी है । कर्मो का फल अवश्य होता है । प्रत्येक का भविष्य वर्तमान कर्मो पर ही आधारित है ।

कर्म के सिद्धान्त के अनुसार कर्मों का फल कर्मी के चरित्र के अनुसार होता है, यदि किसी दुश्चरित्र व्यक्ति ने कोई पाप किया तो उसके लिए उसको अधोगति की यातनाएँ सहन करनी पडेगी । परन्तु यदि किसी सुच्चरित्र व्यक्ति से बुरा कर्म हो जाता है तो उसे इसी जीवन मे थोड़ा सा कष्ट सहने के बाद उससे छुटकारा मिल जाता है । जैसे— यदि एक मनुष्य एक छोटे प्याले भर पानी में ज्यादा नमक डाल दे तो वह पानी खारा हो जायेगा जो कि पीने योग्य नहीं रहेगा । परन्तु वही नमक यदि गंगा के पानी मे डाल दिया जाये तो उसमे कोई भी स्पष्ट दोष नही दिखलाई पड़ेंगा ।[३७] जब कर्म का सिद्धान्त सर्वशक्तिमान हो जाता है तो मानव की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है । जब प्रत्येक अवस्था कर्मो के अनुसार पहले से ही सुनिश्चित है तब मानव उसमें क्या कर सकता है ? गौतम बुद्ध ने मानव की आजादी के सन्दर्भ मे कोई भी स्पष्ट उत्तर न देते हुए भी कर्म से मुक्ति और सम्पूर्ण कर्म सिद्धान्त पर विजय की सम्भावना को स्वीकार किया हैं । बुद्ध के अनुसार कर्म-सिद्धान्त यात्रिक सिद्धान्त नही है । यद्यपि वर्तमान पर अतीत का नियन्त्रण का नियन्त्रण है, परन्तु भविष्य उन्मुक्त है और हमारे सकल्प पर निर्भर करता है । 'हे पुजारियों ! यदि कोई कहे कि मनुष्य को अपने कर्म का फल अवश्य भोगना चाहिए तो उस अवस्था में कोई धार्मिक जीवन नहीं रहता, न ही दु:खों के पूर्ण विनाश का ही कोई अवसर रह जाता है, परन्तु यदि कोई कहता है कि किसी मनुष्य को जो पारितोषिक मिलता है वह उसके कर्मों के अनुसार

होती है तो हे पुजारियो ! उस अवस्था मे धार्मिक जीवन है और समस्त दु:खो के नाश का भी अवसर मिलता है ।[३८] वास्तव मे यदि कर्म का सिद्धान्त यात्रिक हो तो धर्म और नीति शास्त्र के लिए कोई स्थान नही रहेगा । कर्म का सिद्धान्त आध्यात्मिक विकास और प्राकृतिक प्रक्रियाओ के क्षेत्र मे एक व्यवस्था दिखलाता है । वह प्रयत्न और उत्तरदायित्व के महत्व को कम नही करता । बौद्ध धर्म यदृच्छावाद के विरुद्ध है और साथ ही साथ अनियन्त्रणवाद को भी नहीं मानता ।

संसार के क्रम को बौद्ध धर्म ने भवचक्र कहा है । भवचक्र मे कारण से कार्य की शृखला चलती रहती है । द्वादशनिदान के सिद्धान्त मे इसी मत की पुष्टि की गयी है । मृत्यु और जन्म एक ही शृखला की दो कडियॉ है । पुराने के नष्ट होने पर नवीन का जन्म होता है । केवल मनुष्य ही नही वरन् सभी प्राणी इसी चक्र मे फॅसे हुए है ।

परन्तु इस भवचक्र से भी निकला जा सकता है । बौद्ध धर्म के अनुसार सर्वोच्च आध्यात्मिक अवस्था में कर्म का प्रभाव नही रहता । इसमे सभी पिछले कर्म और उनके परिणाम सदा के लिए नष्ट हो जाते है । मानव धर्म और अधर्म दोनो से ही ऊपर उठ जाता है । निर्वाण प्राप्त होने पर सभी कर्म प्राय: समाप्त हो जाते है, परन्तु इसका अर्थ निष्क्रियता नही है । वास्तव मे सभी कर्मो का फल नही होता बल्कि केवल उन्ही कर्मो का फल होता है जो अविद्याजन्य वासनाओं से प्रेरित होते है । निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् कर्म तो होते है, परन्तु उनका फल नही होता है । जैसे भूजे हुए बीज से पौधे की उत्पत्ति नही होती है ।

बुद्ध किसी स्थाई आत्मा को विश्वास मे नही लेते बल्कि उनके अनुसार विज्ञान एक प्रवाह है, जिसमे सभी क्षणो मे पूर्वोत्तर सम्बन्ध है परन्तु किसी अपरिवर्तनीय कूटस्थ आत्मा का अस्तित्व नही है । मृत्यु के पश्चात् जीव के सस्कार बन जाते है, ये संस्कार उसके ‘कर्मो’ के अनुसार होते है और इन्ही के दबाव से एक जन्म का दूसरे जन्म मे सम्बन्ध बना रहता है । यह सस्कार मरणासन्न व्यक्ति के अन्तिम विचार के रूप मे प्रगट होते है । कर्म की इस शक्ति के साथ-साथ उपादान भी आवश्यक है— जीवैषणा अथवा उपादान ही वह शक्ति है जो कि पूर्व कर्मानुसार नवीन जन्म का कारण है । उसके बिना स्वयं कर्म की अपनी कोई शक्ति नही है । निर्वाण प्राप्त करने पर मोह नष्ट हो जाता है और उपादान समाप्त हो जाता है । अत: पुनर्जन्म नही होता । पिछले और नये व्यक्ति मे कोई समानता नही होती, केवल यही सम्बन्ध होता है कि पूर्व के कर्मानुसार बनता है । कभी विज्ञान को भी मृत्यु के बाद अवशिष्ट माना जाता है । ‘जो कुछ हम है यह जो कुछ हमने सोचा है, उसी का परिणाम है ।’ विज्ञान को ही सभी अर्थो मे हमारी आत्मा का सार माना गया है । वास्तव मे इससे विज्ञान और कर्म, विचार और सकल्प मे दृढ़ सम्बन्ध भी प्रगट होता है । निर्वाण प्राप्त करने पर विज्ञान तथा कर्म दोनो से ही छुटकारा मिल जाता है ।

इस प्रकार निर्वाण प्राप्ति के बाद भी व्यक्ति को कार्यरत रहना चाहिए । उस अवस्था मे उसके कर्म अपने लिए नही होते, वे संसार की भलाई के लिए होते हैं । सर्व दु:ख प्रशांति के लिए स्वयं बुद्ध ने बार-बार संसार में जन्म लिया । महामैत्री तथा महाकरुणा से आप्लावित हृदय वाला बौद्ध साधक अपने मुक्ति से अधिक सभी लोगों की मुक्ति की परवाह करता है, इसलिए जनकल्याण के लिए वह हमेशा कार्यरत रहता है ।[३९]

न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म-विचार

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन मे कर्म विचार एक जैसा या समान रूप से स्वीकार किया गया है। न्याय वैशेषिक ये दोनो समान तन्त्र है अर्थात् दोनो एक ही स्तर के दर्शन है। ये व्यावहारिक जगत् से विशेष सम्बन्ध रखते है। कुछ सिद्धान्तो मे तो इनका मतभेद अवश्य है, किन्तु साधारण रूप से इन दोनो मे मतभेद नहीं के बराबर हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन मे जगत् की सभी वस्तुएँ सात पदार्थो मे बॉटी गयी है— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। यहाँ कर्म को भी एक पदार्थ माना गया है।

सदर्भ

१. गीता रहस्य, तिलक, कर्मयोग शास्त्र प्रकरण, पृ० ५५

२. महाभारत, शान्ति पर्व, २५, २६

३ वेद वादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिन·। गीता, २४२

४ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ गीता ३९

५. अक्षर ब्रह्म परम स्वभावोऽध्यात्म मुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्ग· कर्मसंज्ञितः॥ गीता, ८.३

६. वैदाभ्यासस्तयौ ज्ञान शौचमिन्द्रिय निग्रह।
धर्म क्रियात्मचित्ता च सात्विक गुणलक्षणम्॥ — मनुस्मृति, १२ ३१

७ नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषत· कृतम्।
अपल्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ गीता, १८.२३
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राज समुदाहृयतम्॥ गीता १८.२४

८. गीता रहस्य, तिलक, पृ० २८४

९. शुभाशुभ फलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्। कर्मजा गतयोनृणामुत्याध्यमध्यमा॥ — मनु० १२.३७

१०. देवत्व सात्विका यान्ति मनुष्यत्व च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥ — मनु० १२.४०

११. पाद्रत्येण्वभिध्यानं मनसानिष्ट चिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥ — मनु० १२.५

१२. पासष्यममृतं चैव पैशून्यं चापि सर्वशः।
असबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥ — मनु०, १२.६

१३.	अदत्तानामुपादानांहिसा चैवाविधानत.।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविध स्मृतम्॥ — वही, १२.७

१४	श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजा विभग पक्षिणाम्।
चाण्डलयुक्कसानां च ब्रह्मज्ञ यौनिमृच्छति॥ — मनु. १२.५५

१५	तृणगुल्म लताना च क्रत्यादा दष्ट्रिणामपि।
क्रूरकर्म कृता चैव शत शो गुरु तल्यगः॥ — मनुस्मृति १२५८

१६.	वेदाश्यासस्तयोज्ञानमिन्द्रियाणा च संयम·।
अहिंसा गुर सेवा च निश्रेयस्कर परम्॥ — मनुस्मृति १२८३

१७.	सुखाभ्युदायिकं चैव नैश्रेयसिक मेव च।
प्रवृत्त च निवृत्तं च हि विधं कर्म वैदिकम्॥ — मनु० १२८८

१८.	इह-वामुत्र वा काम्यं प्रवृत्त कर्म कीर्त्यते।
निष्काम ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ — मनु०, १२८९

१९	कल्याण, परलोक और पुनर्जन्माक, कर्म विपाक मीमांसा से उद्धृत, पृ० २५१

२०.	कल्याण, परलोक और पुनर्जन्माक, कर्म विपाक मीमांसा से उद्धृत, पृ० २५१

२१	योग सूत्र, व्यास भाष्य, २ १ ३

२२	जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु, ध्रुवं जन्ममृतस्य च। — गीता, २.२७

२३	गीता रहस्य, तिलक, ३.३

२४	वसांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ गीता २.२२

२५.	अवश्यमेव भोगतव्यं कृतं कर्मं शुभाशुभम्।
पेनैव यद्यथा पूर्वं कृतं कर्मं शुभाशुभम्।
स एव तत्रथा मुक्ते नित्यं विहित मात्मना॥ — इतिहास समुच्चय, २.५२

२६.	येषां ये योनि कर्माणि प्राक्सृष्टया प्रतियेधिरे।
तान्येव प्रति पद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥ — महाभारत, शान्ति पर्व, १३१.४८, ४९

२७	यतु कर्माणि पस्मिन्स न्ययुहवनत प्रथम प्रभु.
स तदैव स्वयं मैजे सृज्यामानः पुनः पुनः॥ — मनु० १.२८

२८	शुभै. प्रयागैदर्देवत्व व्यभिश्रैमार्नुषौ भवेत।
अशुभैः केवलेश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते। — मनु०, १२.२

२९ अंगुत्तर निकाय - उद्धृत - बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, भरत सिह उपाध्याय, पृ० ४६३

३० बौद्ध धर्म दर्शन आचार्य नरेन्द्र देव, पृ० २४९

३१ वही, पृ० २५५

३२ इद खो पना भिक्खवे निरोधगामिनि - पतिपदा

अरियसच्च, अयमेव अरियो अत्थांगिको मग्गो सेयाथिद

सम्मपादिट्ठि, सम्मा सकप्पो, सम्मावाचा, सम्मा कम्मन्तो

सम्माजीवो, सम्मासति, समासमाधि।

— धम्मचक्क पवत्तनसुत्त, सयुक्त निकाय

३३ एष व मग्गो नत्थन्नो दस्सस्य विसुद्धिया।

एतं हि तुम्हे परिप्पन्ना दुक्ख स्सन्तं करिस्सथ॥ — धम्मपद, २०.२

३४. विसुद्धिमग्ग, ११७

३५ सच्चाविभंग सुत्त, मज्झिम निकाय।

३६. मिलिन्द पन्ह।

३७. अगुत्तर निकाय, १, पृ० २४९

३८ अगुत्तर निकाय, ३, पृ० ९९

३९ वास्तव मे बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्य की आत्मा का नही वरन् उसके कर्मों का आवागमन होता है। देहावसान के समय जीव की आत्मा का तो नाश होता है, लेकिन उसके कर्म अविनाशी होकर विद्यमान रहते हैं, इन्ही कर्मों की वजह से एक दूसरे शरीर का निर्माण होता है, जिसे हम पुनर्जन्म कहते हैं।

— भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण · संगल लाल पाण्डेय, पृ० १६३

नवम् अध्याय

निर्वाण

निर्वाण

निर्वाण

निर्वाण आध्यात्मिक अनुभव की अन्तिम अवस्था है। जरामरण का निदान ही निर्वाण है। जिसकी खोज मे महात्मा बुद्ध ने ससार को छोडा महायात्रा (महाअभिनिष्क्रमण) की तथा बारह वर्षो की अनवरत साधना की थी। यह भव बन्धन का सर्वथा विनाश है। इसे प्राप्त करने से ही जन्म का स्त्रोत बन्द हो जाता है। स्त्रोत के बन्द होने से ससार सर्वदा के लिए छूट जाता है। निर्वाण निर्वेद की अवस्था है। जन्म बन्धन के विनाश से दु:ख का भी अन्त हो जाता है। शरीर धारण करने से ही दु:ख का अनुभव होता है। जब शरीर कारण की क्रिया ॥पुनर्जन्म॥ समाप्त हो जाती है तो शरीर और ससार जन्य कलेश का क्षय हो जाता है। अत: निर्वाण निर्वेद या निरोध की अवस्था है। निर्वाण प्राप्त कर मनुष्य जन्म ग्रहण नही करता अर्थात् वह अमर हो जाता है। अमृत-तत्त्व को प्राप्त करता है। भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा है— भिक्षुओ ! ध्यान दो, मैंने अमृत को पाया है। मैं उसका उपदेश तुम्हे करता हूँ। मैं अब अमृत की दुन्दुभि बजाऊँगा। अब अमृत के द्वार खुल गये।[१] इस अमृत रस का पान जिसने कर लिया वह अमर हो जाता है। उसे कुछ पाना नही रह जाता, प्राप्तव्य को वह पा लेता है। अत. निर्वाण 'अशेष लाभ', 'परम शान्ति', 'परम-प्राप्ति', 'परम-सुख' और 'परम शिव' की अवस्था है।

निर्वाण क्या है ? निरोध का नाम ही निर्वाण है। निरोध जन्म और मरण के स्त्रोत का आत्यन्तिक अभाव है। जन्म का कारण तृष्णा है— अत: तृष्णा का क्षय ही निर्वाण है।[२] तृष्णा के कारण ही मनुष्य में राग, द्वेष और मोह उत्पन्न होता है। हम राग, द्वेष से युक्त होकर कर्म करतें जाते है और जन्म लेते हैं। अत: राग द्वेष का निरोध ही निर्वाण है। राग, द्वेष के निरोध से जन्म-मरण का स्त्रोत बन्द हो जाता है अर्थात् 'भव' रुक जाता है। अत: 'भव' का रुक जाना ही निर्वाण है। दूसरे शब्दों में भव निरोध ही निर्वाण है।[३] इसका वर्णन करते हुए स्वयं भगवान ने कहा है कि 'मार्ग समाप्त हो गया है, आशाये मिट गयी, सूखी हुई धाराएँ नही बहती, लता कट जाने पर नही फैलती' यही निरोध निर्वाण है। इसके लिए राग, द्वेष और मोह का क्षय आवश्यक है। राग, द्वेष और मोह ही मानव के सबसे बड़े शत्रु हैं। इनसे युक्त होकर मानव कभी शान्ति लाभ नही करता। इनके संयोग से ही वह अशान्त होकर दु:ख को प्राप्त करता है। भगवान बुद्ध के अनुसार तीन ही 'अकुशल मूल' है। इनके संयोग से मनुष्य का चित्त कभी सुख और शान्ति नहीं पाता। अत: राग, द्वेष

और मोह से निर्वाण या विमुक्ति ही निर्वाण है। राग, द्वेष और मोह का निरोध ही तृष्णा का क्षय है तथा तृष्णा का क्षय ही निर्वाण है। यही 'भव-निरोध' है। भगवान ने तृष्णा पर बहुत अधिक जोर दिया है। इसका कारण यह है कि महात्मा बुद्ध के अनुसार तृष्णा सभी अकुशल धर्मो का एक सम्मिलित नाम है। यही जीवन की नदी को प्रवाहित करती है। जिस व्यक्ति मे तृष्णा समाप्त हो गयी वह निष्काम हो गया, निर्वाण प्राप्त कर लिया। इस प्रकार राग, द्वेष, मोह से रहित होना तो तृष्णा या आशा से रहित होना है। जो तृष्णा या आशा से रहित हो जाता है वह जरा और जन्म को पार कर जाता है। इससे स्पष्ट है कि भगवान बुद्ध के अनुसार तृष्णा ही जीवन की जड है। तृष्णा या कामना के समाप्त होते ही जीवन की जड कट जाती है, भव-सागर समाप्त हो जाता है। यह अजर, अमर और अमृत की अवस्था है।

बौद्ध साहित्य मे निर्वाण की उपमा बुझे हुए दीपक से की जाती है। तात्पर्य यह है कि दीपक के बुझ जाने के समान वेदनाओ का सदा के लिए समाप्त हो जाना ही निर्वाण है। भगवान् बुद्ध का कहना है 'भिक्षुओ! जिस प्रकार तेल और बत्ती के रहने से दीपक जलता है, तेल और बत्ती के समाप्त हो जाने से दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार तृष्णा के क्षय से जीवन-मरण की क्रिया भी समाप्त हो जाती है, वेदनाये शान्त हो जाती है।[४] इस प्रकार निर्वाण निर्वेद की अवस्था है। इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि पुराना कर्म क्षीण हो गया, नवीन की उत्पत्ति नही होती, पुनर्जन्म के बीज नष्ट हो गए, कोई इच्छा नही रही तो धीर पुरुष बुझे हुए दीपक के समान निर्वाण को प्राप्त करते है।[५] निर्वाण प्राप्त व्यक्ति सदा के लिए शान्त हो जाता है। जब पुनर्जन्म की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है तो व्यक्ति का पता नही चलता कि वे किस दशा मे विलीन हो गया, इसे कोई नही जानता। अतः निर्वाण अनन्त और अज्ञात दिशा में प्रमाण है। स्वयं भगवान बुद्ध ने बतलाया है कि– लोहे के घन की चोट पड़ने पर जो चिनगारियॉ उठती हैं, वे शीघ्र ही बुझ जाती है, कहॉ गई कुछ पता नही चलता। उसी प्रकार तृष्णा से मुक्त या निर्वाण प्राप्त व्यक्ति की गति का कोई पता नही।[६]

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि निर्वाण राग, द्वेष का क्षय है, तृष्णा का निरोध है। इससे पता चलता है कि निर्वाण अभावात्मक है। निर्वाण के लिए अनेक अभावात्मक विशेषणो का प्रयोग किया जाता है तथा इसे निरोध की अवस्था बतलाया जाता है। यह जरामरण दुःख-शोक इत्यादि से निरोध की अवस्था है। परन्तु बौद्ध साहित्य मे निर्वाण का भावात्मक वर्णन भी उपलब्ध होता है, जैसे निर्वाण को 'अमृत पद' की प्राप्ति बतलाया गया है। इसे परम सुख और परम शान्ति का लाभ भी कहते है। यह साधक के लिए अद्वितीय 'योग क्षेम' है। इसे 'शिव' तत्त्व भी कहा गया है। यह 'सत्य', ध्रुव, निष्प्रपंच, अमृत, शिव, क्षेम, अद्‌भुत और विशुद्धि है। यह प्रपञ्चों का विनाश है तथा परम पद की 'प्राप्ति' भी है।

इस प्रकार निर्वाण केवल पुनर्जन्म का निरोध ही नही वरन् परम शान्ति की प्राप्ति है। अमृत लाभ से बढकर और कोई लाभ नही। इसलिए इसे 'परम लाभ' और 'परम शान्त' पद कहा गया है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति विमुक्ति रस का अस्वाद लेते हैं। भगवान् बुद्ध के अनुसार विमुक्त व्यक्ति का 'कर्त्तव्य कर्म' पूरा हो गया। वह अत्यन्त सुखमय शान्तपद को प्राप्त करता है।[६] निर्वाण शिवत्व का लाभ है। यह मानव के परम कल्याण की स्थिति है। भगवान् बुद्ध के अनुसार– निर्वाण का साक्षात्कार इस जीवन मे किया जा सकता है। जिस व्यक्ति के राग, द्वेष क्षीण हो गये हैं, कामना समाप्त हो

गई है वह इस जीवन मे भी 'परम त्राण' और 'परम क्षेम' का अनुभव करता है।[७] यह अनासक्ति का परमानन्द है जो आसक्ति के सुख से बढकर है। 'अक्षय लाभ' का सुख परमानन्द की प्राप्ति है।

जहाँ तक भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यो का सम्बन्ध है, निर्वाण आध्यात्मिक अनुभव की एक अवस्था का नाम है कुछ विशिष्ट अर्थो मे उसे चित्त की अवस्था विशेष भी कहा जा सकता है बौद्धिक उहापोह का तो वह स्थिरवादी तत्व दर्शन मे कभी विषय नही बनाया गया, जैसा प्राय: बौद्ध दर्शन के उत्तर कालीन विकास मे लिया गया है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण का उपदेश अवश्य दिया परन्तु निवृत्त होकर वे यहाँ इस जीवन में रहे। यही उनका सर्वोत्तम उपदेश था। निर्वाण का आधार जीवन मे है। वह एक वास्तविकता है, दिष्ठ धर्म (दृष्टि धर्म) है, देखी हुई वस्तु है। जीवन की विशुद्धि ही विमुक्ति के रूप मे साधक के लिए प्रकटित होती है यही निर्वाण है। विशुद्धि और निर्वाण दोनो एक है।[८] साधन और साध्य की तरह यह एकता ही बुद्ध धर्म का मूल उपदेश है।

निर्वाण वस्तुत: अहभाव को विसर्जित करने वाले पुरुष की महासुख अवस्था का नाम है। ब्रह्मचर्य का वह अन्तिम फल है। इस फल मे प्रतिष्ठित एक साधक भिक्षु को देखकर भगवान् बुद्ध ने उल्लासपूर्वक कहा था 'ऊपर नीचे सभी ओर मुक्त हो गया।' यह मै इस भ्रम मे नही पडता। इस प्रकार मुक्त भवसागर को पार हो जाता है, जिसे पहले पार नहीं किया था। वह उसमे फिर नही पडता।[९] एक दूसरे मुक्त पुरुष को देखकर भगवान् ने उद्‌गार किया था 'निर्दोष, शुद्ध, श्वेत आसन वाला एक ही धुरा वाला रथ आ रहा है। इस निष्पाप को आते देखो जिसका स्रोत बन्द हो चुका है, जो बन्धन से छूट गया है।'[१०]

निर्वाण अमानुषि रति है, जो धर्म का सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होती है, वह निर्विषय मन का आनन्द है। ऐसा सुख है जो निरामिष है, आलम्बन की अपेक्षा से रहित है अतीन्द्रिय है। इसी सुख का अनुभव करते हुए बिना हिले-डुले, खाये-पीये तथागत कई सप्ताहो तक एक आसन पर समाधि अवस्था मे बैठे रहे थे। यही आनन्द था जिसके कारण वे अपने को राजा बिम्बिसार से भी अधिक सुखी मानते थे। उनके शिष्यो मे से भी अनेक ने इस रस को चखा था। अहो सुख ! अहो सुख ! कहने वाले महिय स्थविर ने इसी अवस्था का साक्षात्कार किया था।[११] अहो मै कितनी सुखी हूँ, मै कितने सुख से ध्यान करती हूँ, यह कहने वाली भिक्षुणी ने भी इस अमृत को पाया था। यह नि:सन्देह है।

भगवान् बुद्ध ने कहा है जिस प्रकार महासमुद्र का केवल एक रस है— लवण रस, उसी प्रकार उनके द्वारा उपदिष्ट धम्म-विनय का भी एक रस है वह है, विमुक्ति रस।[१२] विमुक्ति का अर्थ यहाँ चित्त की विमुक्ति है जिसका कोई परिमाण नही। चेती विमुक्ति को भगवान् ने ब्रह्मचर्य का अन्तिम उद्देश्य माना है। जीवन विशुद्धि, दृष्टि विशुद्धि, आर्य आष्टांगिक मार्ग और चार स्मृत प्रस्थानों आदि के अभ्यास सब चित्त की अचल विमुक्ति के लिए हैं। जब साधक भिक्षु से अशुभ भावना के द्वारा राग प्रहीण हो जाने पर कहा था ततो चित्तं विमुच्चि में अर्थात् मेरा चित्त विमुक्त हो गया तो उसने जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करते हुए निर्वाण के रस को ही चखा। अत: विमुक्ति और निर्वाण दोनो एक हैं। भगवान् ने स्वय कहा भी है राघ ! विमुक्ति का अर्थ है निर्वाण।[१३]

भगवान् बुद्ध का जन्म, जरा, मरण, दु:ख, शोक से विमुक्ति के खोजी थे । उसे उन्होंने निर्वाण के रूप मे ही पाया । निर्वाण आत्यन्तिक दु:ख विमुक्ति की अवस्था थी । वह तथागत की मृत्यु पर विजय थी पालि त्रिपटिक मे अनेक बार निर्वाण को अमृत पद कहा गया है जो बडा सार्थक है । मैने अमृत को पा लिया है । इन शब्दो मे भगवान ने अपनी सत्य प्राप्ति की सूचना सर्वप्रथम संसार को दी थी ।[१४] भगवान् ने अमृत की ओर ले जाने वाले मार्ग के रूप मे मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था । उसी के सम्बन्ध मे उनका कहना था भिक्षुओ 'मैने अमृत को पाया है, मैं उसका तुम्हे उपदेश करता हूँ और मै अमृत की दुन्दुभी बजाऊँगा ।[१५] बोधि प्राप्ति के बाद भगवान् का पहला उद्‌गार था— 'अमृत के द्वार खुल गये है ।'[१६] वस्तुत: बुद्ध शासन अमृत का द्वार ही है, जिसमे ज्ञान से स्नान किये हुए पुरुष प्रवेश करते है । परन्तु यह अमृत क्या है ? बुद्धशासन की परिभाषा मे राग, द्वेष और मोह का जो क्षय है वही अमृत कहा जाता है ।[१७] यही अमृत जिसने पा लिया है, उसको भगवान् ब्राह्मण कहते है । 'जिसमें तृष्णा नही है, जो सशय नहीं करता, जिसने अमृत को पा लिया है, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ ।'[१८]

चार स्मृति प्रस्थानो की भावना से इस अमृत की प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् ने संयुक्त निकाय मे कहा है । भगवान ने 'अशुभ-भावना, मृत्यु-स्मरण, स्वाद-त्याग, वैराग्य, अनित्य-दु:ख और अनात्म' इन सात वस्तुओ की जानकारी को अमृत की ओर ले जाने वाला मार्ग कहा है ।[१९] एक सुन्दर उपमा द्वारा निर्वाण को एक रमणीय भूमि-भाग कहा है जहॉ जाने के मार्ग को तथागत जानते है । वहॉ जाने का जो सीधा मार्ग है वही आष्टांगिक मार्ग है । इसी प्रकार एक सुन्दर उपमा के द्वारा भगवान् ने शरीर को एक राजा का नगर बतलाया है, जिसके छ: इन्द्रिय आयतन छ: दरवाजो के समान है । इस नगर का द्वार रक्षक स्मृति है और राजा मन है । इस मन रूपी राजा के पास शथम और विपश्यना दो सदेशवाहक आते है जो सत्य का सन्देश लाते है । जिस मार्ग से ये सन्देशवाहक आते-जाते है, वह आर्य आष्टांगिक मार्ग हैं और सत्व के जिस सदेश को वे लाते है वह है निर्वाण ।[२०] इस उपमा के द्वारा भगवान् ने यही दिखाया है कि स्वयं उनका सदेश निर्वाण का ही है और उसका मार्ग है— आर्य आष्टागिक मार्ग । 'निर्वाण के सिद्धान्त का प्रख्यापन बुद्ध शासन की ऐसी कोई विशेषता नही है । उसकी सबसे बडी विशेषता तो है निर्वाण और उसकी प्राप्ति के उपाय स्वरूप आष्टागिक मार्ग का पारस्परिक समन्वय विधान है ।'[२१]

निर्वाण के अनुरूप मार्ग है और मार्ग के अनुरूप निर्वाण है । साधन और साध्य में एकरूपता है यही तात्पर्य है, बुद्ध धर्म को स्वाख्यात कहने का । जिस प्रकार गंगा की धारा जमुना मे मिलती है दोनों एक हो जाती है, उसी प्रकार निर्वाण गामिनी प्रतिपदा निर्वाण के साथ मेल खाती है, मिलकर एक हो जाती है ।[२२] निर्वाण के मार्ग का इस जीवन मे शीघ्रतापूर्वक विशोधन करना चाहिए ।[२३] इसके लिए बुद्ध शासन हमें उत्साहित करता है । आस्रवो के क्षय से अपने मन को जब तक पूर्ण विशुद्ध न बना लो, तब तक चैन मत लो यही उन कल्याणकारी शास्ता का हमारे लिए उपदेश है । अत: अप्रमाद की बड़ी आवश्यकता है, निर्वाण साधना के लिए । इसीलिए कहा गया है— 'अप्पमादरतो भिक्खु निव्वानस्सेव सन्तिके ।'[२४] अर्थात् वीर्य-रत भिक्षु निर्वाण के नजदीक ही है । एक दूसरी जगह साधन पक्ष को ही ध्यान में रखकर कहा गया है, जिसमें ध्यान और प्रज्ञा दोनो हैं वह निर्वाण के समीप है ।'[२५] इसी प्रकार एक अन्य जगह बतलाया गया

है एकान्त चिन्तन करने वाला भिक्षु निर्वाण के समीप है।[२६] जैसे-जैसे साधक पचस्कन्धो की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, वह ज्ञानियो की प्रीति और प्रमोद रूपी अमृत को पाता है। जिसका दूसरा नाम निर्वाण है। भगवान् बुद्ध अमृत पद रूपी निर्वाण का उपदेश करते थे। इसका सर्वोत्तम साक्ष्य भिक्षुणी चापा ने दिया है, जिसने अपने पति उपक के बुद्ध दर्शन के सम्बन्ध मे कहा है, उसने सम्यक् सम्बद्ध को अमृत पाद का उपदेश करते देखा। रपुद्रदक पाठ के रतनसुत्त मे भी निर्वाण के लिए अमृत शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है जो तृष्णा रहित हो दृढ़चित्त से बुद्ध के धर्म मे लग गये है वे प्राप्ति को प्राप्त कर अमृत मे बैठ अनायास ही विमुक्ति रस का आस्वाद लेते है। अतः इतने अधिक प्रमाणो से यह कहना कुछ अधिक नही है कि बुद्धोपदिष्ट निर्वाण अमृतपद है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निर्वाण परमसुख, परमशान्ति, चित्त की विमुक्ति और अमृतपद है, जिसकी प्राप्ति के लिए भगवान ने आष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया है। वस्तुतः यह मार्ग ही हमारे लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका अभ्यास स्वय निर्वाण स्वरूप है। हम पहले बुद्ध वचन के आधार पर कह चुके है कि जिसे अमृत कहा जाता है वह राग, द्वेष और मोह का क्षय ही है। राग, द्वेष और मोह ये तीन अकुशल मूल है। ससार मे जितनी बुराइयाँ है उन सबकी जड भगवान् ने राग, द्वेष और मोह को माना है। राग, द्वेष और मोह से अनुविद्ध चित्त कभी सुखी नहीं रह सकता कभी शान्त नही रह सकता। इनसे विमुक्ति प्राप्त करना अमृत है। वही निर्वाण है। साधन ही साध्य बन जाता है। इसीलिए सारिपुत्र ने जब अपने साथी भिक्षुओ से कहा 'अवुसो! यह जो राग का क्षय, द्वेष का क्षय और मोह का क्षय है, यही कहलाता है निर्वाण[२७] तो इसे हम निर्वाण की सर्वोत्तम परिभाषा मान सकते है क्योंकि इसमे जीवन के साथ निर्वाण का सर्वोत्तम संयोग और समीकरण है। भगवान् ने तो केवल यह कहा था कि राग द्वेष का छेदन कर तुम निर्वाण को प्राप्त करोगे। परन्तु सारिपुत्र ने स्वयं राग, द्वेष और मोह के क्षय को ही निर्वाण बताकर बुद्ध के नैतिक शासन को ऐसी ठीक दिशा में बढ़ाया जो महाप्रज्ञ शिष्य के लिए सर्वथा अनुरूप ही था। इसीलिए तृष्णा के क्षय को भी निर्वाण कहा जाता है।स्वभावतः तृष्णा के क्षय के कारण भव रुक जाता है, स्वय भगवान् ने कहा है— भव का रुक जाना ही निर्वाण है।[२८] उदान मे उन्होने भावनामय शब्दो मे कहा है, मार्ग कट गया, आशायें मिट गयी। सूखी हुई धाराये नही बहती है। लता कट जाने पर और नही फैलती, दुःखो का अन्त यही है।

निर्वाण प्राप्त व्यक्ति के लिए कुछ करणीय शेष नही रह जाता। प्राप्तव्य को वह पा चुकता है। निर्वेद को प्राप्त कर वह विरक्त होता है। विरक्त होने से विमुक्त होता है। विमुक्त होने पर मैं विमुक्त हूँ यह ज्ञान उसे उत्पन्न होता है। वह जानता है, जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्यावास पूरा हुआ, कर्त्तव्य कर्म कर लिया गया अब यहाँ कुछ करने को बाकी नही है।[२९] वह सुखमय शान्त-पद को प्राप्त करता है।[३०] उसका यह अन्तिम देह है।[३१]उसका पतन होना सम्भव नही है।[३२]

महात्मा बुद्ध ने अनेक बार पुनरुक्तिपूर्वक कहा है कि निर्वाण का साक्षात्कार यहीं, इस जीवन में होता है। वह कालान्तर मे प्राप्त होने वाली वस्तु नही है। इसी जन्म में निर्वृत होने की बात सुत्तनिपात में भी आयी है।

बुद्ध ने इस लोक का अशरण कहा है । इसमे कहाँ त्राण है, कहाँ क्षेम है, इसकी खोज उन्होंने स्वय की थी और इसे निर्वाण के रूप मे उन्होने पाया था । उन्होंने कहा है धीर पुरुष निर्वाण मे प्रवेश करते है जो अद्वितीय योग क्षेम है ।[३३]

अमृत और शान्ति कहने के साथ-साथ भगवान् ने निर्वाण को अच्युत-पद भी कहा है । 'छन्दरागविरतो सो भिक्खु पन्चाणवा इधत । अज्झगा अमत सन्ति निव्वाणपदमच्चुत ।[३४] इसका अर्थ है कि इच्छा और राग से विरत प्रज्ञावान भिक्षु अमृत-शान्ति, अच्युतपद निर्वाण को प्राप्त करता है ।

निर्वाण शिवत्व का स्थान है । भगवान् ने अत्यन्त सार्थकतापूर्वक कहा है जरा और मरण के विनाश को मैं निर्वाण कहता हूँ ।[३५] जन्म और जरा-मरण के विनाश को प्राप्त विवर्त पुरुष का लक्ष्य क्या है, जिसके सम्बन्ध मे उन्होंने कहा है— जिस ब्राह्मण को तू ज्ञानी, अकिचन, कामभव मे अनासक्त जाने, अवश्य ही वह इस काम भव को पार कर गया है । जो पार हो वह सबसे निरपेक्ष है । भव-अभव मे आसक्ति को छोड़कर वह विचरता है । वह तृष्णा रहित रागरहित और आशा रहित है । वह जन्म, जरा से पार हो गया, मै कहता हूँ ।'[३६]

इसी प्रकार भगवान् ने कहा है 'लोक मे बार-पार को जानकर जिसे लोक मे कही भी तृष्णा नही जो शान्त धूम-रहित, आशा-रहित है, वह जन्म जरा को पार हो गया है, मै कहता हूँ ।[३७] भिक्षुणी सुमेधा ने भी निर्वाण के सम्बन्ध मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्दो मे कहा है—

'यह अजर है, यह अमर है, जरा और मरण से यह विमुक्त स्थान है । यह शोक रहित है । यहाँ कोई विरोध नही, कोई बाधा नही, यहाँ । स्खलन नही, भय नही, ताप नही । बहुतो ने इस अमृत को प्राप्त किया है और आज भी यह प्राप्त किया जा सकता है । जो सम्यक् ध्यान करेगे, वे इसे प्राप्त करेगे । बिना प्रयत्न करने वाले पुरुष के द्वारा यह प्राप्त करने योग्य नही ।'[३८]

निर्वाण इस भव सागर के बीच सुरक्षित द्वीप है । इसी अर्थ को लेकर भगवान् ने कहा है— 'अकिंचन, अनादान, यह सर्वोत्तम द्वीप है । इसे मैं जरा-मृत्यु, विनाश रूप निर्वाण कहता हूँ ।'[३९]

भगवान् ने निर्वाण को ओघ का निस्तरण भी कहा है । जो मनुष्य दृष्ट, श्रुत, स्मृत और विज्ञात में राग हरा चुके है, जो तृष्णा रहित और राग रहित है उन्हे मै ओघ-पार कहता हूँ ।[४०] एक ऐसे ही ओघ तीर्ण पुरुष को देखकर भगवान् ने उल्लास मे कहा था जो पुल बॉध कर ऊपर ही ऊपर सागर और नदी सभी को पार कर जाते है, वे ज्ञानी जन तो पार कर चुके अन्य लोग बेड़ा बॉधते रह गये ।[४१]

क्षेम-रूप निर्वाण को भगवान् ने अविवाद भूमि कहा है— खेमाभिपस्स अविवाद भूमि' ।[४२] निर्वाण प्राप्त मुनि विवाद से परे हो जाता है । उसी के सम्बन्ध मे कहा गया है 'जिसमें सम-विषय नही वह किसके साथ विवाद करे ?[४३] निर्वाण क्या है ? इसका संक्षिप्ततम उत्तर दिया जाय तो वह केवल यह होगा 'रसवन्तो दुक्खस्साति' अर्थात् यह दुःखो का अन्त है । ऋणी पुरुष को जो प्रसन्नता ऋण चुकाकर होती है, बीमार को जो सुख आरोग्य प्राप्त करने पर होता है, बन्धन और दासता से छूटने पर जो उल्लास बन्दी और दास को होता है, किसी बड़े रेगिस्तान को पार कर जो सुख किसी

पथिक को होता है, वही सुख तृष्णा-विमुक्त पुरुष को भव-बन्धन से पार होने पर होता है।[४४] वह निर्वाण का सुख ही है। भगवान् ने कहा है सब कुछ जल रहा है— 'सबत्र आदित'। क्या सब कुछ जल रहा है? रूप जल रहा है, चक्षु जल रहा है, चक्षु विज्ञान जल रहा है; सुख-दु:ख वेदनाएँ जल रही है; श्रौत, घ्राण, काय, नासिका, शब्द, गन्ध, स्पर्श, रस सब कुछ जल रहे है, पॉचो उपादान स्कन्ध जल रहे है; किसकी आग से द्वेषाग्नि से, मोहाग्नि से, रागाग्नि से। चित्त की शान्ति वहॉ नही है। 'ज्ञानी की दृष्टि मे सब कुछ दु:ख है। इस सब दु:ख को छोड़कर अनित्य दु:ख और अनात्म से दृष्टि को हटाकर जिसने अमृत पद की ओर चित्त को एकाग्र किया है, वही शीतल हुआ है और उसने निर्वाण के सत्य का साक्षात्कार किया है। राग, द्वेष और मोह की अग्नि के शान्त हो जाने से जो शीतलता मिलती है वही निर्वाण है और यह निर्वाण है बुद्ध शासन का एक निश्चिततम आश्वासन।' इसी निर्वाण के सम्बन्ध मे कहा गया है कि— 'यही शान्ति उत्तम है जो कि सस्कारो का मन सारी उपाधियो का परित्याग, तृष्णा का क्षय, विराग, निरोध रूपी निर्वाण।'[४५]

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणो द्वारा हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रारम्भिक बौद्ध साधना मे निर्वाण आध्यात्मिक अनुभव का उच्चतम स्वरूप था और उसे ब्रह्मचर्यावस्था का अन्तिम उद्देश्य समझा जाता था।

परन्तु परमार्थ, परम, अतीत सत्य के रूप मे भी भगवान् ने निर्वाण का उपदेश दिया था। उनका यह उपदेश तत्त्व दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भगवान् बुद्ध ने निर्वाण के सम्बन्ध मे भिक्षुओ से कहा— जिस प्रकार तेल और बत्ती के रहने पर दीपक जलता है तथा उसके समाप्त हो जाने पर अथवा दूसरे के न रहने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार शरीर छूटने पर, मरने के बाद, जीवन के परे, अनासक्त रहकर अनुभव की गई ये वेदनाएँ यही ठण्डी पड़ जाती है।[४६] भगवान् कहते है कि वह एक आयतन है, जहॉ न तो पृथ्वी, न जल, न तेज, न वायु, न आकाश, नन्वायतन, न विज्ञानान्वायतन, न आकिन्चन्यायतन, न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है। वहाँ न तो यह लोक है, न परलोक है न चन्द्रमा और सूर्य ही है। भिक्षुओ ! न तो मै उसे 'अगति' और न 'गति' कहता हूँ और न स्थिति और न च्युत कहता हूँ, उसे उत्पत्ति भी नही कहता। वह न तो कही ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है। यही दु:खों का अन्त है।[४७] भिक्षुओ ! अजात, अभूत, अकृत, असस्कृत है। भिक्षुओं ! यदि वह अजात्, अभूत, अकृत और असंस्कृत नही होता तो जात, भूत, कृत और सस्कृत का व्युपशम नही हो सकता। क्योकि वह अजात्, अभूत, अकृत और असंस्कृत है, इसलिए जात, भूत, कृत और सस्कृत का व्युपशम माना जाता है।[४८]

लोहे के घन की चोट पड़ने पर जो चिन्गारियाँ उठती हैं तो तुरन्त ही बुझ जाती हैं— कहाँ गई कुछ पता नही चलता। इसी प्रकार काम, काम-बन्धन से मुक्त हो निर्वाण पाये हुए तथा अचल सुख पाये हुए जन की गति का कोई पता नही लग सकता।[४९] वायु के वेग से क्षिप्त अर्चि (लौ) जैसे अस्त हो जाती है और इस दिशा मे गई उस दिशा मे गई आदि व्यवहार को प्राप्त नही होती। इसी प्रकार मुनि नाम काम से मुक्त हो अस्त हो जाता है, व्यवहार को प्राप्त नहीं होता। अस्तंगत (निर्वाण प्राप्त) के रूप आदि प्रमाण नहीं हैं। जिससे यह कहा जा सके कि यह अस्तंगत है या नही या वह हमेशा के लिए अरोग है। सभी धर्मों के नष्ट हो जाने पर, कथन मार्ग से भी सब धर्म नष्ट हो गये।[५०]

निर्वाण का उपदेश भगवान् ने उस अतीत सत्य के रूप मे दिया था, जो सम्पूर्ण साधना का आश्रय है, परन्तु स्वय जिसके आश्रय के सम्बन्ध मे कोई उत्तर नही दिया जा सकता। निर्वाण अन्तिम सत्य है। उसके आगे नेति-नेति है। 'अथ त आदेशो नेति-नेति' औपनिषद् दर्शन मे तो ब्रह्म के अधिष्ठान के सम्बन्ध मे होती है। वही बात बौद्ध दर्शन मे निर्वाण के सम्बन्ध मे है। भिक्षुओ के उपदेश देते हुए भगवान् ने संयुक्त निकाय मे कहा है— भिक्षुओ ! चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा और शरीर का आश्रय मन है। मन का आश्रय योनिश: मनसिकार या सम्यक् स्मृति है। विमुक्ति सम्यक् स्मृति का आश्रय है। विमुक्ति का आश्रय निर्वाण है। परन्तु तुम यदि पूछो कि निर्वाण का आश्रय क्या है तो यह एक अति प्रश्न है, जिसका उत्तर नही दिया जा सकता। यह ब्रह्मचर्य का जीवन निर्वाण में प्रवेश के लिए है। निर्वाण तक जाने के लिए है, निर्वाण मे परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए है।[५१]

जो विद्वान् एकांश रूप से यह मानते है कि भगवान् बुद्ध ने तो केवल अनित्य, दु:ख और अनात्म को ही देखा था, प्रतीत्य समुत्पन्न शून्य और संस्कृत धर्मो तक ही इनकी पहुँच थी और यही तक उन्होने अपनी सीमा बना ली थी जो यही कहते है कि भगवान् बुद्ध ने किसी परिनिष्ठित वस्तु विषयक कोई उपदेश नही दिया है, उन्हे भगवान् बुद्ध के एक महत्त्वपूर्ण उपदेश को नही भूलना चाहिए वह उपदेश यह है— भिक्षुओ ! अब मै तुम्हें असस्कृत का उपदेश दूँगा सत्य का.. पार का. अजर का.. ध्रुव का... अमृत का.. शिव का... क्षेम का... अद्‌भूत का... विशुद्धि का... द्वीप का... त्राण का उपदेश करूँगा।[५२] निर्वाण को असस्कृत कहा गया है— इसका अर्थ है कि वह एक सस्कार नही है। निर्वाण अनित्य नही है। वह अत्यन्त सुख है, अनित्य कैसे होगा ? अनित्य तो दु:ख रूप होता है। फिर वह सस्कारो की पहुँच के बाहर है। अत. निर्वाण नित्य है, ध्रुव है।[५३] निर्वाण सत्य है और अविनाशी तत्त्व है। भगवान् ने स्पष्टतम् शब्दो में कहा है— 'वह मृषा है, जो नाशवान है, जो नाशवान नही है, वह निर्वाण है।[५४] निर्वाण अमोषधर्मा है। अविनाशी तत्व है— अमोसध्मम निब्बाण।[५५] निर्वाण उच्छेदवाद नही है, वह केवल तृष्णा की आग का उच्छेद से जाना है। काम की आग का बुझ जाना है। काम तृष्णा और भवतृष्णा मुक्त होने पर प्राणी फिर जन्म ग्रहण नही करता। क्योंकि तृष्णा के सम्पूर्ण निरोध से उपादान निरुद्ध हो जाता है। उपादान निरुद्ध हुआ तो भव निरुद्ध, भव निरुद्ध हुआ तो जन्म निरुद्ध, जन्म निरुद्ध हुआ तो बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना, परेशान होना यह सब निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दु:ख स्कन्ध का निरोध होता है। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद निर्वाण मे समाप्त हो जाता है। निश्चय ही आचार्य नागार्जुन ने मूल बुद्ध दर्शन को चाहे जो कुछ निषेधात्मक व्याख्याएँ दी हों किन्तु सब प्रतीत्य समुत्पन्न भावो का निर्वाण मे अशेष निरोध हो जाता है। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद निर्वाण में समाप्त हो जाता है। निश्चय ही आचार्य नागार्जुन ने मूल बुद्ध दर्शन को चाहे जो कुछ निषेधात्मक व्याख्याएँ दी हो किन्तु सब प्रतीत्य समुत्पन्न भावों का निर्वाण मे अशेष निरोध हो जाता है और वास्तव मे निर्वाण का अर्थ ही है, सभी प्रत्यय और हेतुओ से उत्पन्न और निरुद्ध होने वाले धर्मों का अशेष निरोध। निर्वाण मे कारणवादों की गति नही चलती, जो प्रतीत्य समुत्पन्न धर्म है वे वहाँ नहीं रहते। निर्वाण असंस्कृता धातु है। वह परमसत्य है। वह अभाव से व्यतिरिक्त अवस्था है अत्थिधम्म है। संस्कृत और प्रतीत्य समुत्पन्न धर्मों से व्यतिरिक्त भी अस्तित्व है। इसे भगवान् ने स्वीकार किया है और यही निर्वाण है।

व्यवहारिक जीवन मे निर्वाण की स्थिति इतनी विभिन्न है कि मानवीय भाषा के निर्बल उपकरणो से उसको किसी भी प्रकार निरुक्त किया ही नही जा सकता। यहॉ सभी कुछ सापेक्ष है सविकल्प निर्वाण अनपेक्ष है निर्विकल्प है। यहॉ सभी कुछ प्रतीत्य समुत्पन्न ही है। निर्वाण मे प्रत्यय नही है। वह अजात, अभूत और अकृत, असस्कृत है।

निर्वाण के भावात्मक और निषेधात्मक रूपो मे जिन शब्दो का प्रयोग बौद्ध परिभाषा मे किया गया है, वे प्राय: पूरी तरह से वेदान्त के ब्रह्म के लिए भी लागू होते है। बुद्धोपदिष्ट निर्वाण के सम्बन्ध मे हम पहले उदाहरण के आधार पर दिखा चुके है कि वह विमुक्त है, अमृतपद है, योगक्षेम है, आयुतपद है, शान्त है, शिव है, ध्रुव है, त्राण है, द्वीप है, सत्य है, अत्यन्त सुख है, परम अतीत है, निष्प्रपंच है, अस्ति धर्म है, सत् है। यही सब विशेषण वेदान्त के ब्रह्म के लिए भी प्रयुक्त किये गये है। निषेधात्मक रूप मे निर्वाण अकृत है, असंस्कृत है, राग, द्वेष, मोह का विनाश है, तृष्णा और आस्रवो का नि:शेष है, असंस्कृता धातु है और अभिधम्म की शब्दावली मे अव्याकृत है, असंस्कृत है, न स्वयं विपाक है, और न विपाक को उत्पन्न करने वाला है। अनुपादिन्न, अचेतसिक, अनालम्बन, अप्रीतिक, अपरियापन्न, अनुत्तर और अनियानिक आदि है।[५६]

निर्वाण में अनात्मवाद का सवाल अपने आप अभिव्याप्त है। निर्वाण के स्वरूप को समझने के लिए अनात्मवाद के स्वरूप को समझना अत्यन्त आवश्यक है और बिना 'आजात', 'अभूत', 'अकृत', 'असस्कृत' स्वरूप निर्वाण को समझे हम अनात्मवाद को कभी समझ ही नही सकते। निर्वाण की ब्रह्म से तुलना करने पर अनात्मतत्व के दो स्वरूप की अवगति होती है।

निर्वाण के सम्बन्ध में विभिन्न मत

निर्वाण मे बौद्ध धर्म और दर्शन की चरम परिणति है। अत: यह महात्मा बुद्ध की शिक्षा का शीर्ष बिन्दु माना जाता है। तथागत ने वस्तुत: दो ही उपदेश दिया है—

(१) दुख, और

(२) दु:ख निरोध

दु:ख ही द्वादश निदान है। इन्हीं निदानो के कारण मनुष्य जन्म लेकर दु:ख भोगता है, तथा दु:ख का निरोध ही निर्वाण है। जो निर्वाण प्राप्त कर लेता है, वह जन्म और मरण के सागर के उस पार चला जाता है, सुख और शान्ति का अनुभव करता है। इस प्रकार जन्म लेना ही दु:ख है तथा जन्म का निरोध ही निर्वाण है।

इस दृष्टि से 'थेरीगाथा' मे बतलाया गया है कि निर्वाण से बढ़कर कोई अन्य सुख नही। इसी प्रकार 'इतिबुत्तक' में बतलाया गया है कि निर्वाण प्राप्त को परम शान्ति का अनुभव होता है। 'संयुक्त निकाय' में निर्वाण को 'शान्त, शिव और क्षेम' कहा गया है। इन वर्णनों से स्पष्ट है कि निर्वाण केवल दु:ख का अभाव ही नहीं वरन् परम सुख का भाव भी है। 'सुत्तनिपात' में कहा गया है कि ऋणी व्यक्ति को ऋण चुकाने के बाद जो प्रसन्नता होती है, बीमार व्यक्ति को स्वास्थ्य लाभ से जो सुख होता है, दासता से मुक्त होने पर दास को जो आनन्द मिलता है, बड़े रेगिस्तान को पार कर पथिक को

जो हर्ष होता है, वही सुख और आनन्द जन्म-मरण के भव-सागर को पार करने वाले अर्थात् निर्वाण प्राप्त करने वाले को होता है। यही परम-सुख की अवस्था है। इस परम-सुख का वर्णन शब्दो से परे है। यह मधु से भी मीठा, पर्वत से भी ऊँचा, समुद्र से भी गहरा है। दु:ख तत्त्व का दार्शनिक नाम प्रतीत्यसमुत्पाद या कारणतावाद है। दु:ख-निरोध तत्त्व का नाम निर्वाण है। निर्वाण के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में बौद्ध सम्प्रदायो मे अनेक मत है। बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक दो सम्प्रदाय है— हीनयान और महायान।

हीनयानी आचार्यों के अनुसार निर्वाण तृष्णा का क्षय है। निर्वाण का यह स्वरूप निर्वाण की शाब्दिक व्युत्पत्ति पर निर्भर है। व्युत्पत्ति के अनुसार निर्वाण के दो अर्थ है। पहले के अनुसार 'निर्वाण' निर+वन या वान है। वन या वान का अर्थ तृष्णा या कामना है। निर का अर्थ बिना या रहित होना है। अत: निर्वाण तृष्णा से रहित अवस्था है। दूसरे शब्दो मे, तृष्णा का निरोध या क्षय ही निर्वाण है। तृष्णा ही जीवन का कारण है। अत: तृष्णा का निवारण या निरोध ही निर्वाण है। दूसरे के अनुसार निर्वाण बुझना या शान्त होना है। इसकी उपमा दीपक से दी जाती है। जिस प्रकार दीपक तेल और बत्ती के अभाव में बुझ जाता है उसी प्रकार राग-द्वेष के समाप्त होने पर जन्म-मरण की प्रक्रिया भी समाप्त हो जाती है। जन्म का स्रोत (राग-द्वेष) सूख जाने से व्यक्ति परम-सुख का अनुभव करता है। निर्वाण का प्रथम स्वरूप हीनयानी आचार्य स्वीकार करते हैं तथा दूसरा स्वरुप विकसित होकर महायानी आचार्यो का मत बन जाता है।

महायानी आचार्यो के अनुसार निर्वाण शिव, शान्त तथा आनन्द रूप है। महायान साहित्य मे बतलाया गया है कि निर्वाण 'शशविषाण' के समान अभावात्मक रूप नही है। यदि यह असद् रूप या अभावात्मक रूप होता तो इसकी

उपलब्धि नही होती। उपाय के द्वारा निर्वाण की उपलब्धि होती है। अत: यह अभाव रूप नहीं। यदि यह अभाव रूप होता तो अष्टांग मार्ग (शील, समाधि और प्रज्ञा) व्यर्थ हो जाता। यह अष्टांग मार्ग सार्थक है, अत: निर्वाण भावरूप है। प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य नागार्जुन आठ नकारात्मक विशेषणों के द्वारा निर्वाण की व्याख्या करते है।[५७] उनका कहना है कि भगवान् बुद्ध की दो शिक्षाएँ हैं— प्रतीत्य-समुत्पाद (कारणतावाद) और उसकी शान्ति (निर्वाण)। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीत्य-समुत्पाद ही संसार है। पारमार्थिक दृष्टि से प्रतीत्य-समुत्पाद ही निर्वाण है। संसार और निर्वाण मे कोई भेद नही है। संसार से भिन्न निर्वाण की कोई विशेषता नही और निर्वाण से भिन्न संसार की कोई विशेषता नही और निर्वाण से भिन्न संसार की कोई विशेषता नही है।[५८] विचार करने पर ससार और निर्वाण दोनों ही नि:स्वभाव सिद्ध होते है। अपने चुष्कोटिक न्याय से निर्वाण की परीक्षा कर नागार्जुन इसे नि:स्वभाव सिद्ध करते हैं। निर्वाण न तो भावरूप है, न अभाव रूप, न उभय और न नोभय रूप है। निर्वाण भाव रूप नही, क्योकि यह जरा-मरण रूप नही। पुन: भाव-रूप तो सस्कृत (कारणोत्पन्न) होगा और निर्वाण तो असंस्कृत है। निर्वाण अभाव रूप भी नही, क्योंकि अभाव तो भाव सापेक्ष होता है। जिसका भाव ही नही, उसका अभाव कैसे होगा ? इसे भाव और अभाव दोनो (उभय) नहीं मान सकते, क्योंकि भाव और अभाव एक साथ नहीं रह सकते। 'इन दोनों में एक भी नही' (नोभय) भी नहीं हो सकता। यदि निर्वाण दोनों (भाव, अभाव) मे कुछ भी नहीं तो इसका ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसप्रकार निर्वाण बुद्धि के चार विकल्पों के परे 'अनिर्वचनीय' है। अनिर्वचनीय होने से यह नि:स्वभाव है। यह निर्वाण निर्विकल्पक अनुभव (प्रज्ञा) का विषय है। यह संसार हेतु और

प्रत्यय (प्रतीत्य-समुत्पाद) पर आधारित है। यही हेतु और प्रत्ययो से रहित होने पर निर्वाण कहलाता है।[५९] हेतु और प्रत्ययरूप तो जरा-मरण रूप ससार है। इस ससार मे सभी वस्तुएँ हेतु-प्रत्यय भाव से सम्पन्न है। यही सापेक्षता है। जब कार्य-कारण की यह सापेक्षता समाप्त हो जाती है तो संसार ही नि.स्वभाव होकर निर्वाण हो जाता है। इसे भाव या अभाव कुछ भी नही कहा जा सकता।[६०] भाव, अभाव तो बुद्धि के विकल्प है, निर्वाण निर्विकल्प है। यह सर्वप्रपन्चोपशम कहा गया है। इसमे बुद्धि के सभी विकल्प शान्त हो जाते हैं। निर्वाण सभी प्रपन्चो से रहित, शिव तथा शान्त तत्व है। इसके ज्ञान के लिए हमे प्रज्ञा की आवश्यकता है। यह बुद्धि से गम्य नही।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत के अनुसार निर्वाण

सौत्रान्तिको का कहना है कि जो कुछ है, वह हेतु प्रत्यय जनित है, अर्थात् वह सस्कृत, प्रतीत्य-समुत्पन्न, हेतु भव है। संस्कृत संस्कार भी है, यह अन्य संस्कृतों का उत्पाद करता है। हेतु फल-परम्परा के बाहर कुछ भी नही है। यह परम्परा प्रवृत्ति, संसार है। निर्वाण केवल क्लेश जन्म का अभाव है, क्लेश-कर्म-जन्मरूपी प्रवृत्ति की निवृत्ति मात्र है। एक शब्द मे केवल संस्कृत का अस्तित्व है, वे असंस्कृत का प्रत्याख्यान नही करते, किन्तु वे कहते हैं कि यह कोई लोकोत्तर वस्तु सत् नही है, यह असद् भूत है। यथा— लोक मे कहते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व या निष्पत्ति के पश्चात् शब्द का अस्तित्व नही होता। वे एक सूत्र उद्धृत करते है, जिसे उनके प्रतिपक्षी प्रमाणिक नही मानते— अतीत और अनागत वस्तु, आकाश, पुद्गल और निर्वाण प्रज्ञप्ति मात्र है।[६१] निर्वाण अभाव मात्र, अप्रवृत्ति मात्र (अप्पवद्ध) है। सूत्र निर्दिष्ट लक्षण इस प्रकार है— सर्वथा प्रहाण, वैराग्य, विशुद्धि, क्षय, निरोध, दु:ख का अत्यन्त अव्यय, अनुत्पाद, अनुपादान, अप्रादुर्भाव। यह शान्त, प्रणीत है, अर्थात् सर्वोपाधि का प्रत्याख्यान, तृष्णा क्षण निर्वाण है।[६२]

आगम के अनुसार निर्वाण तृतीय सत्य है। यह दु:ख का निरोध, अर्थात् तृष्णा का क्षय, तृष्णा से वैराग्य, तृष्णा का प्रत्याख्यान, तृष्णा से विमुक्ति है। इसको अक्षरश: नही लेना चाहिए, क्योंकि ऐसे अनेक वचन हैं, जिनमें कहा गया है कि दु:ख का निरोध जन्म भव, स्कन्धों का निरोध है, क्योंकि दु:ख का लक्षण तृष्णा नहीं, क्योंकि तृष्णा दु:ख का समुदाय है। निर्वाण का लक्षण कुछ भी क्यों न हो, यह 'अनुत्पाद' है। स्थविर निर्वाण को परमार्थ, सत् नही मानते।[६३]

स्थविर के अनुसार निर्वाण का प्रश्न १४ स्थापनीय प्रश्नों में से है।[६४]

सौत्रान्तिक का यह दृष्टान्त प्रणीत है, यथा— अग्नि का निर्वाण है, तथा ये तो विमुक्ति है। अग्नि का निर्वाण अग्नि का प्रत्यय मात्र है। यह द्रव्य नही।[६५] यह अग्नि का निर्वाण अग्नि का अभाव नही है।[६६]

निर्वाण को असंस्कृत कहा गया है, क्योंकि असंस्कृत को उदान[६७] में एवं इतिबुत्तक मे अनुत्पन्न, अकृत कहा गया है। धम्मपद मे इसे 'अनन्त पदं' कहा गया है। थेरीगाथा[६८] में कहा है—

अक्षेरे हि विज्जमाने किन्तव कामेहि ये सुजरा।
मरणव्याधिगहिता सब्बा सब्बत्थ जातियो ॥
इद मजर मिदमभरं इदमजरामरण पदमसांक।
असपत मसंबाधं अखलितममयं निरुपतापं ॥

निर्वाण असंस्कृत, अमृत, निरोध— इन्हीं शब्दों के आगे धातु जोड़ते हैं, सर्वास्तिवादी के लिए विराग धातु, प्रहाण

धातु, निरोध-धातु, निर्वाण को प्रज्ञप्त करता है। यह आख्याएँ आगे की अवस्था को प्रज्ञप्त नहीकरती।

निर्वाण का आकार

इसका मुख्य आकार क्षय का है। वस्तुत. यह निरोध भी है। यह तृष्णा, क्षय और दु.ख निरोध है। सर्वास्ति इसे प्रतिसख्या निरोध कहते है। शास्ता ने इसे मुख्यत: निरोध व्याकृत किया है। यह द्रव्य है कुशल है, नित्य है, इसे निरोध, विसंयोग कहते है।

अर्हत्व निर्वाण नही है, किन्तु निर्वाण का लाभ है। निर्वाण के तीन आकार है— विराग धातु, प्रहाण धातु, निरोध धातु। आर्य निर्वाण का उत्पाद नही करते, उसका साक्षात्कार करते है।

वैभाषिकों के अनुसार धर्म दो प्रकार के है— संस्कृत और असंस्कृत। रूप, मन और संस्कार संस्कृत धर्म है। आकाश और निर्वाण असंस्कृत। संस्कृत धर्म अतीत, वर्तमान और भविष्य अर्थात् त्रैयध्विक है। ये सब वस्तु सत् है। अतीत और भविष्य उसी प्रकार सत् है जैसे वर्तमान। धर्म दो प्रकार के है— धर्म स्वभाव तथा धर्म लक्षण। जब संस्कार शान्त हो जाते है, जब सभी प्रार्दुभाव निरुद्ध हो जाता है तब अचेतन वस्तु रह जाती है। यह एक पृथक् धर्म एक वस्तु है, यह अचेतन है। चन्द्रकीर्ति का वैभाषिक मत के सम्बन्ध मे कहना है कि— 'यदि निर्वाण भाव है, तो यह नही हो सकता। वस्तुत. कहा गया है कि निर्वाण मे चेतस् का विमोक्ष होता है, यथा— ईधन के न होने पर अग्नि का निर्वाचन होता है। किन्तु इनके अनुसार चित् विमोक्ष या निरोध भाव नही है। वैभाषिक का कहना है— निर्वाण एव क्लेश जन्म का निरोध, निवृत्ति न समझना चाहिए। बल्कि ये कहना चाहिए कि निर्वाण नाम का एक धर्म वस्तु है जिससे क्लेश जन्म का निरोध होता है। यहाँ अग्नि का निरोध दृष्टान्त मात्र है।

योगाचार के प्रवर्तक— अश्वघोष, आचार्य असंग और दिङ्नाग हैं। ये चित्र विज्ञान के अतिरिक्त आलय-विज्ञान को मानते हैं। महायान में उपरोक्त निर्वाण का खण्डन किया गया है, प्रसिद्ध महायान दार्शनिक नागार्जुन का कहना है— 'न तो किसी की उत्पत्ति होती है और न किसी का निरोध, तो निरोध से किसका निर्वाण होता है।'[६९]

बन्धन और मोक्ष, संसार और निर्वाण दोनों आपेक्षिक हैं, अत: मिथ्या हैं। स्कन्ध रूप और स्कन्ध भिन्न दोनो पदार्थो के बन्ध और मोक्ष दोनों असम्भव है, जो इस प्रकार सोचता है, मै पंचस्कन्धो को पार करके निर्वाण प्राप्त करूँगा, वह स्वयं अभी तक स्कन्धों के प्रबल जाल मे फँसा हुआ है।[७०]

नागार्जुन का कहना है कि जब ससार ही नही तो निर्वाण कहाँ से होगा? जब ससार का नाश और निर्वाण प्राप्ति दोनो असम्भव है, तो संसार और निर्वाण की कल्पना ही व्यर्थ है, अत: इनके अनुसार हीनयानियों का निर्वाण सन्तोषजनक नही है।[७१]

नागार्जुन द्वन्द-न्याय (चतुष्कोटि तर्क) के द्वारा निर्वाण की परीक्षा करते हैं। उनका कहना है कि निर्वाण भाव रूप नही है, जरा-मरण आदि भाव रूप है। निर्वाण जरा-मरण रूप नहीं है, जरा-मरण तो सकारण है और जो सकारण होता है, वह संस्कृत तथा सोपादान कहलाता है। निर्वाण अन्य संस्कृत धर्मों के समान पंच स्कन्धों पर आश्रित नहीं।

अत: निर्वाण भवात्मक नही ।[७२] यदि यह भाव रूप नही है तो अभाव रूप होगा । हीनयानी आचार्य निर्वाण की अवस्था मे तृष्णा का पूर्ण विनाश या अभाव मानते है । नागार्जुन इसे अभाव रूप नही मानते । अभाव तो भाव सापेक्ष है, अर्थात् जिसका भाव है, उसी का अभाव होगा । जब भाव ही नही तो अभाव भी नही । पुन: उनका कहना है यदि निर्वाण अभाव है तो अनुपादाय नही हो सकता ।[७३]

कुछ का कहना है कि निर्वाण भाव और अभाव रूप दोनो है । इसके विरोध मे नागार्जुन का कहना है कि भाव और अभाव परस्पर विरोधी होने के नाते दोनो एक साथ नही रह सकते । यदि यह उभय रूप नही है तो नोभय भी नही हो सकता, क्योंकि दोनो का एक साथ निषेध नही हो सकता । इस प्रकार निर्वाण न भाव है, न अभाव है, न उभय है और न नोभय है ।

नागार्जुन के अनुसार निर्वाण अप्रहीण, असम्प्राप्त, अनुच्छिन्न, अशाश्वत, अनिरुद्ध और अनुत्पन्न है ।[७४]

राग आदि के समान जिसका विनाश नही होता वह अप्रहीण है, जो श्रामण्य फल के समान प्राप्त नही होता वह असम्प्राप्त है, जो स्कन्ध आदि के समान उच्छिन्न नहीं होता वह अनुच्छिन्न है, जो सस्वभाव वस्तु के समान नित्य नही वह अनित्य या अशाश्वत् है, जो निरुद्ध या नष्ट नही होता, वह अनिरुद्ध है, जो उत्पन्न नही होता वह अनुत्पन्न है । इस प्रकार नागार्जुन निर्वाण की व्याख्या छ: प्रकार के विशेषणो द्वारा करते है, परन्तु नकारात्मक विशेषणो का प्रयोग करते हुए निर्वाण को वे अभावात्मक नही मानते । उनके अनुसार यह बुद्धि के विकल्पों से मुक्त सभी सांसारिक प्रपन्चो से परे शान्त और शिव की अवस्था है । निर्वाण निष्प्रपन्च, निर्विकल्प अनुभूति है ।

संसार और निर्वाण की व्याख्या करते हुए नागार्जुन कहते हैं, निर्वाण को संसार का अभाव और ससार को निर्वाण का अभाव समझना चाहिए । वस्तुत: कोई भाव ही नहीं जिसका अभाव हो । अत: संसार और निर्वाण एक ही है । ससार प्रपन्च है, निर्वाण प्रपन्च शून्य है । जो प्रतीति और उपादान की दृष्टि से आवागमन रूपी संसार है, वही अप्रतीति और अनुपादान की दृष्टि से निर्वाण है । व्यावहारिक अथवा संवृत्ति से जो संसार है, वही पारमार्थिक दृष्टि से निर्वाण है । दोनो में कुछ भी भेद नही है ।[७५] इसी अभेद दृष्टि के कारण भगवान बुद्ध ने तात्विक प्रश्नों का कोई उपदेश नही दिया । उन्होने दु:ख संतप्त प्राणियो पर दया कर बुद्धि के विकल्पो को पार करने का उपदेश दिया । जो बुद्धि के इन विकल्पो को पार कर अर्थात् ज्ञान पर जो आवरण था उसे हटा दिया, उसी को निर्विकल्प अनुभव निर्वाण प्राप्त हुआ ।

इस प्रकार दोनो सम्प्रदायों हीनयान और महायान के अनुसार निर्वाण की व्याख्या करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हीनयानियो के निर्वाण मे कुछ पाना नही रहता क्योकि इसमे सारे क्लेशो का क्षय हो जाता है । इसमे जितने तरह के क्लेश है सभी बुझ जाते हैं अर्थात् क्लेशावरण का क्षय होता है । अत: निर्वाण अशेष लाभ, परम शान्ति, परम शिव की अवस्था है । यह निर्वाण की अभावात्मक व्याख्या है, क्योंकि इसमें सारे अकुशल धर्मों के निरोध हो जाने से भव रुक जाता है ।

वहीं महायानियों के अनुसार निर्वाण और प्रतीत्यसमुत्पाद में कोई अन्तर नही है । जहाँ व्यावहारिक दृष्टि से

प्रतीत्यसमुत्पाद ही संसार है, वही पारमार्थिक दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद ही निर्वाण है। यह भेद सिर्फ ज्ञानावरण के कारण है। इसके क्षय होने पर यह भेद मिट जाता है। यहाँ निर्वाण मे किसी प्रकार की सापेक्षता नहीं रहती है तथा ससार ही नि स्वभाव होकर निर्वाण हो जाता है। यह निर्वाण की भावात्मक व्याख्या है।

निर्वाण के सम्बन्ध में एक सबसे बडा प्रश्न यह है कि निर्वाण किसका होता है, शरीर का या आत्मा का ? शरीर के निर्वाण का प्रश्न ही नही, क्योकि मरने के बाद शरीर का अन्त हो जाता है। आत्मा के निर्वाण के सम्बन्ध मे बडा विवाद है। बौद्ध-दर्शन अनात्मवादी है (सर्व अनात्मम्) यह नित्य और सनातन आत्मा को नही स्वीकार करता। आत्मा का स्वरूप तो पन्चस्कन्ध (रूप, वेदना, सज्ञा, विज्ञान और संस्कार) रूप है। यह पन्चस्कन्ध क्षणिक तथा विनाशी है। अत· आत्मा भी क्षणिक तथा विनाशी है। यदि आत्मा शाश्वत नही तो इसके निर्वाण का प्रश्न ही नही।

संदर्भ

१ विनय पिटक महावग्ग, अरिय परियेसन सतुन्त — मज्झिम निकाय १/३/६

२. तण्हाय विप्पहानेन निब्बाणं इति वुचति। – सुत्त निपात

३. संयुक्त निकाय, पृ० ११७

४ चूकु हत्थिपदोयम सुत्तन्त। – मज्झिम १/३/७

५ खीनमं पुराणं नवं नत्थि सम्भवं विरतचिन्ता आयतिके भवस्मि ते खीजवीजा अविरूल्हि-छन्दा निब्बन्ति धीरो यथाय प्रदीपो। – रतन सुप्त

६. उदान, पृ० १२७

७. बुद्ध चर्या, पृ० ५/३

८. आचार्य बुद्ध घोष ने अत्यन्त सार्थकतापूर्वक कहा है— विसुदीतिसव्वमल विरहितं अच्चन्तपरिशुद्वंशुद्धं निव्वानं वेदितव्व। — विसुद्धिमग्ग, १/५

९. उदान, पृ० १०१, (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

१०. उदान, (चुल्लवग्ग)

११. मज्झिम० १/३/४

१२ मज्झिम० १/३/४

१३ संयुक्त निकाय, पृ० १८७

१४. विनय पिटक, महावग्ग

१५. मज्झिम० १/३/६, ३/२/५

१६. विनय पिटक, महावग्ग (मज्झिम०, १/३/६

१७. संयुक्त निकाय, जिल्द पाँचवी, पृ० ८

१८. धम्मपद, ४/१

१९ अंगुत्तर निकाय, जिल्द चौथी, (पालिटैक्स्ट सोसायटी का संस्करण), पृ० ४६

२० संयुक्त निकाय, जिल्द चौथी, (पा० सा० का सस्करण), पृ० १९४

२१ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भरत सिंह उपाध्याय, पृ० ४९३

२२ सेरयत्रापि नाम गंगोदक यमुनोदकेन सन्सन्दति समेति, एवमेव संसन्दति निव्वानन्च पटिपदा चाति ।— महागोविन्द सुत्त, (दीघ०, २/५)

२३. निव्वानगमनं मग्ग खिप्पमेव विसोधये ।— धम्मपद, २०/१७

२४. वही, २/१२

२५. विवेक येव सिक्खेथ - - - - - - - -स वे निव्वान सन्तिके ।— सुत्तनिपात, ५

२६ धम्मपद, २५/१५

२७. यो खो आवुसो, रागक्खयो, दोसक्खयो मोहक्खयो इति इदं वुचति निब्बानं– जम्बुखादक (संयुक्त निकाय) – हे हेमक ! यहाँ इष्ट, श्रुत, स्मृत और विज्ञात में छन्द, राग का हटाना ही अच्युत निर्वाण पद है। – सुत्तनिपात, ५/८

२८ सयुक्त निकाय, जिल्द दूसरी, पृ० ११७

२९ बुद्धचर्या, पृ० ३९२-९३

३०. धम्मपद, २५/२२

३१. धम्म० २४/१८

३२ धम्म० २/१२

३३ धम्मपद, २/३

३४. सुत्तनिपात,

३५. सु० नि० ५/१०

३६. सु० नि० (परायण वग्ग)

३७. सु० नि० (परायण वग्ग)

३८. इदरमजरं इदमरंमिदमजराजमजरणपदम सोकं। असपत्तं असम्वाधमक्खलित मभयं निरपातापं ॥ अधिगतमिद बहूहि अमतं अज्जापि च लमनीयमिदं। यो योनिसो पयुन्जति न च सक्का अघट मानेन। – थेरिगाथाएँ

३९. सुत्त-निपात (कप्पमाणव प्रच्छा), ५/१०

४० वही, (नन्दमाणव प्रच्छा)

४१. उदान, (पाटिलिगामिय वग्गो)

४२. सुत्तनिपात (महावियूह सुत्त)

४३. सु० नि० (मागन्दिय सुत्त)

४४. मज्झिम०, १/४/९

४५ महामालुक्य सुत्तन्त (मज्झिम० २/२/४)

४६. चूल हतिथपदोपम – सुत्तन्त (मज्झिम०, १/३/७)

४७. उदान, पाटिलिगामिय वग्गो

४८. वही

४९ वही, (भिक्षु जगदीश काश्यक का अनुवाद), पृ० १२७

५०. सुत्तनिपात, (उपसीवमाणव प्रच्छा)

५१. संयुक्त निकाय, जिल्द पाँचवी (पा० सा० का संस्करण), पृ० २१८

५२. संयुक्त निकाय, जिल्द चौथी, (पा० सो० का संस्करण), पृ० ३६०-६२

५३. बौद्ध दर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शन, भरत सिंह उपाध्याय, पृ० ५०६

५४. धातु विभंग सुतत्त (मज्झिम० ३/४/१०)

५५. सुत्तनिपात (परायण वग्ग)

५६. बौद्ध दर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शन, भरत सिंह उपाध्याय, पृ० ५१५

५७. अनिरुद्धं अनुत्पन्नं अनुच्छेदं अशाश्वतम्।
अनेकार्थं अनोनार्थं अनैगमं अनिर्गमम्॥
अप्रहीणं सम्प्राप्तमनुच्छिन्न मशाश्वतम्।
आन्नुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते॥ – मा० का०

५८. न संसारस्य निर्वाणीत्किन्चिदस्ति विशेषणम्।
न निर्वाणस्य संसारात्किन्चिदस्ति विशेषणम्॥ – मा० का०, २५/१९

५९. य आजवंजकीभाव उपादाय प्रतीत्य वा।
सो प्रतीत्यानुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते॥ – मा० का०, २५/९

६०. प्रहाणं चा ब्रवीच्छास्ता भवस्य विभवस्य च।
तस्मान्न भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यते॥ – वही, १५/१०

६१. अभिधर्मकोश, ४/२

६२. संयुक्त० १३/५; अभिधर्मकोश २, पृ० २८४

६३. अभिधर्म कोश, ६/४

६४. अंगुन्तर, २/१६४

६५. अभिधर्म कोश, २/५५

६६. उदान, ८/१०; मज्झिम निकाय, १/४८७, थेरीगाथा, ११५; सुत्तनिपात, १०७४

६७. उदान, ८/३

६८. थेरीगाथा, ५११-५१३

६९. यदि शून्यमिदं सर्व उदयो नास्ति न व्ययः।
प्रहाणदा निरोधादा कस्य निर्वाण मिष्यते ॥ – मा० का०, २५/१

७० निर्वाणस्याभ्युपादानो निर्वाण मे भविष्यति।
इति येषाग्रहस्तेषामुपादानमहाग्रह· ॥ – मा० का०, १६/९

७१ न निर्वाण समारोपो न संसार कर्पणम्।
यत्र कस्तत्र संसारो निर्वाणं किं विकल्पयते ॥ – वही, १६/१०

७२. भावश्च यदि निर्वाणं संस्कृतं भवेत्।
नासंस्कृतो हि विद्यते भावः क्वचन कश्यन ॥ – मा० का०, २५/५

७३. यद्यभावश्च निर्वाणमनुपादाय तत्कथम्।
निर्वाणं न ह्यभावोस्ति यो नुपाय विद्यते ॥ – वही, २५/८

७४. अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अन्रिरूद्धमनुत्पन्नमेतन्निवर्णण मुच्यते ॥ – मा० का०, २५/३

७५. य आजवंजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा।
सो प्रतीत्यानुपादाय-निर्वाण्मुपदिश्यते ॥
निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य।
न तयोरन्तरं किन्चितसुसूक्ष्ममपिविद्यते ॥ – मा० का०, २५/९

दशम् अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता एवं धम्मपद के नैतिक उपदेशों का तुलनात्मक विवेचन

श्रीमद्भगवद्गीता एवं धम्मपद के नैतिक उपदेशों का तुलनात्मक विवेचन

प्रत्येक विचारधारा के सृजन के मूल मे परिस्थितिजन्य चुनौतियॉ एवं परिवेश उत्प्रेरक के रूप मे विचारक को प्रेरित करती रही है। इस क्रमिक चिन्तन की धारा के फलस्वरूप हमारे वैविध्यपूर्ण संस्कृति एवं सभ्यता का अभूत पूर्व विकास हुआ। यद्यपि इस प्रगति के पथ पर मनुष्य को अनेको बार मूल्य जनित संकटो से संघर्ष करना पडा है फिर भी महापुरूषो एव मनीषियो ने अपने-अपने चिन्तन के ज्ञान प्रकाश से मानव जाति को समय-समय पर इन समस्याओ से मुक्ति दिलाने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। गीता और बौद्ध विचारधारा का प्रादुर्भाव भी इसी सक्रमण कालीन परिस्थिति की देन है।

गीता दर्शन की धारा का प्रस्फुटन, महाज्ञानी, दिव्य पुरूष, परमेश्वर श्रीकृष्ण के मुखार बिन्दु से, तो बौद्ध दर्शन की धारा तथागत करुणा एवं महात्मा बुद्ध के वाणी से प्रवाहित हुई। दोनो ही ऐतिहासिक ज्ञानी एवं जनमानस के आदर्श स्वरूप दिखाई देते है। कृष्ण गोपी गोपिकाओ के प्यारे सखा भी है तो दूसरी तरफ महाभारत युद्ध मे अर्जुन के सारथी भी है। 'सारथी' रूप का जो भावार्थ प्रतिबिम्बित होता है वह ज्ञान से है ॥बुद्धि॥ जैसा कि कठोपनिषद् मे बुद्धि को सारथी कहा गया जो मन को नियन्त्रित कर कर्मेन्द्रियो को कुशलतापूर्वक प्रयोग में लाता है। स्थूल रूप मे श्रीकृष्ण रथ के सारथी है परन्तु उसका अर्थवाद ज्ञान-बुद्धि के तात्पर्य को परिलक्षित करता है जैसा कि मोह जनित, अज्ञान के वशीकृत अर्जुन को वही सारथी श्रीकृष्ण ने कर्म-अकर्म का स्वरूप बताकर उसे सही मार्ग का निर्देशन किया। इसलिए श्रीकृष्ण ज्ञानी भी है। एक राजनीतिज्ञ भी हैं जिन्हें भारतीय जनमानस अवतार के रूप में मानता है।

जहॉ तक कृष्ण और बुद्ध के मानवीय व्यक्तित्व का सवाल है दोनो ही उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के समान एक दूसरे के विपरीत दिखाई देते है। यथा— एक हाथ में बासुरी और चक्र दिखाई देता है तो दूसरे हाथ मे भिक्षा पात्र। एक मोर मुकुट को धारण करता है तो दूसरा अपने केशों को तलवार से काटकर श्रमण का भेष धारण किया। दोनो ही राजकुमार हैं किन्तु उनकी रुचि एवं जीवन योजना में कितनी भिन्नता व्याप्त है? श्रीकृष्ण पीताम्बर धारण करते है, जबकि तथागत बुद्ध ने दुशाला 'राज वस्त्र' का त्याग कर पांशु कूल ॥फटे-पुराने चिथड़ों से निर्मित चीवर॥ को अपनाया है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने उपदेश से युद्ध हेतु उद्यत् करते दिखाई देते हैं जबकि गौतम बुद्ध शाम्य

और कोलियो के बीच जाकर युद्ध को रोकने मे सफल होते है । दोनो ही 'लोक संग्रह' की योजना को स्वीकार कर अपने जीवन मार्ग पर प्रस्थान करते है । परन्तु एक सामूहिक कल्याण के लिए पापियो के वध को पाप नही मानता तो दूसरा 'प्राणिमात्र पर दया करो, क्यो न वह पापी ही हो । 'कृष्ण' कर्मयोग के साथ सौन्दर्य का भी उपयोग करते है योग के साथ भोग भी ग्राह्य है । कर्म के साथ ज्ञान और भक्ति भी ग्राह्य है । वहीं दूसरी ओर बुद्ध समस्त सासारिक सौन्दर्य, भोग आदि को मिथ्या मानते है और अपने वास्तविक आनन्द की विवेचना मे तो वे आत्मा के उस सुख को भी ग्राह्य नही समझते जिसका उपनिषद् के ऋषियो ने साक्षात्कार कर आत्मानन्द को प्राप्त किया । अस्पर्शयोगी समस्त आसक्तियों से परे होकर अपना सबसे ऊपर स्थान बनाया । परन्तु अधिष्ठान के बिना उद्देश्य के क्या कोई जीवन मार्ग की विवेचना कर सकता है । किसके लिए ? यह क्यो किया जा रहा है ? और कौन कर रहा है ? इस अवस्था मे आदि प्रश्न अनुतरित रह जाते है । यह अनासक्तिवाद को अतिरेकी प्रवृत्ति के रूप मे प्रतीत होता है । ऐसा कोई भी मनुष्य नही जो अपने अस्तित्व को स्वीकार नही करता है और निर्वाण, कैवल्य, अपवर्ग आदि की प्राप्ति अवश्य ही किसी नित्य सुख नित्य सत्ता की प्राप्ति के लिए करता है । अन्यथा क्या अज्ञान और क्या ज्ञान ? सब बराबर हो जाते । इस प्रकार यह व्यावहारिक प्रवृत्तियो की व्याख्या मे असमर्थ है । विश्व की व्यवस्था में दु:ख के गम्भीर दर्शन कर उनकी प्रज्ञा जीवन के सम्पूर्ण अगो को स्पर्श करती हुई दु:ख निरोध के प्रयत्न मे गहरी चली गयी । जिसने जीवन मे स्वादनीय कुछ नही देखा ।

भगवान् कृष्ण ने इसके विपरीत प्रत्यक्ष जीवन के क्रिया कलापो मे भाग लिया और उसके अनेक उपभोगो को ग्राह्य माना । इन्द्रिय निग्रह से तात्पर्य उनका आत्म नियन्त्रण से है अर्थात् इन्द्रियो के इच्छानुरूप इधर-उधर व्यग्र मत हो बल्कि मन को स्थिर कर उस पर आत्म नियन्त्रण स्थापित करो । दूसरी बात यह है कि इन्द्रियो की जो प्रकृति है सुनना, खाना, देखना, चलना तो उसे सहजतापूर्वक किया जाय न कि विषयासक्त होकर ।

भगवान् कृष्ण का हिन्दू मानस में विशेष आकर्षण मात्र उनके गीतकार होने से नही है । जैसा कि विश्व मे उनकी ख्याति इसी रूप में है । बल्कि उनके स्वयं आराध्य देव, परमेश्वर होने के कारण अधिक लोकप्रिय है । वास्तव मे गीता को भारत मे एक धार्मिक पुस्तक के रूप में देखा जाता है । भारतीय लोग इसमें निहित जीवन-विज्ञान, जीवन-मूल्य एवं आदर्शों के वैचारिक पक्ष से कम परिचित दिखाई देते है जबकि दूसरी ओर अधिकतर लोग गीता के प्रति श्रीकृष्ण भगवान् के उपदेश के कारण भावनात्मक पक्ष से अधिक जुड़े है । जिसका प्रचार-प्रसार विशेषत: मध्यकाल में मीराबाई, सूरदास, चैतन्य प्रभु आदि द्वारा हुआ ।

जिस प्रकार प्रारिम्भक बौद्ध दर्शन मे बुद्ध को 'धर्म और सत्य' से एकाकार दिखाया गया था और बाद मे इसी आधार पर महायान बौद्ध मे उनका पूर्ण दैवीकरण कर दियां गया था वही बात कृष्ण के सन्दर्भ मे– 'गीता के कृष्ण ब्रह्म के साथ एकाकार दिखाये गये है ।'।[१]

अर्थात् तुम्ही परम ब्रह्म श्रेष्ठ स्थान और परम पवित्र वस्तु, सब ऋषि ऐसे ही देवर्षि नारद, असित देवल और व्यास भी तुमको दिव्य एवं शाश्वत् पुरूष, आदि देव अजन्म सर्वविभु कहते हैं और स्वयं तुम भी मुझसे वही कहते हो

और इसी प्रकार गीता मे १०.२, १५.अ के उधृत श्लोको के भावार्थ भी इस स्वरूप की व्याख्या करते है । कृष्ण विश्वरूपमय है । यह पूरे दसवे अध्याय का सार है । कृष्ण वस्तुत. एक आत्मज्ञानी महात्मा थे जो सत्य के साथ एकाकार हो गये थे जिस प्रकार तथागत का वर्णन मिलता है । दोनो ज्ञान प्राप्ति के बाद संन्यास लेकर कहीं एकान्त साधना मे तल्लीन न होकर, मानव जाति के उद्धार के लिए उनको दु:खो से मुक्त करने के लिए अपने-अपने ढंग से अपने कर्मो का सपादन किया है । इस प्रकार वह कोई भी दर्शन, धर्म एवं पथ क्यो न हो वह कर्मो के निवृत्ति को बिल्कुल नकार नही सकता यह तो प्रत्यक्ष ही 'स्व हिसा' है । हॉ इतना अवश्य है कि कर्मो की शुद्धीकरण की योजना सभी विचारधाराओं मे भिन्न स्वरूप मे देखने को मिलती है । उसके निर्धारण एवं क्रियान्वयन हेतु कौन सा प्रतिभान ॥मार्ग ॥ बनाया जाय जिससे आत्म कल्याण के साथ-साथ सम्पूर्ण मानव जाति का भी कल्याण हो ।

इन्द्रिय निग्रह

उचित कर्त्तव्यो के सपादनार्थ आनन्द की प्राप्ति, परहित की भावना हेतु मानवीय प्रवृत्तियों में बदलाव के लिए गीता इन्द्रिय निग्रह को आवश्यक मानती है । 'कठोपनिषद्' मे इन्द्रिय मन एव बुद्धि की अत: सरचना का वर्णन इस प्रकार किया गया है । जिसमे बुद्धि 'सारथी' एवं शरीर 'रथ' है मन लगाम एवं इन्द्रियॉ घोडे के समान है जो विषयों की ओर दौडती है ।' इसी प्रकार गीता कहती है कि— ये इन्द्रियॉ प्रयत्नरत संयम करने वाले विद्वान् के मन को भी मनमानी ढंग से खीच लेती है । अतएव इन सब इन्द्रियो का सयमन कर युक्त मन से रहना चाहिए । इस प्रकार जिसकी इन्द्रियॉ अपने अधीन हो जाय, उसकी बुद्धि स्थिर मानी जाती है ।[२] विषयो में मन के सचार अर्थात् संग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हमको काम ॥विषय ॥ चाहिए और इस तृष्णा मे विघ्न उत्पन्न होने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है, क्रोध से सम्मोह ॥अविवेक ॥ होता है, सम्मोह से स्मृति भ्रंश, स्मृति-भ्रंश से बुद्धि नाश और बुद्धि नाश से पुरूष का सर्वनाश हो जाता है ।[३]

सारांशत: यह कहा जा सकता है कि मन के निग्रह के द्वारा इन्द्रियो का निग्रह करना सब साधनो का मूल है । विषयो मे आसक्त पुरूष जो इन्द्रियो के साथ इधर-उधर दौड़ता है आत्म ज्ञान प्राप्त कर लेने की बुद्धि ही नही हो सकती । इसके अभाव मे विषय के प्रति दृढ़ उद्योग भी नही होता और वह शाति सुख से वंचित हो जाता है । दूसरी तरफ बौद्ध नीति शास्त्र मे भी इन्द्रिय निग्रह की व्यवस्था देखने को मिलती है । बौद्ध हीनयान दर्शन मे व्यावहारिक अनुशासन के अन्तर्गत "शील, समाधि, प्रज्ञा' आते हैं । ये बौद्ध दर्शन के त्रिरत्न कहे जाते है । 'शील' का अर्थ है सदाचार ॥ सद्गुणो ॥ का पालन करना । यह चार प्रकार का होता है—

१. चेतना २. चेतसिक ३. संवर ४. इन तीनो को सदाचरण मे लाना । पुन: संवर पाँच प्रकार का होता है—

१. पारिमोक्ख संवर निग्रह ॥जो कर्त्ता ॥ साधक ॥ की रक्षा करता है ।

२. सति सवर ॥सावधानी युक्त संवर ॥

३. खान्ति संवर ॥धैर्य का सवर ॥

४. विरिय संवर ॥संयम का संवर ॥

इस प्रकार शील के उचित पालन के द्वारा हमारी समस्त शारीरिक, मानसिक एव वाचिक क्रियाएं व्यवस्थित सगठित एव स्थिर हो जाती है । शील का अभ्यास ध्यानाभ्यास के लिए है । प्रारम्भ मे खान-पान एव उपभोग को तृष्णा को, विविध प्रकार के दुर्गन्धयुक्त शारीरिक तत्त्वो के रूप मे अन्तिम घृणात्मक विकार के रूप मे ॥रक्त, मल, मूत्र, मज्जा आदि के रूप मे ॥ देखने की आदत डालनी चाहिए । अपने मन मे इस विचार को अभ्यस्त करना चाहिए कि हमारे शरीर के भाग चार तत्त्वो से बने हुए है । यथा— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ॥ उसे शील के दान, मृत्यु के स्वरूप एव निर्वाण के गुण एव गहन स्वरूप के शुभ परिणामो पर ध्यान देना चाहिए तथा सर्व मैत्री सर्वदया, सर्व सुख एवं उन्नति मे सुख मानना चाहिए तथा स्वय के अपने मित्र के अपने शत्रु के अथवा तीसरे दल के पक्षपात मे उदासीन रहने की चतुर्विध उपासना के रूपो मे ब्रह्म विहार का अभ्यास करना चाहिए ।[४]

प्राय. गीता एव बौद्ध के अनेक सिद्धान्तो की पृष्टभूमि उपनिषदीय चिन्तन मे दिखाई देता है । तथापि उपनिषदो मे नैतिक अवधारणा यत्र तत्र ही विद्यमान है । तैत्तिरीय उपनिषद् मे कहा गया है कि 'वेद शिक्षा के पश्चात् शिष्य को नैतिक शिक्षा देना गुरू का कर्त्तव्य बतलाया गया है— सत्य बोलो, धर्म का पालन करो, स्वाध्याय मत छोडो, शिष्य का कर्त्तव्य है कि उसे अपने गुरू को नियत दक्षिणा देने के पश्चात् गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना चाहिए । उसे सत्य धर्म अथवा शुभ से विचलित नही होना चाहिए । उसे परहित स्वाध्याय एव शिक्षा देना, बन्द नही करना चाहिए । उसे गुरू एव माता-पिता का आदर करना चाहिए । उसे केवल सुचरित्र की सेवा करनी चाहिए । दुष्ट को भी उसे श्रद्धायुक्त होकर दान देना चाहिए न कि अवज्ञा या लोक लज्जा के भय से, यदि कर्त्तव्य या आचरण के विषय मे कोई सन्देह उत्पन्न हो तो जिस पथ से बुद्धिमान ब्राह्मण ॥महाजन ॥ जाते है उसी पथ का अनुसरण करना चाहिए ।[५] वृहदारण्यक के अनुसार 'आत्म साक्षात्कार हेतु इन्द्रिय निग्रह एव कामनाओ का क्षय शमन एव निरोध, तितिक्षा एव एकाग्रता आवश्यक साधन माने गये हैं ।[६] इस प्रकार हम देखते है कि दोनो ही दर्शनो मे इन्द्रिय निग्रह की अवधारणा उपनिषदो से ली गयी है ।

गीता के नीतिशास्त्र का प्रमुख आधार 'संग एवं कामना' से मुक्ति पाना है जिससे २-६०, ६२, ६३ के श्लोको की उत्पत्ति हुई है । परन्तु बौद्ध दर्शन मे अविद्या को सम्पूर्ण दोषो का स्रोत कहा गया है जबकि गीता मे इस शब्द का उल्लेख भी नही है ।[७]

परन्तु मेरे विचार से यह कहना तर्कसंगत नही है । प्राय: प्रत्येक भारतीय दार्शनिक की अभिव्यंजना अपने-अपने सत् ज्ञान का प्रतिपादन करती है, जिसके द्वारा वे असत्य, अज्ञान, अविद्या, माया आदि पर्यायिक शब्दो का ही निराकरण करना चाहती है । यह स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन अपने प्रतीत्यसमुत्पाद' के माध्यम से कारण-कार्य के रूप मे १२ तत्त्वो का उल्लेख किया है जिसमे— १. अविद्या मूल कारण है और पुन: क्रमश: २. संस्कार ३. विज्ञान ४. नामरूप ५. उपादान ६. षडायतन ७. स्पर्श ८. वेदना ९. तृष्णा १०. भव ११. जाति १२. जरामरण उत्पन्न होते हैं । इन समस्त दु:ख विकारों का निरसन अविद्या के निराकरण से ही सम्भव है जो बौद्ध उपदिष्ट चार आर्य सत्यों के ज्ञान एवं अष्टागिक मार्गो ॥ मध्यम मार्ग ॥ के अनुसरण से ही सम्भव है । अगर गीता के यत्र तत्र एवं क्रोध, मोह आदि विकारो के उद्भव के मूल

मे कौन कारक उत्तरदायी है तो वहाँ भी स्पष्ट दिखाई देगा कि वह अज्ञानी है वह मूढ़ी है वह नही जानता है, आदि शब्दो का प्रयोग गीता मे किया गया है। शकर भी समस्त दोष के मूल को अनिर्वचनीय अविद्या कहा है। गीता मे ज्ञान-अज्ञान शब्दो का प्रयोग कई जगहो पर किया गया है। यथा 'विभु' अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा ॥परमेश्वर॥ किसी का पाप और किसी का पुण्य भी नही लेता। ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पडा रहने के कारण प्राणी जन मोहित हो जाते है।[८] परन्तु ज्ञान से जिसका अज्ञान नष्ट हो जाता है उन्ही का ज्ञान परमार्थ तत्त्व को, सूर्य के समान प्रकाशित कर देता है।[९] अब तुझे वह बतलाता हूँ जिसे जान लेने से अमृत पद प्राप्त होता है, वह अनादि ब्रह्म है।[१०]

गीता दर्शन का सृजन अर्जुन की अज्ञानता का सर्वप्रथम निराकरण करती दीख पडती है 'हे अर्जुन जिसका तुझे शोक नही करना चाहिए उसी का शोक कर रहा है और ज्ञान भी हॉकता है किसी के प्राण जाये चाहे रहे ज्ञानी पुरुष उसका शोक नही करता।[११]

इस श्लोकार्थ से स्पष्ट है कि शोक करने वाला अर्जुन अज्ञानी है क्यो न उसे मोह होगा। और अन्तत. वह अपने द्वारा एव समाज द्वारा पद दलित किया जाता है। गौतम बुद्ध का चार आर्य सत्य का ज्ञान भी तो यही है कि इन अनित्य परिवर्तनशील वस्तुओ के प्रति आसक्त न हो ये दु:खदायी है। गीता मे भी तो यही है कि जिसको तू मरना जीना समझता है वह वास्तव मे वैसा नही क्योकि उसको नित्य ॥आत्म॥ तत्त्व तो अजर-अमर अविनाशी है। 'अजो नित्य शाश्वतो म पूराण न हन्यते हन्यमाने शरीरे'[१२] तो इस आधार पर तू क्यो शोक करता है और दूसरा यह धर्म-अधर्म का युद्ध है। तुम लोक हित के पक्ष मे खडे हो जबकि दुर्योधन तुष्ट आकाक्षाओ ॥अधर्म।। के पक्ष मे खडा है। इस दृष्टि से भी युद्ध करना ही है और समस्त उपदेश के बाद अर्जुन की अज्ञानता दूर होती है और वह पुन: सद्बुद्धि की स्थिति मे आ जाता है और अपने कर्त्तव्य का पालन निर्भिकता पूर्वक करता दीख पड़ता है। तो फिर क्या उपयुक्त विवेचन से गीता मे भी समस्त दोष एव गुण विकारो का मूल कारण अज्ञान ॥अविद्या॥ नही स्पष्ट होता। इसलिए मै एस० एन० गुप्ता महोदय के तर्कों से सहमत नही हूँ कि चूँकि गीता बौद्ध साहित्यो की तरह क्रमबद्ध एवं विशिष्ट उद्देश्यो के निमित्त अलग-अलग खण्डो मे नही लिखी गयी। उसमे तो अध्यात्म, धार्मिक, नैतिक सभी विषयो को समाहित किया गया है। कम शब्दो मे व्यापक अर्थो को कहने की स्थिति मे यह अस्पष्टता, रिक्तता स्वाभाविक ही है।

कर्म-पुनर्जन्म, मोक्ष के सन्दर्भ में गीता एवं बौद्ध के विचार

कर्म-पुनर्जन्म एव मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त गीता एवं बौद्ध दोनो ही दर्शनो मे देखने को मिलता है। गीता मे आचार तत्त्व की व्याख्या कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञान योग के रूप मे किया है। कर्म के सिद्धान्त के विषय मे गीताकार का मत है कि 'कर्म तो करने चाहिए, क्योकि स्वभावत: ही कोई कर्म किये बिना एक क्षण भी नही रह सकता है।[१३] कर्म न करने से शरीर यात्रा भी न सिद्ध होगी—

'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेद कर्मण:।[१४]

अत: गीता का यह स्पष्ट उपदेश है कि 'सतत कार्य कर्म समाचर सतत् करने योग्य काम को करो ॥बिना कार्य किये बुद्ध के उपदेश को— मन में लाना भी सूकर नही है ॥सारिपुत्र वचन॥[१५] परन्तु कौन-सा कर्म किया जाय कैसे

किया जाय ? कर्म-अकर्म का निर्णय कैसे हो ? इन प्रश्नो से बुद्धिमानजन भी विमोहित हैं । गीताकार ने कर्त्तव्य का निरूपण इस प्रकार किया है—

'हे धनजय ! आसक्ति छोडकर और कर्म की सिद्धि हो या असिद्धि दोनो को ही समान मानकर 'योगम्य' होकर कर्म कर । समता की मनोवृत्ति को ही ॥कर्म ॥ योग कहते हैं । क्योकि बुद्धि के ॥साम्य ॥ योग की अपेक्षा ॥वाह्य ॥ कर्म बहुत ही दुरूह है । अतएव इस साम्य बुद्धि के शरण मे जा । फल हेतुक दृष्टि को ध्यान मे रखकर कार्य करने वाले लोग, दोयम दर्जे ॥निम्न ॥ कोटि के लोग होते हैं । जो साम्य बुद्धि से युक्त हो जाय वह इस लोक मे पाप-पुण्य दोनो से अलिप्त रहता है अतएव योग का आश्रय कर । इसी कर्म करने की चतुराई को योग कहा जाता है । 'योग कर्मसु कौशलम्' ।[१६] उपर्युक्त भावार्थो का समावेश भी तथागत मे स्थित आचार तत्त्व मे देखा जा सकता है । 'लोभमूलक, द्वेषमूलक और मोहमूलक चित्तो का और इनसे विपरीत कुशल चित्तो का रहस्य क्या है, ये गीताकार का समान भाव देखे बिना नही रह सकते ? फिर जब भगवान् तथागत ने भिक्षुओं को आमन्त्रित कर कहा था ॥चरम भिक्खये चारिक वहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय अन्याय हिताय सुखाय देव मनुस्सान ॥ तो यह बहुजनो के हित, सुख और कल्याण के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर घूमना लोक पर अनुकम्पा कर उसके अर्थ हित और सुख की सोचना क्या ॥यज्ञार्थ कर्म ॥ नही है । यदि औपनिषद् और गीता के अर्थो को ही लेना है । अनासक्ति पूर्ण यज्ञादि कर्म करने का जो उपदेश गीता मे निहित है वह भगवान् बुद्ध के कर्म की व्याख्या के विरुद्ध नही है । फिर भगवान् बुद्ध भी कर्म की चेतनामयी व्याख्या भी समान उद्देश्य के लिए अर्थात् नैतिक उपयोग के लिए ही गीताकार की अन्तर्दृष्टि ने भी न देखी हो ऐसी बात नही है 'कर्मेन्द्रियाणि सचम्य य: आस्ते मनसा स्मरन् ॥ इन्द्रियार्थान् विर्मूझात्मा मिथ्या चारस: उच्यते अर्थात् जो मूढात्मा कर्मेन्द्रियो का सयम कर इन्द्रियो के अर्थो को मन से स्मरण करता रहता है वह मिथ्याचार करने वाला है ॥ इसी प्रकारके वचन तथागत ने आर्य विनय और आर्य धर्म मे इन्द्रिय संयम किस प्रकार होता है पर बोलते हुए कहे थे । गीता में जिस अनासक्ति का विचार पाया जाता है तथागत ने भी इसमे इसे प्रकारान्तर से कहा था । ये रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान ॥पंचस्कन्ध ॥ आत्म स्वरूप वही है और उनके बन्धन मे आकर हमे आत्म बुद्धि उनमे अर्पित नही करनी चाहिए । यही भाव गीताकार की निरुक्तियों से हमे दीख पड़ता है— देखते, सुनते, उठते, बैठते, जीवन का प्रत्येक कार्य करते ऐसी भावना करनी चाहिए कि नैव किंचित करोमि । यही मुक्त तथापित का मार्ग है । तथागत का मार्ग भी क्या इससे व्यतिरिक्त है ? फिर गीता कहती है कि जो मनुष्य जानता है कि गुण-गुणो मे वरत रहे हैं वह आसक्ति नही करता किन्तु जो उनमे आसक्त होता है वही तो मैं कर्ता हूँ ऐसा मानता है । कर्त्ता हमितिमश्रते बुद्ध का सिद्धान्त क्या यही नही है कर्म मे आसक्ति का विरोध इसलिए किया जाता है कि वह दु खमय है, इसलिए सम्यक् कर्म करने की सलाह दी गयी है ।[१७] बुद्ध के अनुसार कर्म का सिद्धान्त कोई यान्त्रिक सिद्धान्त नही है । यद्यपि वर्तमान पर भूतकाल का नियन्त्रण है परन्तु भविष्य उन्मुक्त है और हमारे सकल्प पर निर्भर है । हे पुजारियो ! यदि कोई कहे कि मनुष्य को अपने कर्मो का जीवन नही रहता । न ही दु:खो के पूर्ण विनाश का ही कोई अवसर रह जाता है । परन्तु यदि कोई कहता है कि किसी मनुष्य को जो पुरस्कार मिलता है वह उसके कर्मों के अनुसार होता है तो हे पुजारियों उस अवस्था में धार्मिक जीवन है और समस्त दु:खों के नाश का भी अवसर मिलता है ।[१८]

दोनो दर्शन मे कर्म के औचित्य को अनिवार्य ठहराया गया है । यहाँ तक कि मुक्ति अथवा निर्वाण की अवस्था मे भी कर्म जीवन से नही छूटते । परन्तु मुक्ति की अवस्था मे ये बनधनकारी नही अर्थात् उनका फल नही होना ।बौद्ध धर्म के अनुसार सर्वोच्च आध्यात्मिक अवस्था मे कर्म का प्रभाव नहीं रहता, इसमे सभी पिछले कर्मो एवं उसके परिणाम का सर्वथा नाश हो जाता है । मनुष्य धर्म और अधर्म से सर्वथा ऊपर उठ जाता है । निर्वाण प्राप्त होने पर ॥कर्म बन्धनकारी प्रवृत्ति ॥ समाप्त हो जाती है । परन्तु यह निष्क्रियता की अवस्था नहीं है । वास्तव मे सभी कर्मो का फल नहीं होता । वे कर्म जो कामना मुक्त वासना सतुष्टि हेतु किए जाते है वे ही मुक्त बन्धनकारी होते है । निर्वाण प्राप्त करने पर भी कर्म होते है परन्तु वे अविद्याजनित वासनादि पर आधारित न होने के कारण फल को उत्पन्न करने वाले नही होते । गीता भी इसके समतुल्य कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती हुई दीख पडती है । 'हे अर्जुन ! मुझमे आध्यात्म बुद्धि से सब कर्मो का सन्यास अर्थात् अर्पण करके ॥यह अर्पण कर्म मे निहित कर्तृत्व भोक्तृत्व के प्रति अभिप्रेरति है ॥ आशा एव ममता को छोडकर तू निश्चिन्त होकर युद्ध कर उस तरह के बर्ताव से मनुष्य कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है ।[१९] अतएव ज्ञानी सम बुद्ध हो जाने पर भी सब अपना कर्म करते है परन्तु निष्काम भावना से । भागवत पुराण मे वह बूचड जो एक मास विक्रेता था परन्तु सम बुद्धि के प्राप्ति होने के कारण उसने एक ब्राह्मण को उपदेश दिया । इसी प्रकार जनकादि पुरुष भी ज्ञानी होते हुए कर्मो का सपादन करते रहे । स्वयमेव श्रीकृष्ण भगवान एव महात्मा बुद्ध ने भी कर्म किया । इस प्रकार बन्धन और मुक्ति का आधार हमारे कर्म न होकर, कर्म के प्रति निहित हमारी धारणाये एव प्रवृत्तियाँ ही उत्तरदायी है । इसलिए इनका त्याज्य करना चाहिए ।

भेद

उपर्युक्त समानताओ के बावजूद यह नहीं समझना चाहिए कि इनमें भेद नहीं है । दोनो उपदेष्टा के व्यक्तित्व मे हम महान् अन्तर पाते है, जिसका स्पष्टीकरण अध्याय के पूर्व मे ही कर चुके है । कर्म के संपादन मे दोनो की मान्यताओ एव हेतु मे बहुत अन्तर दिखाई देता है । गीता मे ईश्वर को सर्व व्यक्तित्व एव परम सत्ता के रूप मे स्वीकार किया गया जो बौद्ध दर्शन को मान्य नही है । यद्यपि महायान बौद्ध दर्शन मे बाद मे चलकर महात्मा बुद्ध को ही भगवान मानने की परम्परा चल पडी । गीताकार के अनुसार 'तत्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुष ऐसा सोचता है कि मै कुछ भी नही कर रहा हूँ– देखते, सुनते, छूते, सूँघते भोजन करते प्रत्येक कार्य में उसे 'मै' का विचार नही आता । भगवान देख रहे है, भगवान सुन रहे है, भगवान खा रहे है इत्यादि को वह भगवन् द्वारा किया मानता हैं वह इसी प्रकार से अलिप्त रहता है जैसे कि पानी मे रहते हुए भी कमल के पत्ते पर पानी नही लगता ।[२०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता में ईश्वर एक आवश्यक तत्व के रूप मे उद्धत किया गया है । कही-कही उसे योग स्वरूप भी परिभाषित किया गया है । इसी अर्थ मे भगवान को योगेश्वर कहा गया है ।[२१] एव इसी अर्थ मे ये श्लोक ७.७५, ९.५, १०.७, ११.८ भी उद्धत किये गये हैं । यह ठीक है कि गीताकार कहते है कि कर्म से ही जनकादि ने भी सिद्धि पाई । यह भी ठीक है कि कर्म जीवन यात्रा के लिए एक आवश्यक तत्त्व है, मनुष्य को कर्म करने का अधिकार

है। कामनाओं या फलाकांक्षा रहित होकर कर्म किया जाय और फिर यथेच्छसि कुरु' ऐसा कहकर मानवीय स्वतन्त्रता के पक्षपाती भी है। परन्तु उपर्युक्त कथनो के अतिरिक्त स्वतत्रता के सन्दर्भ मे गीताकार ने मनुष्य को जो स्वतन्त्रता प्रदान किया है वह बुद्ध द्वारा प्रतिपादित स्वतत्रता से अत्यल्प हैं।

भगवान् कृष्ण ने कार्य सिद्धि के लिए पॉच हेतु बताये है– यथा—१ अधिष्ठान २ कर्त्ता ३ करण ४ चेष्टा और ५ देव। शरीर या वाणी से अथवा मन से जो मनुष्य कर्म करता है फिर चाहे वह न्याय हो अथवा अन्याय उसके उक्त पॉच कारण है।[२२] इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य इस जगत मे रहे या न रहे, प्रकृति के स्वभाव के अनुसार सृष्टि का व्यापार सदैव चलता रहता है। मनुष्य अज्ञानतावश कर्म का कर्त्ता समझ बैठता है। जबकि यह अकेले उसी के यत्न का फल नही है बल्कि उसके यत्न ससार के अन्य व्यापारो, चेष्टाओ और दैव सयोग भी हेतु रूप उत्तरदायी होते है। हम अपने कार्य सम्पादन के लिए जगत मे व्याप्त व्यापारो को जानकर एव उसकी अनुकूलता प्राप्त होने पर ही कर्म करते है और इस समस्त युक्ति करण मे बहुत कुछ अज्ञेय रह जाता है उसे दैव ॥भाग्य॥ हेतु कहा गया है।

यह दैव का विचार बुद्ध के विचारो मे बिल्कुल विद्यमान नहीं है। तथागत ने कर्म के हाथो सारी शक्ति सौंप दी है। इसी ताप के कारण गीताकार और शाक्य मुनि के विचारो मे बडा विभेद दिखाई देता है।

गीताकार को न केवल कर्म का ज्ञान से समन्वय करना था बल्कि उसका भक्ति के दर्शन के साथ भक्ति भी दिखानी थीं। जो कर्म की सब सत्ता सौपकर संभवत: नही हो सकती थी। वास्तव मे ऐसी अदृश्यता या आस्था का आधार तो जीवन मे अवश्य होना चाहिए। अन्यथा मानवीय प्रवृत्ति की दैवीय अभिव्यक्ति उसके एकाधिकारी प्रवृत्ति से दब जाती। और दूसरी बात यह है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ ॥वीर्य॥ शक्ति से ही यदि सब कुछ कर सकता तो उसे किसी परमेश्वर की भक्ति करने की आवश्यकता ही क्या पडती और फिर उपदेष्टा की प्रासंगिकता भी क्या रह जाती ? उसे अपने दु.ख से स्वयमेव ही उबर जाना चाहिए। यदि इस अनित्य, अनिश्चित लोक मे कोई अपने अथक उद्यम से ही नित्यत और सुख प्राप्त कर ले तो उसे 'भजस्व याम्' का उपदेश देने की क्या जरूरत रह जाती है।

बुद्ध के दर्शन मे कर्म के प्रति पुरूषार्थ की प्रेरणा शत-प्रतिशत निहित है तो गीता मे यह ॥पुरुषार्थ॥ कर्म के सपादनार्थ १/५ भाग ही है। वैसे कर्म स्वातंत्र्य गीता मे प्रतिपादित है। जो प्रत्येक मानवीय प्रकृति के साथ पूर्ण नियोजित है। वह ब्रह्म ॥ईश्वर॥ का एक अंश होने के कारण उसमे सीमित स्वतत्रता ही निहित है। सृष्टि की प्रक्रिया शुरू हो जाने के पश्चात् ईश्वर उसमें हस्तक्षेप नही करता। बल्कि द्रष्टा की भॉति मात्र संचालन करता है। समस्त जगतादि व्यापार का हेतु प्रकृति ही है। ईश्वर न तो किसी कर्म को और न कर्त्ता को उत्पन्न करता है और न ही कर्म के फल को देता है। यह ससार तो अपने स्वभाव से चल रहा है। स्वतत्रता का दूसरे तरह से भी प्रतिपादन किया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपने प्रकृति, गुणो को साक्षात्कृतकर तदनुरूप अपने कर्मों का अनासक्ति भाव से संपादन करे ॥ब्रेडले– मेरा स्थान ही मेरा कर्त्तव्य है। गीता– स्वधर्म निधन: श्रेय: पर धर्म भयावह: ॥

इसके विपरीत बौद्ध नीति शास्त्र में शताश मे कर्म स्वातंत्र्य का प्रतिपादन किया गया है। तुम कम्मपरिसखं हो, कम्मा दायाय हो, ऐसा उद्घोष तथागत मे ही किया और यही उनकी विशेषता है।[२३] परन्तु गीता अगर शत-प्रतिशत

कर्म हेतु पुरुषार्थ को उत्तरदायी नही ठहराती है तो इसमे मानवीय प्रकृति की विविधता निहित है । इस आधार पर सभी विचार अल्पज्ञ, योद्धा, मजदूर, विज्ञ को सरक्षण मिलता है और तथागत ने कर्म को पूर्ण हेतु मानकर धर्म, आराध्य आदि तत्त्वो की व्याख्या को अवरुद्ध किया जिससे इसमे एकागिता अवश्य आ गयी है । फिर भी इसकी समृद्ता का श्रेय सामान्य व्यवहार हेतु सरल सपादन ही रहा है जबकि गीता अपने सम्पादन के क्रम मे अध्यात्म के क्षेत्र मे चली जाती है ।

पुनर्जन्म

गीता भी अन्य भारतीय दार्शनिको की तरह पुनर्जन्म को मानती है । पुनर्जन्म का तात्पर्य है— 'आत्मा नामक सत्ता का अमर होना और यह शाश्वत तत्त्व, मनुष्य के कर्मानुसार विभिन्न शरीरो एव प्रकृति मे उत्पन्न होता है । यह विषय देखने मे तात्त्विक लगता है परन्तु कर्म के सापेक्ष मे इसमे निहित नैतिक विचारणा भी प्रासगिक हो जाता है ।

'जिस प्रकार देह धारण करने वाले को इस देह मे बालपन, जवानी और बुढापा प्राप्त होता है उसी प्रकार दूसरी देह आगे भी प्राप्त हुआ करती है । इस विषय मे ज्ञानी पुरुषो को मोह नही होता ।'जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने वस्त्रो को छोडकर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्यागकर दूसरे नये शरीर धारण करता है ।'[२४]

वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानी गृहणाति नरोपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥

इसी प्रकार की स्वीकारोक्ति अन्य श्लोको मे भी ४.५, ६.४१, ४५; ८.१५, ९.३ मे भी देखने को मिलता है । मुक्ति को गीता मे कई नामो से पुकारा गया है यथा— ब्राह्मी स्थिति ब्रह्म निर्वाण ॥गीता मे निर्वाण शब्द ब्रह्म के साथ प्रयोग ॥ नैष्कर्म्य, निस्त्रैगुण, कैवल्य, ब्रह्मभाव आदि ।

बुद्ध किसी स्थायी आत्मा मे विश्वास नही करते । विज्ञान एक प्रवाह है जिसमें सभी क्षणो मे पूर्वापर सम्बन्ध है परन्तु किसी अपरिवर्तनीय कूटस्थ आत्मा का अस्तित्व नही है । मृत्यु के पश्चात् जीव के सस्कार बन जाते हैं । ये संस्कार उसके कर्मों के अनुसार होते है । और इन्ही के दबाव से एक जन्म से दूसरे जन्म का सम्बन्ध बना रहता हैं । यह सस्कार मरणासन्न व्यक्ति के अतिम विचार के रूप मे प्रगट होता है । कर्म की इस शक्ति को साथ-साथ उपादान भी आवश्यक है । जीवैषणा ॥उपादान ॥ ही वह शक्ति है जो पूर्व कर्मानुसार नवीन जन्म का कारण है । उसके बिना स्वय कर्म की कोई अपनी शक्ति नही ।[२५] इस प्रकार दोनो के पुनर्जन्म को देखने से यह स्पष्ट होता है कि 'कर्म की प्रकृति एव पुनर्जन्म मे अन्तर्सम्बन्ध पाया जाता है । परन्तु दोनो मे मूल और आत्म की शाश्वतता एवं विज्ञान के प्रवाह के स्वरूप को लेकर है ।

मुक्ति के सन्दर्भ मे प्रतिपादित जीवन मुक्ति की अवधारणा दोनो मे ही देखने को मिलती है । गीताकार के अनुसार समदर्शी हो जाना या 'स्थित प्रज्ञ' हो जाना ही विमुक्ति है । इस प्रकार उपनिषद् एव बौद्ध दर्शन की तरह गीता मे भी जीवनमुक्ति की अवधारणा विद्यमान है । गीताकार ने कहा है— 'जो कुछ भी वेदो एवं यज्ञो मे कल प्रतिष्ठित है उन सबको ब्रह्मज्ञानी अतीत कर जाता है ।[२६] कही गीताकार ने 'पराशक्ति' कहकर उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान का वर्णन किया

है कहीं उसे पद्म अमानयम्' कहा है और कहीं अत्यन्त ब्रह्म सस्पर्श कहा है । प्राय दो प्रकार का वर्णन गीता मे मिलता है— प्रथम के अनुसार— परमावस्था मे केवल विशुद्ध आत्मैव शेष रह जाता है और अह, गुणो या बुद्धि का कोई अस्तित्व नहीं रहता । यह दशा कुछ साख्यो के समान है ।[२७] परन्तु इसके अतिरिक्त गीता अपने मुक्ति के प्रतिपादन मे ज्ञान, कर्म, भक्ति तीनो अवधारणाओ को समायोजित करती है । यद्यपि भिन्न-भिन्न मार्ग के रूपो मे भी इनका वर्णन मिलता है परन्तु कर्मयोग की अपूर्णता मे ये तीनो ही प्रासगिक हो उठते है । सयुक्त निकाय मे निर्वाण को इस प्रकार वर्णित किया गया है— 'निर्वाण का अर्थ वासना की अग्नि का बुझ जाना है उसमे लोभ, घृणा, क्रोध और भ्रम की अग्नि बुझ जाती है और कामास्रव, भावास्रव तथा अविद्या सब इत्यादि मन की अशुद्धियाँ ठण्डे हो जाते है । वह भव निरोध या पुनर्जन्म को रोकने वाला है ।'[२८]

इस प्रकार ऐसा कहा जा सकता है कि दोनो के मुक्ति का प्रतिवाद एक समान प्रतीत होता है । दोनो का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के अनित्य दुःख स्वरूप संसार से निकलने का मार्ग प्रशस्त करना है । इस अर्थ मे ये समान हैं ।

कर्मवाद के परिप्रेक्ष्य मे भी दोनो इस विचार से सहमत है कि निर्वाण प्राप्त या ब्रह्म ज्ञानी यद्यपि नामरूप की अनित्यता से विज्ञ होकर आत्मा के समुद्र मे नमक के समान घुल जाते है फिर भी अगर उसे जीना है तो लोक हितार्थ जीना है । पाप-पुण्य से अस्पर्श होकर जीना ही उदासीन होकर जीना है । लोक हितार्थ कर्म सम्पादन करते हुए जीना ही 'ब्रह्म निर्वाण' को देखना है । यह विचार दोनो ही मतो मे देखने को मिलता है ।

फिर भी गीताकार का क्षेत्र बौद्ध आचार से अधिक व्यापक है उसमे न केवल बुद्ध उपदिष्ट साधना ही नही बल्कि विश्व की समान साधनाओ का समाहरण हो जाता है । गीता मे प्रमुख रूप से तीन महत्त्वपूर्ण मार्गो का वर्णन मिलता है— १ कर्म २. उपासना ॥भक्ति॥ ३. ज्ञान ।

ये तीनों मार्ग समाज मे पाये जाने वाले विभिन्न प्रवृत्तियो वाले लोगों की आवश्यकता की पूर्ति करते है । ये सभी निष्ठाये एक ही फल देने वाले है । अर्थात् अपने चरमोत्कर्ष पर सभी एक समान ही दिखते है सभी समबुद्धि मे स्थित हो जाते है । लोक भावना से ओत-प्रोत होकर जीवन जीते है । इसी को लेकर हमारे बीच यह बड़ा तो वह छोटा का निरर्थक विवाद होता रहता है । अच्छे जीवन के लिए तो एक छोटी सी वस्तु मे अगर श्रद्धा उत्पन्न हो जाय तो वह मुक्तिदायक हो सकती है । किसी नियम, मार्ग, दर्शन, धर्म आदि का फन्दा गले मे डालकर मुक्ति नही मिलती । यह श्रद्धा से प्रारम्भ होती हुई कर्म के माध्यम से ज्ञान के चरमोत्कर्ष बिन्दु पर पहुँचती है । इसी विषय को विभिन्न प्रकार से विभिन्न शास्त्रो मे निरूपित किया गया है ।

●

श्रीमद्भगवद्गीता एवं बौद्ध दर्शन में चेतना का स्वरूप

गीता में चेतना का स्वरूप

गीता के तत्त्व सम्बन्धी विचारो पर उपनिषदो की स्पष्ट छाप है, साख्य के विचारो का भी बाहुल्य है। गीता और उपनिषदो मे मुख्य भेद यह है कि जहाँ उपनिषदो मे ब्रह्म के निर्गुण रूप प्रधानता दी गयी है, वहाँ गीता मे सगुण ब्रह्म को श्रेष्ठ माना गया है। निर्गुण स्वरूप को गीता भी मानती है। "सारी विभक्त वस्तुओं मे जो अविभक्त होकर वर्तमान है जिसे न सत् कहा जा सकता है न असत्, जो सूक्ष्म एव दुर्ज्ञेय है, जो ज्योतियो की भी ज्योति एव अन्धकार से परे है, जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय है।"[२९]

ब्रह्माण्ड के अशेष पदार्थ उसी से निःसृत होते है। सगुण ब्रह्म या भगवान् की दो प्रवृत्तियाँ है— एक परा और दूसरी अपरा। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकारों की अपरा प्रकृति है। परा प्रकृति जीव-रूप या चैतन्य स्वरूप है जो जगत् को धारण करती है।[३०] जहाँ तक विशुद्ध तत्त्व ज्ञान के क्षेत्र से सम्बन्ध है, गीता उपनिषदो के ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान को स्वीकार करती है, ऐसा तो हम प्राथमिक रूप से कह सकते है। श्रीमद्भगवद्गीता मे सगुण ब्रह्म को संसार की सभी वस्तुओ का एक मात्र अवलम्बन स्वीकार किया गया है। परम तत्त्व के विषय मे गीता मे स्वयं भगवान द्वारा बतलाया गया है— "मै सब भूतो मे स्थित हूँ, मै उनका आदि अन्त और मध्य हूँ। आदित्यो मे मै विष्णु हूँ, ज्योतियो मे सूर्य, भरद्गणो मे मरीचि और नक्षत्र मे चन्द्रमा। अक्षरो मे 'अकार' हूँ समासो मे द्वन्द्व। मै अक्षय काल हूँ, मैं सबको धारण करने वाला विश्वर्तामुख हूँ। सबका हरण करने वाली मृत्यु हूँ, मै भविष्य के पदार्थ की उत्पत्ति हूँ। मै स्त्रियों की कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और सहनशीलता हूँ।[३१]

गीता के उपदेश भगवान् ने तीन प्रकार से पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा सामाजिक दिया है। "पारमार्थिक दृष्टि" से कोई मरता नही है। "आत्मा" अव्यक्त, अचल, अजर, अमर, सत्य, नित्य अचिन्त्य, व्यापक है। जर्जर पुराने शरीर को त्यागना "मरण" है। इस संसार मे किसी का नाश नही होता। आत्मा का नाश किसी प्रकार से नही होता।[३२] व्यावहारिक-दृष्टि से सभी जीव मरते और उत्पन्न होते है। इसलिए अर्जुन जब युद्ध से विचलित होते हैं तो उनको समझाने की दृष्टि से कृष्ण ने कहा है कि युद्ध करो क्योकि कौरव एक न एक दिन अवश्य मरेगे और उनके नाश मे तुम एक निमित्त मात्र हो। यह अधर्म युद्ध नही अपितु धर्म युद्ध है। अतः यदि तुम धर्म युद्ध से विमुख होते हो तो तुम्हारे लिए यह अधर्म और पाप होगा। इस लिए तुम युद्ध करो।[३३]

गीता मे आत्मतत्त्व पर अध्याय दो मे अर्जुन को समझाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि, जैसे जीवात्मा की इस देह मे कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है, उस विषय मे धीर पुरुष नही मोहित होता है, अर्थात् जैसे कुमार, युवा और जरा अवस्था रूप स्थूल शरीर का विकार अज्ञान से आत्मा मे भासित होता है वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होना रूप सूक्ष्म शरीर का विकार भी अज्ञान से ही आत्मा मे भासित होता है, इसलिए तत्त्व को जानने वाला धीर पुरुष इस विषय मे नही मोहित होता है।[३४] इस नाशरहित अप्रमेय नित्यस्वरूप जीवात्मा के यह सब शरीर नाशवान् कहे गये है।[३५] जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है। यह आत्मा किसी काव्य मे भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न वे दोनो ही नही, जानते है, क्योकि यह आत्मा न मरता है और न मारा जाता है।[३६] यह आत्मा किसी काल मे भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न आत्मा हो करके फिर होने वाला है, क्योकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी यह नाश नही होता है।[३७] जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रो को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रो को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरो को त्याग कर दूसरे नये शरीरो को प्राप्त होता है।[३८] इस आत्मा के विषय मे अगले श्लोक मे अर्जुन को समझाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि— हे अर्जुन ! इस आत्मा को शस्त्रादि नही काट सकते है और इसको आग नही जला सकती है तथा इसको जल नही गला सकता है और वायु नही सुखा सकता है।[३९] क्योकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अवलेद्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा नि:सदेह नित्य सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।[४०] आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियो का विषय नही है आत्मा अचित्तय है अर्थात् मन का विषय नही, आत्मा विकार रहित है अर्थात् यह परिवर्तित नही होता।[४१]

गीता मे परम आत्मा अव्यय, अनादि है और निर्गुण है, अत: यह शरीरस्थ रखते हुए भी न कुछ करता है और न लिप्त ही होता है।[४२] सभी प्राणियो के वह बाहर भी है और भीतर भी, अचर भी है और चर भी, सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय भी है। वह दूरस्थ है, किन्तु समीप भी है। वह प्राणियो मे अविभक्त है, किन्तु फिर भी विभवत सा स्थित है। वह ज्ञेय भूतो का आधार है और वही खाने वाला और वही उत्पन्न करने वाला है।[४३]

गीता तत्व को किसी भी दृष्टिकोण से देखे बिना नही छोडती। उस परम तत्व साक्षात्कार हेतु गीता कर्मो पर विशेष बल देती है। गीता मे तीन मार्गों का उल्लेखे है— ज्ञान, भक्ति व कर्मयोग। परम पद के जिज्ञासु को अपने कर्मो के फल की इच्छा कभी नही करनी चाहिए। अनासक्त होकर कर्म को करते रहना चाहिए। यद्यपि "गीता" मे ज्ञान को ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है तथा ज्ञान की ही प्राप्ति से परम पद के साक्षात्कार का वर्णन है किन्तु कर्म और भक्ति के बिना उस परम तत्व के ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। बिना पराभक्ति के ज्ञान अप्राप्य है। तथा यह भी सत्य है कि बिना अनासत्त कर्म के भक्ति मार्ग मे साधक प्रतिष्ठित नही हो सकता। तीनो मार्गों का घनिष्ट व अविनाभाव रूप से सम्बन्ध स्थापित है।

गीता मे तीन प्रकार के तत्त्वों का वर्णन है— क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम। ससार के सभी जड-पदार्थ 'क्षर' है। इसे गीता मे 'अपराप्रकृति', 'अधिभूत', 'क्षेत्र' और 'अश्वत्थ' भी कहा गया है। विकारो का, करणो का तथा भूतो का

यह मूल कारण है। आकाश आदि पाँच भौतिक परमाणु तथा पांच तन्मात्राएँ 'विकार' है। मन, अहकार, बुद्धि, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ एव पाँच कर्मेन्द्रियाँ 'करण' है। इनके अतिरिक्त उनमे उत्पन्न राग, द्वेष, सुख, दु:ख, परमाणुओ का सघात, चेतना तथा धृति, ये 'क्षर' है। इनमे से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मनस्, बुद्धि ओर अहकार ये आठ भगवान् की 'अपरा प्रकृति' के रूप हैं।[४४] इस प्रकृति को भगवान् ने स्वय कहा है कि मै इसको अधिष्ठान मानकर अपनी माया की सहायता से ससार मे अवतार लेता हूँ।[४५] इस प्रकृति को 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' और अपने को 'अहं बीजप्रद. पिता'[४६] भी कहा है। इस प्रकृति को अधिष्ठान मानकर ही भगवान् सृष्टि की रचना करते है।[४७]

'अक्षर तत्व' को 'जीव', 'पराप्रकृति', 'पुरुष', तथा 'क्षेत्रज्ञ' के रूप मे भी माना जाता है। यह 'अपरा प्रकृति' से ऊँचे स्तर का है इसे 'पराप्रकृति' के रूप मे जाना जाता है। यही जगत् को धारण करने मे समर्थ है।[४८] समस्त भूतो का कारण है तथा भगवान का अश है एव मरने पर एक शरीर को छोड कर दूसरे शरीर मे प्रवेश करने वाली और इन्द्रियो के द्वारा विषयो को भोग करने वाली यह भगवान् की दूसरी प्रकृति के रूप मे गीता के तात्त्विक विचारो के अन्तर्गत जानी जाती है। केवल अविद्या के कारण यह परमतत्व भगवान् से भिन्न दिखाई पडती है।[४९] यह उपद्रष्टा, साक्षी, अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है। जीव और भगवान् मे वास्तविक भेद न होने के कारण भगवान् के सभी गुण जीव मे भी विद्यमान है। परन्तु अविद्या के प्रभाव से ये गुण जीव मे जीवित दशा मे अभिव्यक्त नही होते।

तीसरे तत्त्व का उल्लेख 'पुरुषोत्तम' के रूप मे गीता मे आया है। जो कि गीता का प्रधान तत्त्व है। इसे परमात्मा, ईश्वर, वासदेव, कृष्ण, प्रभु, ब्रह्म, विष्णु, महायोगेश्वर, परमपुरुष आदि नामो से पुकारा गया है। सभी भूतो को उत्पन्न तथा नष्ट करने वाले के रूप मे इनको दर्शाया गया है। त्रिगुणमयी माया (सत्व, रजतम्) इनकी शक्ति है। जो सदैव इनके साथ रहती है। यह माया अचिन्त्य है, अतएव इसे न सत् और न ही असत् कहा जा सकता है। यह पुरुषोत्तम सर्वव्यापी एव अपनी प्रभा से ससार के समस्त वस्तुओ को प्रकाशित करने मे समर्थ है एवं इन्ही के प्रकाश से सारा जगत् आलोकित है। इस तत्व को गीता साकार और निराकार दोनो रूप मे मानती है। यह सबके अति निकट है एव सबसे दूर भी। अखण्ड होते हुए भी यह सभी जीवो मे अलग-अलग रूपो मे दिखलाई देता है अर्थात् सबमें अनुस्यूत रहते हुए अविद्या के कारण जीव को पर रूप मे लक्षित होता है। समस्त जगत् इनमे लीन होता है, समस्त पदार्थो मे जो सार वस्तु है, वह इन्ही का रूप है। त्रिगुणातीत होते हुए भी तीनो गुणो को यही उत्पन्न करते है। यह साकार व निराकार, सगुण एव निर्गुण, ब्रह्म एवं ईश्वर सर्व रूपों मे है। यह ज्ञानस्वरूप है एवं ज्ञानी इनके अपने ही स्वरूप है। गीता का सबसे विशिष्ट तत्व यही है कि मेरे इस स्वरूप को साक्षात् करने वाले भक्त मेरे भाव को प्राप्त करते है[५०] अर्थात् भक्त व भगवान् की खाई को गीता मे भगवान् ने स्वयं समाप्त कर दिया है। जगत् की सभी जड-चेतन वस्तुएँ 'पुरुषोत्तम' के अपने स्वरूप है। उपनिषद् मे इसे सर्व खल्विदं ब्रह्म' कहा गया है तथा गीता मे इसे—

'मत्त. परतर नान्यत्किन्चिदस्ति धनन्जय।'[५१]
'वासुदेव: सर्वमिति।'[५२]

गीता मे जीव और ईश्वर मे अभेद दर्शाया गया है, भेद विद्या का है। गीता की यह उक्ति 'मेरे लिए ही कर्म करने वाला, आसक्ति-हीन, सब प्राणियो मे वैर-रहित, मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है।[५३] 'मेरा आश्रय लेने वाला पुरुष

सारे कर्मों को करता हुआ भी मेरे अनुग्रह के शाश्वत् पद को प्राप्त होता है ।'[५४] 'तुम सब धर्मों को त्याग कर मेरी शरण मे आओ, मै तम्हे सारे पापो से मुक्त कर दूँगा ।'[५५]

गीता मे तत्त्व के साक्षात्कार हेतु तीन मार्गो का उल्लेख है । ज्ञानमार्ग और ज्ञानियो की प्रशसा गीता ने मुक्त कण्ठ से की है । ज्ञान से बढ़कर पवित्र कुछ भी नहीं— 'न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते' : ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मो को भस्मसात् कर देती है— 'ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुन' । भक्तो मे भगवान को ज्ञानी भक्त सबसे प्रिय है जो सारी इच्छाओ को छोड़कर ममता और अहकार रहित रहता है वह शान्ति को प्राप्त होता है । यह ब्राह्मी स्थिति है, उसे प्राप्त करके मनुष्य का मोह नष्ट हो जाता है ।[५६]

कर्ममार्ग पर गीता विशेष बल देती है । गीता की मान्यता है कि समस्त कर्मो का त्याग सम्भव नही । क्षणभर के लिए भी कोई बिना कर्म किए नही रह सकता । प्रकृति के गुणो द्वारा विवश होकर हरेक को कर्म करने पडते है । कर्म की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहा गया है कि यदि सब कर्म करना छोड दे तो सृष्टि चक्र का चलना बन्द हो जायेगा । इसलिए यह कर्म सदैव करणीय है ।[५७] 'शरीर से, मन से, बुद्धि से और सिर्फ इन्द्रियो से भी योगी लोग आसक्ति को त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते है ।'[५८]

गीता मे निष्काम भाव से फलासक्ति को त्याग कर कर्म करने का उपदेश दिया गया है । गीता कर्म के त्याग के बदले कर्म मे त्याग का उपदेश देती है ।[५९] जो कर्मफल को छोड़ देता है वही वास्तविक त्यागी है ।[६०] जो कर्मफल में आसक्ति त्याग कर कर्त्तव्य करते हैं वही सन्यासी है । 'काम्य कर्मों के त्याग को ही विद्वान् लोग सन्यास व कर्मो के फल को त्याग बताते है ।[६१]

'कर्म मे ही तुम्हारा अधिकार है, फल मे नही । तुम कर्मफल के अभिलाषी मत बनो, तथा अकर्मण्यता मे भी तुम आसक्ति न रखो ।'[६२]

निष्काम भाव से, कर्म करने की जो प्रणाली गीता ने अपने उपदेशो द्वारा व्यक्त किया है वह निष्काम भाव से फलाशक्ति को त्याग कर कर्म करने की शिक्षा है ।

तृतीय मार्ग भक्ति मार्ग हैं निष्काम कर्म की शिक्षा यह बतलाती है कि कर्म करते हुए भी कर्मफल की आकाक्षा न करें । भक्ति की महिमा को स्वयं भगवान् ने अपने मुख से कहा है कि वह परम पुरुष जिसके अन्दर सभी भूत है और जिसने समस्त विश्व का विस्तार किया है केवल अनन्य भक्ति से मिलता है ।[६३] जो भक्ति पूर्वक मेरी सेवा करते है उनके हृदय मे मैं निवास करता हूँ और वे भी मेरे हृदय मे रहते हैं ।[६४] भगवान् के प्रति भक्ति के कारण ही अर्जुन के विश्व रूप का दर्शन पाया है ।[६५] भगवान् अपने भक्त का समस्त भार अपने ऊपर ले लेते हैं ।[६६]

बौद्ध दर्शन में चेतना का स्वरूप

बौद्ध दर्शन मे सभी वस्तुएँ सस्कृत हैं और जो संस्कृत है वह अनित्य है । अत: कोई वस्तु नित्य नही है । ससार का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, क्षण-क्षण परिवर्तनशील है । बुद्ध दर्शन में तत्त्वों का विभाजन तीन भागों में किया गया है—

स्कन्ध, आयतन और धातु। स्कन्ध पॉच है— रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान। रूप-पृथ्वी, जल, तेज और वायु है।[६७] वेदना सुखदु:खानुभूत होती है। सज्ञा— निमित्तोदिग्रहणात्मिका है।[६८] सस्कार कर्म है और विज्ञान-चेतना या मन है। सज्ञा सस्कार, वेदना और रूप के ससर्ग से विज्ञान की विभिन्न स्थितियॉ होती है। इसी से इन्हे अनित्य बतलाया गया है।

आयतन बारह है— छह इन्द्रियॉ (चक्षु से मन तक) और छह उनके विषय (रूप, शब्द, गध, रस, स्पर्श और धर्म) मिलकर बारह आयतन होते है।

अठारह धातु है— उपर्युक्त १२ आयतनो मे उनके छह विज्ञान मिलाने पर अठारह धातुएँ हो जाती है।

इन स्कन्धो, आयतनो और धातुओ मे सारे ससार की वस्तुएँ अन्तर्भूत हो जाती है। इन्ही तीनो का वर्णन नामरूप मे किया गया है। ये सभी संस्कृत है अत: अनित्य है। सयुत्तनिकाय[६९] मे भगवान ने कहा है कि चारो महाभूतो की यह काया एक, दो, तीन, चार, पॉच, छह और सात वर्ष तक ही मौजूद देखी जाती है किन्तु जिसे चित्त या मन अथवा विज्ञान कहते है वह अहर्निश दूसरा ही उत्पन्न होता है और दूसरा ही नष्ट होता है। इस तरह एक का विनाश और दूसरे का उत्पाद लगातार होता रहता है। यही अनित्यवाद है और यही क्षणिकवाद है। इस अनित्यवाद अथवा क्षणिकवाद का जन्म प्रतीत्यसमुत्पाद से ही हुआ है।

बुद्ध अनात्मवादी है वह नित्य आत्मा का खण्डन करते है। 'सत्काय' का प्रयोग भगवान् ने आत्मा के लिए किया है। जो नित्य, ध्रुव और अपरिणामी है। ऐसी दृष्टि को बुद्ध 'सत्काय दृष्टि' कहते है। पच स्कन्ध जिससे काया का अस्तित्व सिद्ध होता है उसमे नित्यादि दृष्टि रखना 'सत्काय' है। 'महावग्ग' मे आत्मा के अस्तित्व का निराकरण तथा अनात्म वाद का प्रतिपादन किया गया है। यहॉ कहा गया है कि भिक्षुओं! रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, ये सभी आत्मरूप होते तो इनमे राग न होता और हम कह सकते कि यह मेरा रूप है, सज्ञा, वेदना सस्कार और विज्ञान है और मेरे रूप, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान और वेदना ऐसे हो, ऐसे न हो, किन्तु ऐसा नही है क्योकि वे सभी अनित्य, दु:ख और विपरिणामी हैं। उनसे यह समझना कि 'यह मेरा है', 'यह मै हूँ', 'यह मेरी आत्मा है', भ्रम है।

रूप, वेदना संज्ञा, सस्कार और विज्ञान अनित्य दु:ख और अनात्म है।[७०] सयुक्त निकाय मे बुद्ध ने कहा है कि 'भिक्षुओ! चक्षु तुम्हारा नही है, रूप तुम्हारा नही है, इन्हे छोड़ो मुझे प्राप्त करो। अर्थात् मेरे स्वरूप को प्राप्त करो। अर्थात् निर्वेद प्राप्त करो। निर्वाण तक पहुँचों।'

बौद्ध धर्म में अन्तिम लक्ष्य निर्वाण है। बौद्ध दर्शन की चरम परिणति निर्वाण में होती है यद्यपि बौद्ध सम्प्रदायो मे निर्वाण को लेकर काफी मतभेद है फिर भी समस्त सम्प्रदायो ने निर्वाण की चर्चा की है। निर्वाण का अर्थ तृष्णा से निवृत्त होना है अर्थात् तृष्णा का निरोध ही निर्वाण है।

निर्वाण को— बुझना व शान्त होना भी कहा जाता है। जैसे— दीपक, तेल तथा बत्ती के शेष न रहने पर शान्त हो जाता है, वैसे ही अर्हत् की अवस्था मे बुद्ध द्वारा प्रतिपादित आष्टागिक मार्ग के चलने से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को 'अर्हत' कहा जाता है। राग, द्वेष एव मोह से विमुक्त हो जाना ही निर्वाण है। निर्वाण को परम शान्ति की अवस्था भी कहा जाता है।

स्थविरवाद में निर्वाण

स्थविरवादी निर्वाण का लक्षण दु:ख का नाश, विराग और राग क्षय इत्यादि बतलाते है।निर्वाण दु:ख का निरोध अर्थात् तृष्णा का क्षय है। तृष्णा के निरोध से भव, भव से जाति, तथा जरा-मरण शोकादि का निरोध हो जाता है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है अर्थात् वह 'अर्हत्' हो जाता है।

निर्वाण की अवस्था को असस्कृत[७१] एव इतिवुत्तक मे अनुत्पन्न और अकृत बतलाया गया है।[७२] सयुक्त निकाय मे इसे शान्तप्रणीत, समस्त उपाधियो का निरुद्ध होना एव तृष्णा क्षय होना कहा गया है।[७३]'उदान' मे निर्वाण को 'अचलपद' कहा गया है। 'अगुत्तरनिकाय' मे निर्वाण को अमृतरूप कहा गया है। निर्वाण सुखवेदना का अभाव हो एव सज्ञावेदित निरोध के सदृश है।[७४]

तृष्णा के निरोध को निर्वाण कहा गया है। पचस्कन्धो का नि:शेषत: रुक जाना व उनका सर्वथा लुप्त हो जाना ही निर्वाण है। उदाहरणार्थ— जिस प्रकार जलती हुई आग की लौ बुझने पर पुन: दिखायी नही पडती या दूसरे शब्दो मे भूने हुए बीज से जिस प्रकार अकुर उत्पन्न नही होता, उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त व्यक्ति आवागमन के चक्र से सर्वकालिक मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

स्थविरवाद आगे चलकर दो सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया। विभाषाशास्त्र को मानने वाले वैभाषिक एव सूत्रो को प्रमुखता देने वाले सौत्रान्तिक कहलाये। वैभाषिक निर्वाण को द्रव्य सत् के रूप मे स्वीकार करते हैं, निर्वाण का आशय हेतु फल परम्परा का उच्छेद है, वह उच्छेद ही नहीं बल्कि इस उच्छेद का हेतु निर्वाण रूपी लाभ है। इनकी मान्यता है कि निर्वाण मे जन्म और मृत्यु जैसी चीजो का कोई स्थान नही। उनका यहाँ पूर्णतया निरोध हो जाता है। निर्वाण अविपरिणामी है, क्लेश, दु:ख और भव का निरोध निर्वाण मे हो जाता है। वस्तु का अर्थ दु:ख विमोक्ष है, वैभाषिको के अनुसार निर्वाण मे क्लेश, पूर्णतया समाप्त हो जाता है। यही आत्यन्तिक निर्वाण है। 'सज्ञावेदित' निरोध ही सोपधिशेष निर्वाण कहलाता है। चरमचित् में प्रवेश ही निरुपधिशेष निर्वाण है। वैभाषिक निर्वाण को सत् मानते हुए भी अभावात्मक मानते है। उनके मत मे निर्वाण क्लेशाभाव रूप है। सौत्रान्त्रिक निर्वाण को अभाव रूप मानते है।

सौतान्तिक आचार्यों का मत निर्वाण के सम्बन्ध वैभाषिको से भिन्न है। उनके अनुसार निर्वाण कार्य, कारण, हेतु और फल परम्परा का सर्वथा विनाश है। कार्य, कारण, हेतु और फल की परम्परा ससार है इसका पूर्ण विनाश ही निर्वाण है इसे क्लेशाभाव भी कहा जाता है। सभी क्लेशों के मूल मे हेतु और फल रूप संसार है। जब इसका विनाश हो जाता है तो सभी क्लेश समाप्त हो जाते हैं। इसलिए क्लेशो के सर्वथा अभाव को निर्वाण माना गया है। निर्वाण को दु:खों का अत्यन्त, अव्यय, अनुत्पाद, अप्रादुर्भाव भी कहा गया है। सौत्रान्त्रिक आचार्यों का कहना है कि अग्नि का निर्वाण, अग्नि का सर्वथा अभाव है।

सौतान्त्रिक आचार्यो का निर्वाण के मत मे वैभाषिको से स्पष्टतया विभेद है। वैभाषिक निर्वाण को द्रव्य (भाव) रूप मानते है जबकि सौतान्त्रिक निर्वाण को अभाव रूप मानते है। वैभाषिक आचार्य प्रतिसख्या निरोध को ही निर्वाण कहते है यह असस्कृत है अर्थात् वैभाषिक निर्वाण को सत् तथा असत् दोनो रूपो मे मानते है। इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह सत् है क्योकि इसकी सत्ता है, इसका संवेदन है इसमे सुखात्मक अनुभूति है। यह असत् है, क्योंकि इसमे जन्म-मरण की परम्परा का सर्वथा अभाव हो जाता है लेकिन सौतान्त्रिक निर्वाण को केवल असत् या अभाव रूप ही मानते है।

हीनयानी सम्प्रदाय वैभाषिक और सौतान्त्रिक दोनो दर्शन में चेतना अर्थात् विज्ञान एक स्कन्ध के रूप मे दिखलायी पडती है। यहाँ विज्ञान पॉच स्कन्धो मे अन्तिम स्कन्ध के रूप मे लक्षित होता है। इन पॉच स्कन्धों की सक्रान्ति होती है जिसके कारण स्कन्ध सन्तति सर्वदा चलती रहती है।

वैभाषिक आचार्य 'सर्वम् अस्ति' अर्थात् सब की सत्ता है का प्रतिपादन करते है, जबकि सौतान्त्रिक आचार्य असस्कृत धर्म को सत् रूप नही स्वीकार करते है, असंस्कृत धर्म को सौतान्त्रिक केवल अभाव रूप मानते है। असस्कृत धर्म की संख्या तीन है— आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसख्यानिरोध।

आकाश मे रूप का अभाव दर्शाते है। प्रतिसंख्यानिरोध प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त अनुभव और भव का अभाव है। अप्रतिसख्यानिरोध प्रत्ययो का अथवा अनागत धर्मो की उत्पत्ति का अभाव है। अभाव रूप होने के कारण इन्हे सत् नही माना जा सकता। इस प्रकार अतीत और अनागत धर्म को सौतान्त्रिक धर्म को द्रव्यत: सत्य नही मानते। इसी प्रकार अविज्ञप्ति और प्राप्ति भी वस्तुत: सत् नही है।

वैभाषिक आचार्य संस्कृत तथा असंस्कृत दोनो धर्मो की सत्ता को स्वीकार करते है। सब की सत्ता मानने के कारण यह बाह्य वस्तुओं तथा आन्तरिक विषयो को भी सत् मानते है। इनके अनुसार बाह्य पदार्थो की सत्ता है क्योकि इसका हमे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। हम चक्षु से रूप को देखते हैं अत: रूपादि विषयो की सत्ता प्रत्यक्ष गम्य है। यहाँ भी सौतान्त्रिकों से इनका मत मेल नही खाता। सौतान्त्रिक वाह्य वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान नही स्वीकार करते वह बाह्य वस्तुओ को अनुमेय मानते हैं। जबकि वैभाषिक आचार्य वाह्य वस्तु या पदार्थ, चित्त मे अपने आकार या विज्ञान को उत्पन्न करते हैं तथा विज्ञानों और वाह्य पदार्थों का हमे प्रत्यक्ष अनुभव होता है ऐसी उनकी मान्यता है।

सभी धर्मों को सत् मानते हुए भी क्षणिक, अनित्य और प्रतीत्यसमुत्पन्न मानते है। ये धर्म स्वभाव को नित्य और त्रेकालिक भी मानते हैं। यहॉ विरोध प्रतीत होता है। वैभाषिक आचार्यो का कहना है कि धर्मों का अस्तित्व सदा बना रहता है अत: सभी धर्म सत् हैं, द्रव्य हैं। परन्तु धर्मों मे काल और लक्षण का भेद है। धर्म के चार संस्कृत लक्षण मानते है— उत्पाद, स्थिति, व्यय और अनित्यता। इन चार लक्षणों के कारण ही वस्तु का अतीत, अनागत और आगत में संक्रमण होता है। परन्तु इसमे भी वस्तु द्रव्य रूप में बनी रहती है। इनके अनुसार भूत, भविष्य और वर्तमान का भेद द्रव्य भेद न होकर भाव भेद है।

सौतान्त्रिक आचार्य सर्वास्तिवाद की नये रूप मे व्याख्या करते है । सौतान्त्रिक वैभाषिको के इस मत का खण्डन करते है कि सभी धर्मो की सत्ता है अर्थात् सभी अतीत, अनागत धर्मो की सत्ता है तो इसमे शाश्वत वाद का दोष उत्पन्न होता है । सौतान्त्रिको के अनुसार 'सर्वम् अस्ति' का अर्थ है सभी आयतनो की सत्ता । सभी आयतन अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी द्वादश आयतन है । अतएव इनकी सत्ता है । क्योकि भगवान् बुद्ध ने इसका उपदेश दिया है । ये द्वादश आयतन क्षणिक है । क्षणिक होने से ये अनित्य भी है ।

वैभाषिको की व्याख्या मे नित्यवाद या शाश्वतवाद का दोष उत्पन्न होता है । इसका निराकरण आयतनो की सत्ता को सत् तथा क्षणिक मानने से ही सम्भव है । प्रमाण मीमासा की दृष्टि से सौतान्त्रिक मत 'बाह्यानुमेयवादी' है । उनके अनुसार सत्ता अनुमानगम्य है प्रत्यक्ष गम्य नहीं । बाह्य पदार्थो का चित् हमारे मन पर सर्वप्रथम खिच जाता है जिससे हम बाह्य वस्तुओ का अनुमान करते है । बाह्य पदार्थो की सत्ता को स्वीकारते हुए वह कहते है कि वाह्य पदार्थो की सत्ता वास्तविक है । क्योकि अगर बाह्य पदार्थ न होते तो किसका चित्र हमारे मन पर अकित होता ? अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर सौतान्त्रिक सम्पूर्ण ससार को अनुमेय बताते है । संसार का स्वरूप क्षणिक और परिवर्तनशील बताते है उनके अनुसार जब तक हम ससार या सांसारिक पदार्थो के बारे मे कुछ जानते है उसका स्वरूप परिवर्तित हो जाता है । अत· ज्ञान का विषय प्रत्येक क्षण मे अतीत मे विलीन हो जाता है । अत: हम किसी सासारिक पदार्थ के स्वरूप को वस्तुत: प्रत्यक्ष नही करते । हम केवल वस्तुओं या पदार्थों के चित्र या विज्ञान को ही जानते है । ये चित्र या विज्ञान हमारे मन या चित् मे है । उनका स्रोत बाह्य संसार मे अवश्य है, परन्तु उसका अनुमान 'संकेत' से ही हमे ज्ञात होता है ।

महायान का अभ्युदय हीनयानियो की विचारधारा की आलोचना के रूप मे समझा जा सकता है । महायान दर्शन का सम्प्रदाय दो भागों मे विभक्त है— शून्यवाद व विज्ञानवाद । आलोचना के रूप मे हम सर्वप्रथम शून्यवाद के सर्वनिषेध सिद्धान्त को लेते हैं । हीनयानी सम्प्रदाय 'सर्वम् अस्ति' को स्वीकारते हैं । महायानी आचार्य 'सर्वम् नास्ति' को स्वीकारते हैं । दूसरी शाखा विज्ञानवाद के नाम से जानी जाती है । सौतान्त्रिक का वाह्यानुमेयवाद विज्ञानवाद के एकमात्र सत्ता के रूप मे विज्ञान की स्थापना करने मे काफी सहायक सिद्ध हुआ । वस्तु या व्यवहार जगत् विज्ञानरूप ही है । 'सहोपलम्भ' नियम के अनुसार वस्तु और विज्ञान एक साथ उत्पन्न होते है । अत: वस्तु विज्ञानरूप ही है ।

•

वर्तमान परिवेश में गीता की प्रासंगिकता

सामान्य विचार

यह जगत् अनादि और अनन्त है। इसका उद्‌भव कैसे हुआ? इसका क्या प्रयोजन है? इस प्रकार के प्रश्न मानवीय बुद्धि के लिए पहेली के समान है। इनके बीच ही अनेक सभ्यताओं का उद्‌भव और पतन भी हुआ फिर भी मानवीय सभ्यता अपनी आकाक्षाओ की तलाश मे स्व-पथ पर अग्रसर है। यह यात्रा जो प्रारम्भ हुई वह जगलो से, नदियो से, कन्दराओ से, गुफाओ से अर्थात् प्रत्यक्षत: प्रकृति की गोद से, वही आज विज्ञान एव प्रौद्योगिकी के विकास के प्रयोग के द्वारा, कठिन श्रम से मुक्त है, संचार एव परिवहन के माध्यम से अलग-अलग पडे विभिन्न महाद्वीपीय समुदायो को वैश्वीकरण कर रही है और नित्य नवीन प्राकृतिक रहस्यों का उद्‌घाटन करती हुई आगे जा रही है, उस सत्य के केन्द्र की ओर जहॉ वह जीवन के रहस्य एव प्रयोजन को समझ सके।

उन्नति और अवनति के इस क्रम मे प्रत्येक जीवन ने आगामी जीवन को कुछ प्रेरणाएँ एव दिशा निर्देश दिया है। जिसके फलस्वरूप विभिन्न उत्कृष्ट सभ्यताओ का प्रादुर्भाव हुआ और फिर समय के साथ वे काल-कवलित भी हो गयी। अर्थात् एक सभ्यता का पतन फिर दूसरी सभ्यता का प्रादुर्भाव यह क्रम चलता रहा। परन्तु भारतीय संस्कृति जो उन प्राचीन सभ्यताओं में से एक है। आज भी अपने शाश्वत एवं प्राचीन संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये हुए है। यद्यपि साधनों के परिवर्तन एवं आधुनिकता की हवा ने, हमारे समाज के जीवन-शैली मे अभूतपूर्व परिवर्तन किया है, फिर भी वे सांस्कृतिक धरोहर जो सदियों से ऋषियों, महात्माओ एवं मनीषियों ने अपने कठिन प्रयास एवं साधना से जो कुछ भी ज्ञान प्रकाश दिया वे आज भी प्रेरणा स्रोत है। जब हम संकटो के बीच अथवा चुनौतियो से उबरने की कोशिश करते हैं। महात्मा गॉधी जी कहते हैं कि जब मै निराशा के क्षणो मे होता हूॅ तो प्रकाश की एक भी किरण दिखाई नही देती है। उस समय गीता माता की शरण मे जाता हूँ और एक दो श्लोक पढ़ लेने पर मन प्रसन्न हो जाता है, आत्मशक्ति जागृत हो उठती है।' इसी प्रकार हमारे वेद, उपनिषद्, महाकाव्य ॥रामायण, महाभारत॥ एवं अन्यान्य भारतीय साहित्य आज भी, जब हम अँधेरे मे भटक जाते है तो अपने ज्ञान प्रकाश द्वारा हमारा मार्ग दर्शन कराते है। इस दिव्य, समृद्ध वैचारिक धरोहर के बावजूद आज का मानव उस अविकसित मानव सभ्यता की ओर जा रहा है। जिसमे केवल खाने-पीने एव जीने के प्रति लिप्सा रहती थी। क्या मनुष्य मात्र इतना ही है? अगर इतना ही होता तो मनुष्य और पशु-प्राणी में भेद ही नही रहता। परन्तु आज की दशा और दिशा इस प्रवृत्ति को उजागर करती है जिसमें सामाजिक जीवन की ऐषणा

समाप्त हो रही है और इसका प्रभाव हमारे सार्वजनिक जीवन मे दिखाई दे रहा है। सार्वजनिक सस्थाएँ, पद अपने उद्देश्य एव कर्त्तव्य भूल चुके है और उसके कार्य करने वाले व्यक्ति, व्यक्तिगत आकाक्षाओ, भोग लिप्सा की प्रवृत्तियो से इतना ग्रस्त हो चुके है कि आज सम्पूर्ण समाज भी भटक चुका है। वास्तव मे बुद्धि भ्रष्ट होने के बाद जो कुचक्र चलता है वह कुछ समय बाद कारण-कार्य विहीन हो जाता है। अतएव इसके लिए कौन दोषी है ? इस भ्रष्ट आचरण का कारण क्या है ? आदि प्रश्नो का समाधान दोषारोपण करने से सम्भव नही है। इसके लिए तो प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्दर देखना होगा और दृढ निश्चय करके, सही आचरण का अनुमान करना होगा। आज हम भौतिक रूप से अधिक सम्पन्न हुए है, हमारी सुविधाएँ बढी है, परन्तु अन्दर का प्रकाश क्षीण हुआ है जिसके परिणाम स्वरूप हम अन्यो के प्रति जवाब देह नही रहे, प्रकृति के प्रति सौन्दर्यानुभूति जाती रही, आदि। अत· जनित सरचना छिन्न-भिन्न हो चुकी है। केवल वाह्य स्वरूप का आधारहीन ताना बाना की चमक दमक दिखाई देती है। जबकि प्राचीन काल मे कन्दराओ, जगलो, नदियो के किनारे रहने वाले व्यक्ति का आन्तरिक उद्‌बोधन इतना शक्तिशाली था कि वह इन्द्रियातीत तत्त्व या अलौकिक ज्ञान का साक्षात्कार करता था। वह क्या है 'कठोपनिषद्' के शब्दो मे— 'उसके सामने सूर्य नही चमकता, उसके सामने चन्द्रमा, तारें और विद्युत नही चमकते, अग्नि की तो गिनती ही क्या है ? उसके चमकने से ही सब चमकते हैं उसके प्रकाश से ही सब प्रकाशित होते हैं।[७५]

उसी परम चेतना का निरूपण वृहदारण्यक उपनिषद्‌कार याज्ञवल्क्य ऋषि द्वारा इस प्रकार किया गया है कि जो सबको जानता है उसे कौन जान सकता है ? वह सनातन ज्ञाता है, वह किससे जाना जायेगा ? कितनी सूक्ष्म एवं गहन दृष्टि की आस्था है, उस सत् को जानने की। यह चेतना का एक प्रकार से परिष्करण, ऊपर उठने की उत्कण्ठा है जिससे वह साक्षात्कार करना चाहता है, इसको प्राप्त कर लेने पर तो जीवन आनन्द का सब रस ही मिल जाता है। क्या भोग लिप्सा की प्रवृत्ति अथवा आधुनिक शब्दावली में कहा जाय तो क्या उच्च्व कोटि के उपभोक्ता मात्र बन जाने से जीवन का यह उत्कृष्ट सुख प्राप्त किया जा सकता है। मेरे विचार से ये परिमाणात्मक सुख अपने अन्दर उसी मात्रा मे दुःख की पीडा भी रखते है, जितना कि सुख की विह्वलता अर्थात् प्रत्येक परिमाणात्मक वस्तु की अनुभूति सदैव अपने विरोधी गुणों से युक्त होती है जैसे कि दिन-रात्रि, अगर दिन न हो तो रात्रि का अस्तित्व ही नही होगा। अतएव रात्रि के लिए दिन की अनिवार्यता है और दिन के लिए रात्रि की। इसी प्रकार प्रकृति उपादित प्रत्येक वस्तु विषय अपने विरोधी पक्ष की, अनिवार्यत: अपेक्षा रखते हैं। समस्त भौतिक उपलब्धियों के बावजूद हम एक रिक्तता महसूस करते हैं, एक अभाव का एहसास होता है। भय, अकुलाहट वैयक्तिकता, एक दूसरे को पछाड़ने की मानसिकता आदि प्रवृत्तियॉ क्या यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त नही है कि हम अपने नैसर्गिक मूल सत् से परांगमुख होकर मृग मरीचिका की खोज कर रहे है। जिसके फलस्वरूप हमारे समस्त मानवीय मूल्य का क्षरण हो रहा है। समाज में तामसिक प्रवृत्तियों मे वृद्धि हो रही है, जो मानव जाति के विनाश हेतु क्या खतरे की घंटी के समान नही है ? हम अपने को असाधारण बनाने की कोशिश में अपने चारो ओर कितनी ढेर सारी आग्रहो की दीवार खड़ी करते जा रहे हैं। यथा— ब्राह्मण, हरिजन, यादव, मुसलमान, ईसाई, हिन्दू, काला-गोरा, द्रविण-आर्य, भाषायी, क्षेत्रीय आदि प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव, मनुष्य के आन्तरिक संरचना

मे आ रहे परिवर्तन का द्योतक है। यह अभिव्यक्तियाँ जो हमारे देश के साथ-साथ विश्व के अन्य देशो मे भी घटित हो रही हैं यह सब क्यों हो रहा है? वामपंथी एवं नक्सलार्डरो का कहना है कि यह सब प्रणाली व्यवस्था का दोष है। मै कहता हूँ कि आज के समय मे लोकतन्त्र से उत्तम किसी प्रणाली का ईजाद ही नही हुआ है। लोकतन्त्र मानवीय स्वतन्त्रता बाजार व्यवस्था, निरपेक्षवादी अवधारणा, समानता, बन्धुत्व आदि आदर्शो की स्थापना हेतु एक सम्यक् प्रणाली है और समाजवादी विचारधारा का मूल्याकन किया जाय तो वह भी समाज हित को प्रमुखता देती है। फिर दोष किसमे है? यह तो सिर्फ तत्क्षण अपने को उचित ठहराने के लिए दूसरे की आलोचना करो। इससे क्या है? वास्तव मे अगर निष्पक्ष ढग से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि भ्रष्टाचार एव अन्य बुराइयो की जड हमारे अन्दर है, हमारी प्रवृत्तियो मे है सोचने के ढग मे है, हम लोगो ने जीने की जो प्रणाली बना रखी है, उसमे है। सार्वजनिक पदो या सत्ता का सचालन करने वाले लोग हमारे ही लोग तो होते है वे कही से अचानक नही आ जाते है तो फिर बुराई की जड़ कहाँ है? यह सिद्ध हो गया है कि यह हमारे अन्दर है। यहाँ प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि हमारी प्रवृत्ति ऐसी नही लेकिन विवश होकर ऐसा करना पड़ता है, ऐसा आप कह सकते है। परन्तु मै कहूँगा कि अगर आप को सत्य माना जाय तो 'पन्चानेव प्रतिशत' जनता इसी प्रवृत्ति को पसन्द करती है। फिर पाँच प्रतिशत अपराधी एवं भ्रष्टाचारी प्रवृत्ति वाले लोग आपके प्रतिकूल कैसे जा सकते है? यहाँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि यह प्रवृत्ति मात्र जानने, समझने भर की है, अन्यथा वास्तव मे प्रवृत्ति यदि ऐसी हो जाय तो भ्रष्टाचार को मिटते देर नही होगी। आज समस्त विश्व में खून खराबा, स्त्रियों बच्चो का शोषण, भुखमरी, अकाल, बेरोजगारी, पारमाणविक युद्ध का सकट, आतंकवाद एव अन्य विभिन्न प्रकार के मानवाधिकारो का उल्लंघन हो रहा है। आज कश्मीर, मणिपुर, असम, अरुणाचल प्रदेश मे एव विश्व के अन्य जगहो चेचनिया, बोस्निया, इराक, रुआन्डा आदि मे जो कुछ हो रहा है उसके मूल मे इस मूल्य परक आन्तरिक चेतना का सकट विद्यमान है, जिसको शुद्ध करने की योजना गीता द्वारा प्रस्तुत की गयी है। हम आज सिमटते जा रहे है, अपनी स्वतन्त्रता एव आत्म निर्णय को भू-सीमाओं के आधार पर परिभाषित करते हैं। मैं पूछता हूँ क्यो नही समुद्र, आकाश, सूर्य के प्रकाश को बॉट लेते? थोड़ा विचार कीजिए कि हम हवा, पानी, प्रकाश के बिना जी नहीं सकते, हम समाज के बिना जीवित नही रह सकते फिर ये सब जब मिलकर हमारे जीवन को दे रहे हैं तो फिर हम उन्ही से क्यों कटना चाहते हैं? इसलिए कि मैं स्वामी बनना चाहता हूँ, मैं राज्य करना चाहता हूँ, मैं विशेष बनना चाहता हूँ आदि मनोवृत्तियाँ हमारे क्षुद्र अहंकार जनित अभिव्यक्ति हैं। ऐसी अवस्था में हम न विशिष्ट बन सकते है और न वास्तविक स्वामी। ईसा मसीह स्वामी बन गये, महात्मा गाँधी महात्मा के रूप में पूज्यनीय हो गये, सिद्धार्थ बुद्ध या भगवान् कहलाए, आखिर किस आधार पर? ये सभी अहंकार एवं आसक्ति से सर्वथा निर्मूल होकर सभी मे अपने को देखा, उन्होंने कुछ भी नही हटाया सिवाय आसक्ति और अहंकार के। वे अपने समस्त साधनाओं मे मात्र यही पाते हैं कि आसक्ति और अहंकार को हटा दो तुम विशेष बन जाओगे तुम व्यापक बन जाओगे। तुम किसी राज्य के स्वामी न होकर लोगों के हृदय के स्वामी बन जाओगे। ऐसी अवस्था मे ही हम नैतिक मूल्य के बारे मे सोच सकते है उसकी आवश्यकता को समझ सकते हैं अन्यथा क्या नैतिकता और क्या समाज केवल 'मैं' अपना भला, भला जगमाही।

यही कारण है कि गीता सर्वप्रथम अर्जुन के आसक्त जनित वैराग्य को भग करना चाहती है और उसके लिए साख्य ज्ञान का उपदेश देती है। जो उसे परिणामात्मक चिन्तन से विमुख कर आत्मिक चिन्तन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहती है। श्रीकृष्ण भगवान समझ रहे है कि अर्जुन मोह के कारण अज्ञानता के बधन जाल मे फँस चुका है। इसका एक मात्र उपाय है आत्मा के स्वरूप को समझाना और जब अर्जुन इस वास्तविक वस्तुस्थिति को समझ जाता है तो वह फिर अपने कर्त्तव्य पथ पर वापस आ जाता है और स्वतत्रता पूर्वक विशुद्ध आन्तरिक भाव से युद्ध करता है। अधर्म के विरूद्ध वह लड़ सकता है परन्तु धर्म के विरूद्ध नही लड़ सकता। यह तो दुर्योधन जैसी आसुरी प्रवृत्तियो वाले लोग करते है।

वास्तव मे स्वतन्त्रता का फूल आकाश मे खिलता है जहाँ हृदय और मस्तिष्क दोनो खुले हो, दोनो की परस्पर अपेक्षा हो एक के बिना दूसरा जीवित ही न रह सके वह स्वतन्त्रता है। यह बॉटने, तोड़ने, भेद करने से नही उत्पन्न होती यह तो हमारी निर्बलता का प्रतीक है। हम अपने को यदि सुरक्षित करना चाहते है, स्वतन्त्रता का आनन्द लेना चाहते है तो हमे विभिन्न पूर्वाग्रहो से मुक्त होना पड़ेगा, अपनी दृष्टि को उदार एव व्यापक बनाकर अपने को सभी मे ढूढना होगा और जब यह पा लिया तो समझो कि स्वतन्त्रता मिल गयी। स्वतन्त्रता जीवन के विविध आयामो मे एक समवेत स्वर है उसमे सभी समाहित हैं, यह अपने को अन्यो से जोड़ना है। स्वतन्त्रता अकेलापन नही, स्वतन्त्रता का अभिप्राय वह स्वयं सब कुछ होता है, सबका होता है।

उपर्युक्त जीवन दर्शन की तात्त्विक विवेचना का उद्देश्य हमारे भारतीय चिन्तन के उस मूल उद्‌घोष को आधार स्वरूप स्पष्ट करना था, जिसके आलोक में ही हमारे समस्त नैतिक मूल्यो की प्रतिस्थापना हो सके। चूँकि भारतीय चिन्तन मे विश्लेषण नही, संश्लेषण पर, सीमित नही असीमित पर, भिन्नता नही एकता पर ही अधिक बल दिया गया है। इस सन्दर्भ मे स्पष्ट है कि हमारे यहाँ समस्त मूल्यात्मक विषयो का चिन्तन अलग-अलग नही हुआ। विशेष रूप से ये तीन विषय जो आज पाश्चात्य विश्लेषण के दौर मे वर्गीकृत हो चुके हैं, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र तीनो ही एक चिन्तन मे ही समाहित हैं। वास्तव मे आप किसी भी एक को लेकर विचार विमर्श कर देखे, अन्ततः पायेगे कि उसकी समाप्ति आध्यात्म मे ही होगी। ऐसी बात नही है कि भारतीय मनीषियो मे विश्लेषण की क्षमता विद्यमान नही थी, बल्कि वे जीवन के सभी समस्याओं के मूल कारण को जानना चाहते थे, जिससे कि दु.ख की पीड़ा का समूल उपचार किया जा सके। अतएव इसी कारण मनीषियों ने मूल भाव पर पहुँचना चाहा, बिना भाव के तार्किक विवेचना कितनी शुष्क होती है आप समझ सकते हैं। मानवीय पीड़ा को हमारे ऋषियों ने समझा उनके अन्दर भाव उपजा और तब वे उसके निदान हेतु नैतिक परक जीवन मार्गों का निर्माण किया। गौतम बुद्ध का चार आर्य सत्य मानव जाति की पीड़ा है, 'गौतम बुद्ध' इस पीड़ा से सिहर उठते हैं और तब जाकर अपने 'बोधि सत्व' की प्राप्ति कर प्रतीत्य समुत्पाद और निर्वाण की खोज की।

इसी प्रकार अर्जुन दुर्योधन जैसे अधर्मी भाई से पीड़ित है और उसकी पीड़ा से भगवान द्रवित है। इस पीडा को दूर करने के लिए उपजी है गीता, जो मानव जीवन से सम्बन्धित सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है।

विज्ञान के विकास ने एक तरफ जहाँ मानव को जानने के लिए अपार सुख-सुविधाओं का अम्बार खडा किया है तो दूसरी तरफ पर्यावरण सकट, पारमाणविक अस्त्रों जैसे प्रलयकारी रास्तों का ढेर, तार्किक एव वैज्ञानिक अतिशयता के फलस्वरूप सवेदन शून्य होता मानव, भौतिकवादी जीवन दृष्टि के फलस्वरूप पनपती वैयक्तिकता, भ्रष्टाचार की विभिषिका आदि भयावह परिस्थितियो को भी उसके समक्ष उत्पन्न किया है । जहाँ प्राचीन काल मे मानव जगलो मे नंगे ही भोजन की तलाश मे इधर-उधर घूमता रहता था, वही आज विज्ञान के बल पर वह प्रकृति पर विजय हासिल करने की कोशिश कर रहा है फिर भी वह प्रकृति की इस अनन्त विस्तार मे वह अपने को सीमित ही पाता है । वह अह की अधिनायकवादी प्रवृत्ति द्वारा स्वमाी बनना चाहा है लेकिन प्रकृति सदैव विप्लवकारी शक्ति के द्वारा उसकी आकाक्षाओं को ध्वस्त करती रही है ।

आज विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के इस युग मे मानवीय समस्याओ यथा— गरीबी, भुखमरी, अपराध एव हिसा आदि की व्याख्या एव समाधान तर्क बुद्धि के आधार पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से किया जाता है मानो वह जड वस्तु की तरह एक वस्तु या मशीनो के कल पुर्जा मात्र है विश्लेषणवादी प्रवृत्ति जड वस्तुओ के लिए तो ठीक है, परन्तु मानवीय जीवन से जुडी समस्याओ के सन्दर्भ मे यह उचित नही क्योकि मानवीय जीवन की समस्या केवल आर्थिक एव भौतिक नही है बल्कि मूल रूप मे यह समस्या नैतिक मूल्यो से सम्बन्धित है । यदि इन मूल्यो के प्रति आस्था का उदय प्रत्येक मानव के अन्दर हो सके तो मै नही समझता कि संसार मे आर्थिक या अन्य ससाधनो की इतनी मात्रा नही है कि समस्त लोगो का निर्वाह नही हो सकता । वास्तव में लोगो के अन्दर शुभ-संकल्प का अभाव है अन्यथा कैसी भुखमरी या गरीबी, कैसा अपराध या भ्रष्टाचार, यह सभी विघटित मनोवृत्ति का प्रतीक है ।

आज हमारे समक्ष महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि कैसे नये सिरे से लोगो के बीच 'आचरण की समस्या' का विकास किया जाय । आचरण की सभ्यता से तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति यह निर्णय कर सके कि 'हमें क्या करना चाहिए एव हमे क्या नही करना चाहिए । चूँकि सभी लोग एक समान स्वभाव वाले या एक समान ज्ञानी नही हो सकते । अतएव विभिन्न लोगों के लिए निम्नलिखित आधारो का प्रयोग किया जा सकता है—

१. शास्त्रीय मानदण्ड

२. संवैधानिक मानदण्ड

३. स्वविवेक का मानदण्ड

४. महान लोगो के आचरण का अनुसरण करने का मानदण्ड ।

फिर भी यह महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व समाज के प्रबुद्ध लोगों का है कि वह प्रथम तो अपने आचरण द्वारा इस तरह के मूल्यों का प्रकाशन करे और दूसरा इसके प्रति लोगों को जागृत भी करे । सार्वजनिक पदो पर नियुक्ति का आधार स्वभाव एवं योग्यता का बनाया जाय, इसमें किसी तरह का पक्षपात न किया जाय । सार्वजनिक पदों पर काम करने वाले लोगों को चाहिए कि वे अपने पद के अनुरूप अधिकारों का फलोचित सन्दर्भ में प्रयोग करें । अर्थात् कर्त्तव्य-अधिकार

मे तादात्म्य होना चाहिए। ब्रेडले का यह कथन कि मेरा स्थान ही मेरा कर्त्तव्य है 'इस कथन को साकार करने का प्रयास किया जाना चाहिए। गीता मे भी व्यवहारिक जीवन के लिए इस सिद्धान्त को मण्डित किया गया है। अपने गुण एव स्वभाव के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन निष्काम भावना से किया जाय। इसके लिए हम प्रत्येक को दृढ सकल्प लेकर जीवन के कर्म क्षेत्र में आना होगा, तभी हम नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक एव मनौवैज्ञानिक आदि समस्याओं से मुक्ति पा सकते है।

हम अब उपर्युक्त समस्याओ एवं विश्लेषण के आधार पर यह उलझन पूर्ण परिवेश मे मानवीय अस्तित्व की स्वतन्त्रता हेतु, उसकी गरिमा की रक्षा एव उत्थान हेतु श्रीकृष्ण जैसे महामानव का मार्गदर्शन मानव समाज हेतु अनिवार्य था। इस सामाजिक चुनौतियो एव मानवीय सकट के समय भीष्म पितामह, कर्ण, द्रोणाचार्य एव कृष्ण की अक्षौहिणी सेना आदि ऐसे लोग जो समाज के प्रबुद्ध प्रतिष्ठित, महाज्ञानी एवं मानवीय कर्त्तव्य परायणता के पथ प्रदर्शक थे। दुर्योधन के अधार्मिक एव अनैतिक आकाक्षाओ की पूर्ति हेतु धर्म एवं भौतिक मूल्यो के विरुद्ध सघर्ष हेतु तैयार थे। इस प्रकार इस जटिल विरोधाभास ॥नियति का चरमोत्कर्ष द्वन्द्व की स्थिति॥ धर्म-अधर्म एव शुभ-अशुभ के द्वन्द्व मे महाभारत का होना निश्चित था।

किन्तु ऐसी स्थिति मे अर्जुन पारिवारिक भावनाओ के मोह से ग्रसित होकर युद्ध न करने का फैसला करता है। जो उसके ममत्व एव मोह के वशीभूत जड़ता या मूढ़ता की स्थिति का द्योतक है। वह वाह्य परिणाम के भावी भयानक परिदृश्यो को सोचकर सिहर उठता है, धनुषण बाण हाथ से छूट जाते हैं और कहता है नही चाहिए हमे राजसुख जो हमारे परिवार एवं धर्म का नाश करेगा, पूज्यनीय गुरुओ एव सम्बन्धियो का नाश कर दे। यह पाप होगा। यह कैसा धर्म है? जिससे सहस्रो लोगों की हत्या होगी। इसी समय श्रीकृष्ण जो उनके सारथी थे, कर्मयोग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञान को सूक्ष्म एवं बोधगम्य रूप मे समझते हैं। इसका मूल सार यही है कि हे पार्थ तुम जिस विषय मे सोच रहे हो वह अचिन्तनीय है। तुम मात्र अपने कर्त्तव्य के बारे मे सोच सकते हो कि कौन सा कर्म तुम्हारे लिए उचित है और कौन सा नही। और इस कर्म-अकर्म का निर्धारण, परिणाम के स्वरूप के आधार पर नही किया जाता, जैसा कि तुम कर रहे हो। अतएव तुम जो कर्म करने जा रहे हो उसका उद्देश्य है कि कल्याणकारी आदर्श राज्य की रचना एवं मानवीय मूल्यों की पूर्ण स्थापना हेतु तुम विद्रोह एव हिसा आदि परिणामों से दिग्भ्रमित न हो। यदि तुम यह सोचते हो कि तुम्हारी युद्ध न करने के निर्णय से युद्ध नही होगा तो यह तुम्हारी अज्ञानता है, क्योकि युद्ध की सभी आवश्यकताएं एवं परिस्थितियाँ प्रबल हैं। और यह परिस्थिति मनुष्य को उसमे उचित कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करती है। इस प्रकार परिस्थितियॉ एवं कर्त्तव्य दोनों ही मिलकर अपने उद्देश्य का निर्धारण करते हैं। परिस्थितियॉ तो युद्ध के अनुकूल हैं। ऐसी अवस्था में संन्यास, वैराग्य, मोह, ममता की बात क्षात्र धर्म ॥कर्त्तव्य॥ के अनुरूप संगत नही लगती। तुम्हारा वैराग्य अहिसक न होकर एक आत्मघाती एवं पलायनवादी, कायरतापूर्ण कदम होगा। परिस्थितियॉ और कर्त्तव्य परिणामो का मूल्यांकन नही करते। यह फलाकांक्षा तो मानवीय अज्ञानता का परिणाम है। फलाकांक्षा के फलस्वरूप कर्त्तव्य एवं बुद्धि में मानवीय विकारो का प्रादुर्भाव होता है। ये ही प्रदूषित कर्म मनुष्य के लिए दुःखदायी होते है।

अतएव यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्य क्षेत्र मे परिणाम (फल) के दूषित आकाक्षा से क्षेत्रज्ञ ॥आत्मा ॥ के स्वरूप को दूषित न करे, क्योकि ऐसी अवधारणा के परिणाम स्वरूप मनुष्य के अन्दर आसक्ति एव अन्य दुष्प्रवृत्तियो के सृजन के फलस्वरूप वह पथ विचलित होकर दम्भी मिथ्या-अहकारी बन जाता है एव दुरास्था से ग्रसित होकर मिथ्याचरण करने लग जाता है । वास्तव में यह कहना कि यह मेरा निर्णय है, मै इसकी सहायता की, मै विजय पाया आदि अहकारिक प्रवृत्तियॉ व्यक्ति के मिथ्या अज्ञानता एव आसक्ति पूर्ण प्रवृत्तियो का परिणाम है । जबकि वास्तविक कर्त्ता उस कर्त्तव्य की परिस्थिति एव अदृश्य शक्ति होती है, जो उसे कर्त्तव्य के लिए प्रेरित करती है । इस प्रकार हम देखते है कि गीता का कर्मयोग की यह समुच्चयी अवधारणा मानव जीवन के कुशल निर्वहन एव कल्याणकारी आदर्श समाज की सरचना मे अपना अद्वितीय योगदान की पुष्टि करती है । कर्मयोग की महत्ता आज के समय मे वैसे ही प्रासगिक है जैसा कि महाभारत काल मे थी । बस अन्तर इतना है कि महाभारत कालीन ॥अर्जुन ॥ की प्रवृत्ति उस समय निवृत्तोन्मुखी हो चुकी थी, किन्तु आज की मानवीय प्रवृत्ति वैज्ञानिक एवं पूँजीवादी युग मे आसक्ति पूर्ण अर्थात् प्रवृत्तोन्मुखी बन चुकी है । दोनो ही एकागी दृष्टियॉ है जो प्रत्येक दृष्टि से विनाशकारी है । इससे बचाव हेतु ही यूरोपियन पडित अरस्तु और महात्मा बुद्ध ने भी एकागी अवधारणाओ के नैतिक दृष्टिकोण से सर्वथा त्याज्य माना । प्रवृत्ति-निवृत्ति, शाश्वतवाद-उच्छेदवाद, स्वार्थ-परार्थ, विशेष-सामान्य, स्वतंत्रता-नियतिवाद किसी एक का चरमोत्कर्ष नैतिक मूल्यो का निरसन ही होगा । जैसा कि काण्ट का नीति शास्त्र मे निरपेक्षवाद का सिद्धान्त इसी एकांगी का वरण करता है । इसके समाधान हेतु गीता मे मध्यम मार्ग का समन्वय किया गया । अर्थात् प्रवृत्ति में निवृत्ति, स्वतंत्रता में उत्तरदायित्व, कर्म में फल की अनधिकारिता आदि अवधारणाएँ इसी तथ्य को प्रदर्शित करती हैं । माना कि 'सत्य बोलना ठीक है' । परन्तु यह सदैव प्रत्येक देश-काल मे उचित नही हो सकता । मान लीजिए जबकि उस सत्य बोलने से कल्याण के जगह अहित होने वाला है । तभी तो महाभारत मे कभी झूठ न बोलने वाले धर्मराज युधिष्ठिर भी 'यह जानते हुए कि अश्वत्थामा हाथी' मारा गया है । परन्तु द्रोणाचार्य को परास्त करने के लिए इस छल-युद्ध में भी सहभागी होते हैं । वे कहते हैं— अश्वत्थामा मरो, 'नरो वा कूजरो' । स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् महाभारत युद्ध मे कई स्थलों पर छल कपट आदि का आश्रय लिया है । कहने का तात्पर्य यह है कि अधर्मियो पापियों के वध के लिए लोकहित धर्म की स्थापना के उद्देश्य से अगर मनुष्य को नैतिक दृष्टि से दिखने वाले अनुचित कर्त्तव्य भी करना पड़े तो वे नैतिक ही हैं क्योंकि गीता की नैतिक मीमांसा वाह्य परिणामो मात्राओ पर निर्मित नही है । उसका प्रमुख पक्ष 'आन्तरिक शुद्धता' की स्थापना है । साम्य बुद्धि के द्वारा किया जाने वाला कार्य लोक संग्रहकारी एव सदैव मूल्यो के संवर्धन एवं स्थापना में सहायक होता है ।

वास्तव मे इस विषयोपदेश का प्रयोजन युद्ध की दशा पैदा करना नही है क्योकि ऐसी स्थिति के न बनने की एक पूर्ण अवधारणा है । क्योकि युद्ध की स्थिति किसी भी विचार-क्रिया की अतिक्रमणता की दशा मे उत्पन्न होती है, जैसे दुर्योधन की हड़प नीति, सुई के बराबर जमीन न देना, जान से मरवाने के सभी तुच्छ उपायो का सहारा लेना ताकि हमारा राज्य पर एकाधिकार स्थापित हो जाय आदि । ठीक वैसे ही आज सम्पूर्ण जगत में मानव के समक्ष ही नहीं, वनस्पति जीवन एवं अन्य प्राणियों के समक्ष जैविक अस्तित्व का खतरा उपस्थित हो गया है । आज का मानव वैज्ञानिक विकास

के परिवेश मे अपने साम्राज्यवादी एवं विलासी प्रवृत्तियों को दिन-रात बढाता ही चला जा रहा है । उसकी भोग लिप्सा युक्त कामना की व्यग्रता का अन्त ही नही दिखाई पडता है अर्थात् वह कितना ही क्यो न समृद्ध हो जब आत्म नियत्रण की स्थिति मे नही है तो यह भी एक मानसिक क्लेश, स्वार्थ आदि इन्द्रिय जनित सुख एक प्रकार की अस्तित्व परक परतत्रता ही है । इसके परिणाम स्वरूप अतिवादी प्रवृत्तियॉ व्यक्तिगत स्तर से लेकर परिवार, वर्ग, जाति, समुदाय, सम्प्रदाय, राष्ट्र एवं विश्व स्तर पर युद्ध की दशाये बना रही है, जो वास्तव मे मानव जाति के लिए अभिशाप है । कोई भी युद्ध हो चाहे वह महाभारत का युद्ध हो अथवा राम-रावण का युद्ध हो या समकालिक विश्व युद्ध ये सभी मानवीय कर्त्तव्य के कोई आदर्श नही हैं, किन्तु यह मानवीय अज्ञानता के फलस्वरूप बनाई गई परिस्थितियो की विवशता है जिससे युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता है । व्यक्ति यह जानते हुए कि यह दुष्प्रवृत्ति फलाकांक्षा, उसे एक भयावह स्थिति प्रदान करेगी, इसके बावजूद आज भी वह आसक्तिपूर्ण प्रवृत्तियो का दास बना हुआ है । अतएव आज आवश्यकता है पुन. उस 'निष्काम कर्मयोग' की अवधारणा को समाज मे पुनर्स्थापित करने की, जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने विश्वसनीय एव पूज्यनीय आध्यात्मिक पुस्तक गीता की अवधारणाओ को अपने जीवन मे आत्मसात् करके प्रवृत्ति मे निवृत्ति के महत्व को साकार करे, परिभाषित करे । जिससे जीवन के सर्वागीण आयाम एव विविधता युक्त परिस्थितियो के बीच अपने कर्त्तव्य को अपना धर्म मानकर एक सुन्दर और स्वस्थ जीवन का निर्माण कर सके ।

अपने भौतिकवादी संस्कृति मे मानवीय मूल्यो एव भावनाओ का कोई महत्व नही रहा । प्रत्येक जीव एव व्यक्ति भोगी एव गुमराही प्रवृत्ति मे जीवन जी रहा है । होता भी क्यो नही, जब हम सदैव विषयो, इन्द्रिय सुख के वशीभूत होकर ही जीना चाहते है । मनुष्य इस अतिवादी आकांक्षाओ मे स्वार्थी एव संचयी प्रवृत्ति बलवती हो रही है । एक लाख, एक करोड़ एक अरब आदि की बढ़ती कामनाये संचयीकरण की विकृत मनोवृत्ति को जन्म दे रही है । गीता विकास को अवरूद्ध नहीं करना चाहती, विकास हो परन्तु इस तरह से आसक्तियुक्त संचयीकरण की मानसिकता से नही कि जब वासना तुष्टि हेतु भारतीय धन को स्विस बैको के खाते मे जमा किया जाता हो, बडे-बड़े शेयरो के घोटालो द्वारा जनता का अप्रत्यक्ष शोषण किया जाता हो तो क्या यही विकास है । यही भूख मिटाने का उपाय है । इस मनोवृत्ति के कारण एक तरफ जहॉ कुछ लोग भोग विलासिता का जीवन जी रहे हैं तो दूसरी तरफ बाहुल्य आबादी अत्यन्त कठिन एव दुर्लभ जीवन व्यतीत करने को विवश है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने विवशता के अभाव मात्र जीवन शैली से उबरने के लिए, अभाव के निरन्तर संगति के कारण बुद्धि की साम्यता को खो देता है और इसके निदान हेतु अनैतिक अपराधी चोरी हिसा आदि का सहारा लेने लगता है । संवधिान नियम लोकतंत्र की ऊँची एवं आकर्षक उद्घोषणाएँ, नैतिक सिद्धान्त सामाजिक मान्यताएँ अब बलशाली एव दोहरे चरित्र वाले ॥मिथ्या चारियो ॥ के शोषण का माध्यम बन चुका है । सफेदपोश, मिथ्याचारी, सदाचारी कहलाता है एवं समाज के अधे एवं टूटी हुई आन्तरिकता वाले लोगो से उन्हें सम्मान भी मिलता है । अतएव उत्पीड़न, अत्याचार एवं अन्य अमानवीय कृत्यों के विरूद्ध गीता के उपदेशो की आवश्यकता है जो लोक संग्रह की धर्म भावना की पूर्ति लोगों के दिव्य दिमाग में कर सके । जैसा कि सामान्यत: लोग कर्म के स्वरूप का निर्धारण उसके परिणाम के आधार पर करने का प्रयास करते हैं जो सर्वथा अनुचित है ऐसा स्वाभाविक भी है जब उनके समक्ष कोई ऐसा आचरण

करने वाला न हो तो अल्पज्ञानी या साधारण लोग भी क्या करें ? वास्तव मे वाह्य परिणाम की कसौटी नैतिक मूल्यों के निर्धारण का एक घटक बन सकता है परन्तु पूर्ण रूप से नही । कर्म के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण कर्ता के प्रयोजन एव उसकी दृष्टिकोण मनोवृत्ति पर निर्भर करता है न कि फलाकाक्षा रहित हो जाना ही कर्ता के नैतिक प्रमाणिकता के लिए पर्याप्त है । ऐसी स्थिति मे तो, एक पशु, पक्षी ही सबसे अच्छा कर्मयोगी होगा । इसे एक उदाहरण से देखें— एक कार चालक निरुद्देश्य सडक पर वेग से कार चलता जा रहा है वह हार्न भी नही बजाता और न किसी के कुचले जाने की परवाह करता है ।

उसके अनुसार वह किसी भी वाह्य परिणाम की परवाह किये अपना कर्त्तव्य कर रहा है । ऐसी स्थिति में सडक पर खेल रहे बच्चो की, कार से कुचलने पर मृत्यु हो जाती है । तो क्या चालक निर्दोष है ? क्योकि प्रथम तो चालक निरुद्देश्य कार को चला रहा था, जो विवेकहीनता का परिचायक है । गीता आदर्श उद्देश्यो की ओर सदैव प्रेरित करती है । उद्देश्य और फल मे अन्तर होता है । उद्देश्य सदैव कर्त्ता की बुद्धि के साथ होता है, जबकि फल एक निश्चित अन्तराल तक किए गए कर्म का परिणाम है जो कर्म के उपरान्त ही उपस्थित होता है और दूसरी तरपु बालक निर्दोष एवं अबोध था । इस प्रकार कर्त्ता का यह फलाकांक्षा रहित कर्म विवेकयुक्त एव उद्देश्यपरक न होने के कारण नैतिक दृष्टि से अनुचित कहा जायेगा । गीता के कर्मयोग मे अन्तर्निहित उद्देश्यों को हम इस प्रकार देख सकते है जैसे— सर्वोच्च जीवन कर्म की प्राप्ति ईश्वरार्पण, परमतत्व का साक्षात्कार, लोकहित एव मुक्ति आदि । इस प्रकार उद्देश्य एव इच्छा कल्याणकारी एव कर्मप्रेरक होते है जब उनकी प्रकृति सात्विक होती है । अतएव यह उसका मर्यादित स्वरूप है और वे हानिकारक एव विनाशकारी होते है जब वे स्वार्थ पूर्ति हेतु प्रयुक्त होते है ।

गीता वैयक्तिक दावो का खण्डन करती है । क्योकि इस प्रकार की धारणा अपने विस्तृत चेतना को सीमित कर देती है, जबकि चाहिए कि उस निर्मल प्रकाश का प्रकाश सर्वभूत हित के निमित्त किया जाय । समाज मे जो श्रेष्ठ एवं प्रबुद्ध मनुष्य है अर्थात् जो केवल बुद्धिमान है, सदाचारी नही, ऐसे लोग गीता के अनुसार मिथ्याचारी होते है । अतएव यहॉ श्रेष्ठ व्यक्ति से तात्पर्य विद्वान् के साथ आचरण करने वाला भी है वही वास्तविक कर्मयोग है । ऐसे लोगो पर मानव जाति का गुरुतर भार है । पाप और अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने से हम बच नही सकते । दुविधा मे पड़े अर्जुन को भगवान कृष्ण ने युद्ध करने की प्रेरणा न तो यश प्राप्ति की आकांक्षा से और न राजा श्री की लालसा हेतु दी । बल्कि धर्म के विचारो को स्थापित करने एवं सतप्त मानवता के उद्धार करने के लिए दिया ।

अतएव इन सन्दर्भों में हमे वासनात्मक बुद्धि का निरसन कर व्यवसायात्मक बुद्धि की शरण आध्यात्मिक अवधारणाओ के परिवेश में लेना चाहिए । वासनात्मक बुद्धि से विवेक शक्ति क्षीण हो जाती है और तर्क शक्ति पर प्रतिबन्ध लग जाता है ।

इस प्रकार गीता हमें अनासक्ति के भाव को विकसित करने, कर्म फल के प्रति उपेक्षा का भाव रखने एवं योग की भावना को विकसित करने का आदेश देती है ।[७६] गीता का निष्काम कर्मयोग की यह प्रकृति मानवीय एवं सामाजिक समस्याओं को दूर करने का सामर्थ्य रखती है । यह आज भी उसी तरह जीवंत और तर्कसंगत रूप में हमारे जीवन मूल्यो

को परिभाषित करने मे योग्य है जैसे कि महाभारत काल मे थी। वास्तव मे गीता शाश्वत चेतना की अभिव्यक्ति का पर्याय है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्याओ का समाधान मिल जाता है। वह आचार दर्शन विश्व के नैतिक प्रत्युस्थापनाओ मे अपना अद्वितीय स्थान रखती है। इसका कारण इसमे अध्यात्म चिन्तन की बोधगम्यता एव सरलता के साथ व्यवहारिक आयामो मे व्यक्त होना है जो दार्शनिक तत्वमीमासीय के सूक्ष्म तर्क विवेचन एव दुरुह शैली से सर्वथा दूर है। यही कारण है अधिकांशतः भारतीय जनमानस इसे सहृदय पूर्वक ग्राह्य तो करता है परन्तु अभी तक इसके व्यवहारिक पहलू को नजरअदाज ही किया है। अतएव आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति को इसे आत्मसात् करने, गीता मे निष्काम कर्मयोग को अन्तर्मन मे जीवंत बनाने की, जिससे कि हम अपने छिपी शक्ति का एहसास कर अपने सर्वोच्च आदर्श को जीवन के कर्मक्षेत्र मे सहचर बना सके।

संदर्भ

१. परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परम भवान्।
पुरुष शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ – गीता, १०.१२

२ गीता, २ ६०-६

३ गीता, २ ६२-६३

४ एस० एन० दास गुप्त कृत भारतीय दर्शन का इतिहास जि०-१ पृ० १०३

५ तैत्ति०, १.११

६ वृहदारण्यक, ४.४ २७

७ एस० एन० दास गुप्त, जि० ४२

८. गीता, ५.१५

९ गीता, ५.१६

१०. गीता, १३-१२

११ गीता, २-११

१२. गीता, २.२०

१३ न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ – गीता ३.५

१४. गीता, ३.८

१५. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ८०६ ॥भरत सिंह उपाध्याय॥

१६. गीता शांकर भाष्य, ५.१४, १५

१७. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, जि० २, पृ० ८०७-८०८

१८ अंगुत्तर निकाय १११.९९

१९ गीता, ३ ३०

२० गीता, ५, ८, १०, ११

२१ गीता, १८.७५

२२ गीता, १८.१४, १५

२३ मानव की स्वाधीनता का इससे बड़ा दावा कभी किसी ने नही किया। सर एडविन आरनोल्ड, जे० आर० जयवर्धन के लेख बौद्ध धर्म और राजनीति विश्ववाणी ॥मई १९४२ बौद्ध संस्कृति॥ अक-१, पृ० ५२८ में

२४ गीता, २.१३, २२

२५ भारतीय दर्शन के मूल तत्व, पृ० १५१-५२

२६ बौद्ध दर्शन एवं गीता

२७ संयुक्त निकाय ३ २५१, २६१, २७१, ११

२८. Rhye Onvids - Buddhism, p p 180-181

२९ बहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

ज्योतिषामपि तज्जयोतिस्तमसः परमुच्यते।

ज्ञान ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्व विष्ठतम्॥ – श्रीमद्भगवद्गीता १३/१५, १६, १७

३०. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना-प्रकृतिरण्टधा॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥– गीता, ७/४, ५

३१. अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।

मरीचिर्महतामस्मि नक्षत्राणमहं शशी॥

दण्डोदमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।

मौनं चैवास्मि गुह्यानं ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥

मृत्यु· सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।

कीर्ति श्रीर्वाक्च नारीणा स्मृतिर्मेधा धृति· क्षमा॥ – गीता १०/२०, २१, ३८, ३४

३२ गीता, २/११-२५

३३ गीता, २/२६-३८

३४. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं योवन जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ – गीता, २/१३

३५ अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता. शरीरिण.।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ – वही, २/१८

३६ य एन वेत्ति हन्तार यश्चैनं मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो नाय हन्ति न हन्यते॥ – गीता, २/१९

३७ न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूय.।

अजो नित्य. शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ – गीता, २/२०

३८ वासासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही॥ – गीता, २/२२

३९ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत·॥ – गीता, २/२३

४० अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यःसर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ गीता, २/२४

४१. अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ – गीता, २/२५

४२. यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाश नोपलिप्यते।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ – गीता, १३/३२

४३ गीता, १४-१७

४४ भूमिरापोऽनलो वायु· ख मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ – गीता, ७/४, ७/५

अपरेय मितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

४५. अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृति स्वामधिष्ठाय सभवाम्यात्ममायया ॥ – गीता, ४/६

४६ गीता, १४/३-४

४७ प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुन पुन ।

भूतग्राममिम कृत्स्नमवश प्रकृतेर्वशात् ॥ – गीता, ९/८

४८ गीता, ७/५

४९ गीता, शाकरभाष्य, १५/७

५० गीता, १४/११

५१ गीता, ७/७

५२ गीता, ७/१९

५३ मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जित· ।

निर्वैर. सर्वभूतेषु य. स मामेति पाण्डव ॥ – गीता, ११/५५

५६ सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय· ।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ – गीता, १८/५६

५५ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज ।

अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच. ॥ – गीता, १८/६६

५६ विहाय कामान्य· सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृह· ।

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्ति मधिगच्छति ॥ – गीता, २/७१

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥– गीता, २/७२

नैव किंचितत्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्व पञ्श्वसन् ॥ – गीता, ५/८

५७. यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ – गीता १८/५

५८ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य परं मन· ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु स. ॥

एव बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ – गीता, ३/४२, ४३

५९. एम० हिरियन्ना : आउटलाइन्स, पृ० १२१

६० नहि देहभृता शक्य त्यक्तु कर्माण्यशेषत·।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ – गीता, १८/११

६१ काम्याना कर्मणां न्यास संन्यास कवयो विदु·।

सर्वकर्मफलत्याग प्राहुस्त्यागं विचक्षणा. ॥ – गीता, १८/२

६२ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ – गीता, २/४७

६३ पुरुष स पर· पार्थ भवत्या लभ्यस्त्वनन्यया।

यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिद ततम् ॥ – गीता, ८/२२

६४. समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रिय.।

ये भजन्ति तु मा भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ – गीता, ९/२९

६५. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परतप ॥ – गीता, ११/५४

६६ अनन्याश्चिचन्तयन्तो मा ये जना. पर्युपासते।

तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम् ॥ – गीता, ९/२२

६७. अभिधर्मकोश भाष्य, १/१२, पृ० ८

६८. वेदनानुभवः संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका। वही, पृ० १०

६९ संयुक्तनिकाय, १२/७

७०. मज्झिमनिकाय, १/४/५

७१. उदान, ८/३

७२. इतिवु० ४३

७३. संयुक्तनिकाय, १३/५

७४. अंगुत्तरनिकाय, १/१४९

७५ न तत्र सूर्या न चन्द्र तारक नेमा विद्युतो भान्ति, कुतो यमग्निः।

तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्व मिद विभाति ॥

७६ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वं कर्मणि ॥ – गीता २, ४७

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ – गीता ८, २७

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ – गीता ६,४६

एकादश् अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

भगवान् बुद्ध के उपदेशो का सकलन त्रिपिटक (सुप्त पिटक, विनय पिटक, अभिधम्म पिटक) मे हुआ है । समग्र त्रिपिटक (बुद्ध वचन) मे धम्मपद एक ऐसा ग्रन्थ है जो अकेला भी साधक को निर्वाण तक पहुँचाने की क्षमता रखता है । इसमे किसी अन्य शास्त्र के सहयोग की आवश्यकता नहीं है ।

एक पुस्तक को और केवल एक पुस्तक को जीवन भर साथी बनाने की यदि कभी आपकी इच्छा हुई है तो विश्व के पुस्तकालय मे आपको धम्मपद से बढ़कर दूसरी पुस्तक मिलना कठिन है ।

जिस प्रकार महाभारत मे भगवद्गीता एक छोटी किन्तु अमूल्य कृति है, उसी प्रकार त्रिपिटक मे धम्मपद एक छोटा किन्तु मूल्यवान रत्न है । काल की दृष्टि से भगवद्गीता की अपेक्षा धम्मपद प्राचीनतर है ।

भगवद्गीता की विशेषता है, कई दार्शनिक विचारो के समन्वय का प्रयत्न किया गया है । इसीलिए गीता के टीकाकारो में आपस में मतभेद है, लेकिन धम्मपदं एक ही मार्ग है, एक ही शिक्षा है । इस पथ के पथिक का आदर्श निश्चित है ।

यह बात शायद सार्थक है कि गीता की अपेक्षा प्राचीनतर होते हुए भी धम्मपद की केवल एक टीका-धम्मपद—अट्ठ कथा उपलब्ध है और भगवद्गीता की हैं जितने आचार्य उतनी भिन्न-२ टीकाएँ ।

भगवद्गीता की तरह धम्मपदं का बड़ा प्रचार है । प्राचीन काल में चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं मे इसके अनुवाद हुए हैं । वर्तमान काल में संसार की सभी सभ्य भाषाओ मे— अग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि मे— कई-कई अनुवाद हो चुके हैं । श्री अल्बर्ट जे० एडमन्ड अपने अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में लिखते है—

'यदि एशिया-खण्ड मे कभी किसी अविनाशी ग्रन्थ की रचना हुई, तो वह यही है ।'

'इन पदो ने अनेक विचारको के हृदय में चिन्तन की आग जलाई है । इन्ही से अनुप्रमाणित होकर अनेक चीनी यात्री मङ्गोलिया के भयानक कान्तार और हिमालय की अलघ्य चोटियाँ लाँघकर भगवान् बुद्ध के चरणों के पूत भारतभूमि के दर्शनाथ आए । इन्ही को महाराज अशोक ने— जिन्होंने प्राणदण्ड का निषेध किया, गुलामी की प्रथा को कम किया, मनुष्यो और जानवरो तक के लिए अस्पताल खोले-शिलालेखो पर अकित कराया । आज दो हजार वर्ष से रोम और ईसाइयत की संस्कृति का प्रचार होते रहने पर भी, यूरोप और अमरीका के सभी विद्या मन्दिरों मे कोफेन हेगन से कैम्ब्रिज

तक और शिकागो से सेट पीटर्स बर्ग (लेनिन ग्राड) तक— यह यूरोपियन और अमरीकन लोगो द्वारा श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं।'

बॅगला, मराठी, गुजराती आदि भारत की अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी मे भी इसके अनेक अनुवाद हो चुके है।

भगवान् कहते है कि जो पुरुष ऐसी सैकड़ो गाथाएँ (श्लोक) कहता रहे जिनमे आकाश जैसे निरर्थक पदो का वर्णन है, उनसे व्यक्ति या समाज का क्या भला होने वाला है। इसके विपरीत, यदि कोई अधिकारी सन्त एक ही धर्म बोधक गाथा का प्रवचन करे और जिसे सुनकर जिज्ञासु के सभी चित्त विकार नष्ट हो सकते हों तो उसका निश्चय ही भला हो सकता है। (धम्म पद १०२)

भगवान् बुद्ध के मुख से जो गाथाएँ प्रस्फुटित होती रही, उन्ही का उनके शिष्यो ने आगे चलकर यह सुन्दर सग्रह प्रस्तुत किया।

धम्म पद मे एक से एक अनूठे पद रत्नो की भाँति आदि से अन्त तक जगमग रहे है। चाहे जिस रत्न को उठा लीजिए, उसकी आभा से चित्त मुग्ध हो उठता है। अद्‌भुत और विशिष्ट है यह संकलन।

त्रिपिटक का, बौद्ध धर्म का सार सकलन धम्म पद में है। इतना ही मनुष्य ग्रहण कर ले तो बहुत है। भारतीय साधना पर वैदिक वाङ्मय की अमिट छाप है। वेद, उपनिषद् और गीता का तत्त्व ज्ञान शताब्दियो से भारत को प्रेरणा देता रहा है। भारत के कण-कण में आज भी साधना नाना रूपो मे यत्र-तत्र पुष्पित-पल्लवित दृष्टिगोचर हो रही है।

धम्मपद का सूक्ष्म और गहन अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इधर ज्ञानदेव कबीर और नानक आदि सन्तो की सिखावन, उधर उपनिषद् और गीता की सिखावन दोनो के बीच धम्मपद मुझे एक जोडने वाली कडी सी मालूम पड़ी और उस दृष्टि से मैने धम्मपद का अधिक सूक्ष्म अध्ययन किया और धम्मपद का एक व्यवस्थित क्रम मेरे मन में स्थिर हुआ।

आज भी धम्मपद की रचना कुछ प्रकीर्ण या सुभाषित संग्रह जैसी है और उसमे उसका समन्वित दर्शन छिप सा गया है।

धम्मपद का सार है— साधक का पाथेय, जिसका श्रीगणेश होता है, निर्वैरत से। निर्वैरता का अर्थ है वैर न करना। अवैर से वैर का शमन। निर्वैरी ही सुखी होता है। क्रोध को जीतने का मार्ग है— अक्रोध, क्षमा। अहिंसा ही आर्य का लक्षण है— आत्मौपप्यता ही उसका साधन है। किसी को डराना नही, किसी को मारना नही, किसी को सताना नही, किसी को दु:खी करना नही। यही है अहिंसा। यही है कर्मयोग की पहली सीढ़ी।

कर्मयोग की दूसरी सीढ़ी है शील। साधक को शीलवंत होना चाहिए; उसकी सर्वश्रेष्ठ गंध, उसकी खुशबू, दिग्‌दिगंत को सुरक्षित करती है। शीलवंत के सुख का कहना ही क्या? वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह, विगतेच्छ को दान देने मे ही धन की भी सार्थकता है, जीवन की भी। दानो में भी सर्वश्रेष्ठ दान है, धर्मदान। सत्य का पालन, मृदु वचनो

का उच्चारण और जैसा कहना वैसा करना ही तो शील की साधना है । सत्य के पुजारी की ही वाणी तो सफलता होती हैं ।

पातजल योग सूत्र के साधना पद-३६ मे कहा गया है कि 'सत्य प्रतिष्ठाया क्रियाफलाश्रयत्वम्' कर्मयोग की तीसरी सीढी है– सत्सगति ।'सत्सङ्गति' कथय किन्न करोति पुसाम्' सत्सगति पर भगवान् बुद्ध ने भी बहुत जोर दिया । उन्होने यहाँ तक कह दिया कि– अच्छा साथी न मिले तो अकेला ही विचरण करे । सत्पुरुषो का सहवास करे । उनका अभिवादन करे । उनकी पूजा करे । सज्जन तो दूर से ही हिम मडित पर्वत शिखरो की भाँति चमकते है. ।

कर्मयोग की चौथी सीढ़ी है कर्मविपाक । कर्मविपाक पर श्रद्धा भारत की दार्शनिक परम्परा की सुविकसित कडी है । भगवान् बुद्ध ने भी उसे स्वीकार किया । पुण्य का संचय और पाप का परिहार वाछनीय हैं । पुण्य से सद्गति की प्राप्ति होगी और पाप से रोना पडेगा । पुण्य मार्ग पर चलने से जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा हो सकेगा ।

कर्मयोग की पाँचवी सीढ़ी है नीति-सार को सार समझना और सार का असार, धर्म का आचरण करना, प्रमाद न करना, सतत जाग्रत रहना, सत्कर्मो का पालन करना, क्षमाशील रहना, पसीने की ईमानदारी की कमाई पर गुजर करना, शुद्धार्जीवी होना ही नीति का मार्ग हैं ।

मूढ सकल्प, निर्दोषो को दोष देना, हिसा, असत्य, चोरी, दुराचार मद्यपान, असयम और निषिद्ध कर्म वर्णनीय है । पेटूपन, आलस तथा निन्दय कर्म मनुष्य को जन्म-मरण के चक्कर मे डालते है । इन सबसे विरत होना वांछनीय है । कर्मयोग की छठी सीढ़ी है– अनिन्दा । निन्दा से मनुष्य को रस मिलता है । संसार मे ऐसा कौन है जिसकी निन्दा नही की जाती ? शील, समाधि और प्रज्ञा से सम्पन्न व्यक्ति ही सबकी प्रशंसा का पात्र बनता है । मनुष्य निन्दा को सहे और परायी निन्दा न करे तभी वह साधना के मार्ग पर प्रगति कर सकता है, अन्यथा नही । कर्मयोग से मनुष्य का वाह्य जीवन, उसका लौकिक आचरण शुद्ध और निर्मल बनता है ।

धम्मपद में विनोबा ने साधना का मार्ग प्रदर्शित किया है । अलकृत रहने पर भी जो शम का आचरण करता है, जो शान्त है, दान्त है, नियत है, ब्रह्मचारी है और जिसने प्राणिमात्र के प्रति दण्ड का परित्याग कर दिया है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है और वही भिक्षु है ।

भगवान् बुद्ध कहते हैं कि मानव इस प्रकार की साधना द्वारा जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति करे । सयम, सदाचार और अहिसा ही उनकी सर्वश्रेष्ठ कसौटी है । उस पर जो खरा उतरता है, उसी का जीवन सार्थक है ।

वैदिक विचारधारा से भगवान् बुद्ध ने अहिसा, सत्य, अस्तेय, सदाचार, संयम, त्याग, वैराग्य, कर्म विपाक आदि की अनमोल शिक्षा ग्रहण कर उसे शील समाधि और प्रज्ञा की धारा में प्रवाहित किया ।

मन, वचन, कर्म से अहिंसा का पालन और सदाचारमय जीवन द्वारा निर्वाण के पथ की ओर अग्रसर होने पर उन्होंने जोर दिया ।

करुणा के अवतार भगवान् बुद्ध को यज्ञों का कर्मकाण्ड, पशुवध, त्याग और तपस्या के बाहरी आडम्बर ठीक

नही लगे । ऊँच-नीच, जाति-पाँति के भेद उन्हे व्यर्थ जान पडे । दु ख पीडित मानव समाज को दु:ख के दुष्टचक्र मे मुक्त करने के लिए उन्होंने मध्यम मार्ग का आश्रय लिया।

बौद्ध धर्म की आधारशिला है मध्यम मार्ग । इसका अर्थ है जीवन के किसी भी व्यवहार मे अति से बचना । न त्याग तपस्या मे ही अति करना और न भोग विलास मे ही । वीणा के तारो को इतना न कसो कि तार ही टूट जाय और न इतना ढीला रखो कि स्वर ही न निकले ।

स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध मे बौद्धो ने निषेधक शब्द पसद किया है । मनुष्य का मोह उसकी देह के साथ ही नष्ट हो जाय । वह शून्य हो जाय, इसलिए बौद्धो ने अकेला 'निर्वाण' शब्द ही लिया है किन्तु वैदिको ने 'ब्रह्म निर्वाण' इस विधायक शब्द को पसद किया ।

मोक्ष को भाव रूप कहने पर भी उसमे कुछ नवीन जोडना है, यह आशय वैदिको का भी नही है । इसके विपरीत बौद्ध भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना चाहते है, ऐसा ख्याल करना भी मेरी समझ मे उनके आशय को गलत समझना है ।

ब्रह्म निर्वाण शब्द केवल विधायक ही नही बल्कि निषेधक अर्थ को गर्भ मे लिए हुए विधायक है । गीता ब्रह्म निर्वाण कहने पर—

'मै चला गया, ब्रह्म बाकी बचा ।'

गीता की भाषा मे एक ब्रह्म, च शून्य च य: पश्यति स पश्यति । जो ब्रह्म और ब्रह्म निर्वाण शब्द के द्वारा सारा वाद ही मिटा दिया है ।

भगवान् बुद्ध का मध्यम मार्ग और भगवान् महावीर की मध्यम दृष्टि भारतीय धार्मिक विचारधारा की अनमोल कड़ियाँ है । बौद्ध धर्म तो केवल भारत में ही नही फैला, उसने बर्मा, सुदूरपूर्व चीन, जापान, सिंहल तथा विश्व के अन्य अचलो मे भी अपना विकास किया, परन्तु जैन धर्म विधि निषेधो से जकड़ा होने के कारण भारत के बाहर न जा सका । परन्तु दोनों धर्मों की सुरभि तो दो ढाई हजार वर्ष बाद भी उसी प्रकार दिग्दिगन्त को व्याप्त कर रही है ।

बुद्ध भगवान् की विचारधारा ज्ञानदेव, नामदेव, कबीर, नानक आदि मध्यकालीन साधु सतो पर भी अपनी कम छाप नही डाली । यह बात दूसरी है कि इन संतो की अपनी-अपनी परम्परा है, परन्तु तीन-चार बातो मे उन पर बौद्ध विचारो का कुछ न कुछ प्रभाव है ही ।

जैसे—

१. धार्मिक रूढ़ियों, आडम्बरो आदि का विरोध ।

२. जीवन और जगत् की नश्वरता,

३. सदाचारमय संयमपूर्ण जीवन पर जोर,

४. तृष्णा के उन्मूलन पर जोर ।

भगवान् बुद्ध ने कहा है—

न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणे ।

यम्हि सच्च च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥

न जन्म के कारण, न गोत्र के कारण, न जटा धारण के कारण ही कोई ब्राह्मण होता है । जिसमे सत्य है, जिसमे धर्म है, वही पवित्र है और वही ब्राह्मण है । सत्य और धर्म का पालन करने वाला ब्राह्मण है । ब्राह्मण न जन्म से होता है, न गोत्र से होता है, न जटा से । जो भी व्यक्ति संयम और सदाचार का पालन करता है, वह ब्राह्मण है, पूज्य है, वरेण्य है ।

कबीर कहते है कि—

न्हाये धोये क्या भया, जो मन का मैल न जाय ।

मीन सदा जल मे रहे, धोये बास न जाय ॥

वैष्णव भया तो क्या भया, बूझा नही विवेक ।

छप्पा-तिलक बनाय कर दग्ध्या लोक अनेक ॥

मध्यकालीन सन्तों पर भी बुद्ध की उक्त बातो का बहुत प्रभाव पड़ा । वे चाहे कबीर हो या नानक, चाहे जायसी हो या पलटू साहब । स्पष्ट है— धम्मपद इधर ज्ञानदेव, कबीर, नानक आदि सन्तो की सिखावन उधर उपनिषद् और गीता की सिखावन को जोड़ने वाली कड़ी है । जिस नैतिक और पवित्र आचरण पर भगवान् बुद्ध ने जोर दिया, अति की चरम सीमाओ से बचकर मध्यम मार्ग का जो प्रशस्त पथ आलोकित किया, तृष्णा का उन्मूलन कर क्षमा, प्रेम, करुणा जैसे पावन गुणों को जिस प्रकार जीवन का पाथेय बनाकर आगे बढ़ने का उपदेश दिया, उसमे मानव का परम कल्याण निहित है ।

धम्मपद केवल बौद्ध धर्म का ही नही, अपितु भारतीय एव विश्व सस्कृति की एक अनुपम धरोहर है । भगवान् बुद्ध द्वारा उपदेशित यह ग्रन्थ मूलतः पालि भाषा मे ही संकलित किया गया था । बाद मे विभिन्न भाषाओ मे भी इसके अनुवाद होते रहे ।

बौद्ध धर्म भारतीय गौरव का जाज्वल्यमान रत्न है तथागत के उपदेशो ने भारत को नई दिशा और दृष्टि दी । तर्क की कसौटी पर रखकर ही प्रत्येक दर्शन और विचार को मानने के लिए उपदेश दिया, आनन्द के अन्तिम शब्द थे— आत्म दीपो भव । बहुजन हिताय बहुजन सुखाय । तथागत की करुणा समस्त एशिया का आलोक बनी । सहस्रो सूत्र रचे गये और सब बुद्ध भाषित थे, अर्थात् भगवान् बुद्ध की चिन्तनधारा से प्रवाहित थे ।

प्राचीनतम बौद्ध साहित्य पालि भाषा मे सुरक्षित है इसमें भिक्षु संघ के लिए विनय है । भगवान् शाक्यमुनि के उपदेश सुत्त पिटक के पॉच निकायों में सुरक्षित है । दीघ, मज्झिम संयुत, अंगुत्तर और खुद्दक पॉच निकाय है । धम्मपद

पाँचवे निकाय का अन्यतम भाग है। इसमे जीवन उन्नयन के मर्मस्पर्शी ४२३ श्लोको का सग्रह है। ये लोक परम्परा मे प्रवाहमान धर्म मूल्यो के अवतसक है। इसके कई पद जैन ग्रन्थों अथवा महाभारत में मिलते है। धम्मपद लोक जीवन की अनमोल निधि है। जिसमे बौद्ध धर्म का व्यापक प्रसार प्रचार हुआ।

धम्मपद बौद्ध धर्म की गीता है वह ससार का कदाचित् सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है जिसमें बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त तो वर्णित है ही शाश्वत सत्य और नैतिक मूल्यो की सुन्दरतम व्याख्या भी सकलित है। भाव एव भाषा की दृष्टि से भी यह एक महानतम ग्रन्थ है तथागत बुद्ध के प्रमुख उपदेशो का यह सर्वमान्य सग्रह है।

धम्मपद पालि साहित्य का एक अमूल्य ग्रन्थ रत्न है। बौद्ध ससार मे इसका उसी प्रकार प्रचार है, जिस प्रकार कि हिन्दू ससार में यद्यपि गीता का यह एक ही कथानक है और श्रोता भी एक ही है। किन्तु धम्मपद के विभिन्न कथानक और विभिन्न श्रोता है। गीता का उपदेश अल्पकाल मे ही समाप्त किया गया था किन्तु धम्मपद तथागत के पैंतालिस वर्षों के उपदेश से संग्रहित है।

धम्मपद की गाथाओं को भगवान् बुद्धत्व प्राप्ति के समय से लेकर परिनिर्वाण पर्यन्त समय-समय पर उपदेश देते हुए कहा था। धम्मपद एक ऐसा ग्रन्थ है जिसकी प्रत्येक गाथा मे बुद्ध धर्म का सार भरा हुआ है। जिन गाथाओ को सुनकर आज तक विश्व के अनगिनत दु:ख सन्तप्त प्राणियो का उद्धार हुआ है। इन गाथाओ में शील, समाधि, प्रज्ञा, निर्वाण आदि का बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन हुआ है जिन्हें पढ़ते हुए एक अद्‌भुत संवेग, धर्मरस, शान्ति, ज्ञान और संसार निर्वेद का अनुभव होता है।

धम्मपद सभी बौद्ध निकायो के लिए समान मान्यता प्राप्त एक मूलभूत एव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसका निर्विवाद रूप से समस्त बौद्ध अनुयायी अध्ययन-अध्यापन करते है।

धम्मपद विश्व की सर्वश्रेष्ठ प्रज्ञा ग्रन्थो मे से एक है। गीता की तरह धम्मपद जीवन साथी श्रेणी की पुस्तक है। हर अवस्था में, विभिन्न परिस्थितियो मे इसकी शरण मे जा सकते हैं। इसकी गाथाएँ सुमधुर शान्ति प्रदान करती हैं।

सान्त्वना सुलभ करने की बजाय इसमे कठोर सदाचार और उद्योग की देशना भी है। 'अक्खतारा तथागता' तथागत तो बतला या दिखला ही सकते हैं— प्रयास तुम्हे करना है। उपदिष्ट धर्म निर्मम है परन्तु बुद्ध शासन मे चित्त प्रसन्नता प्राप्त है। धम्मपद का मोह हर पीढ़ी अपने ढग से अनुभव करती है।

गीता मे सामान्यत: विभिन्न सन्दर्भों एवं परिस्थितियो में तीन प्रमुख मार्गों का विवेचन किया गया है। परन्तु कही-कही इन्हें समन्वयात्मक अथवा परस्पर पूरकता के रूप में भी अभिव्यक्त किया गया है। इस कारण सुधी पाठक जनो एवं विचारको की दृष्टि मे गीता विभिन्न रूपो मे दिखाई देती है। फिर भी यदि सूक्ष्म एवं गहन दृष्टि से समस्त अध्यायो का अवलोकन किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि गीता समस्त विधाओं में ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के द्वारा मनुष्य के आन्तरिक शक्तियो

का परिमार्जन एवं सवर्धन करना चाहती है । यद्यपि कि इस तरह की उद्घोषणाओं को, सामान्य जन द्वारा अध्यात्म के रूप में मानकर प्राय. व्यवहार में असमर्थता व्यक्त की जाती है और व्यवहार एव अध्यात्म को अलग-अलग कर देखा जाता है । जिसके फलस्वरूप हम गीता जैसे— समन्वयपरक जीवन प्रणाली के विचार से वचित हो जाते है ।

आतरिक शक्तियो के उत्थान के बिना हम उत्कर्ष एव सुखमय जीवन की कल्पना नहीं कर सकते । गीता इन्ही आन्तरिक शक्तियो के उत्थान के द्वारा जीवन निर्वाह की शिक्षा देती है । गीता के समग्र अवलोकन एव विश्लेषण से जो तात्पर्य स्पष्ट होता है 'वह है ज्ञान' भक्ति युक्त कर्मयोग । अर्थात् यह पथ हमारे जीवन प्रणाली को सर्वाग दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है, जिसमे बुद्धि, हृदय एव शरीर का समवेत रूप स्वीकार किया गया है । यद्यपि कि अन्य मार्गो का प्रतिपादन किया गया है जैसे— भक्ति योग, ज्ञान योग । यूँ तो ये वैचारिक क्षितिज की परिधि में भिन्न-भिन्न प्रणाली एव स्वरूप मे दिखाई देते हैं परन्तु ज्यों-ज्यों हम केन्द्र की तरफ बढते जाते है, वैसे-वैसे इनकी भिन्नता समाप्त हो जाती है । भक्ति का प्रारम्भ एक अतृप्त प्यास से होती है उस इष्ट वस्तु से मिलन के जिसमे अपार श्रद्धा का भाव उमड चुका है । वह अपने को भूल जाता है उसके दीवानगी मे उसकी सान्निध्यता मे, जहाँ तर्क का स्थान शून्य हो जाता है । मीराबाई अगर आज होती तो लोग उसे असन्तुलित समझते, क्योकि बाहर से उसमे कोई विधान नियम अथवा बौद्धिकता नही दिखाई देती परन्तु अन्दर से वह ईश्वर के करुणा सागर मे आनन्द रूपी रसपान में मस्त रहती है । इसी प्रकार ज्ञान योग का अनुसरण करने वाला योगी यम नियम एव अन्य पहलुओ से अपने बुद्धि को प्रखर बनाते हुए चिन्तन-मनन के द्वारा अपने पथ पर अग्रसर हो जाता है और अन्ततः एक बिन्दु पर वह भी तर्क विहीन हो जाता है विश्लेषण रुक जाता है । मात्र अन्तः अनुभूति के दिव्यानन्द स्वरूप के अतिरिक्त सब कुछ विलीन हो जाता है । यह व्यक्ति भी हमारे सामान्य व्यवहारिक दृष्टिकोण से विचित्र दिखाई देगा । इस प्रकार दोनो मार्गों की परिणति एक बिन्दु पर होती है । इसलिए रामानुज कहते हैं कि पराज्ञान और पराभक्ति दोनों एक ही है ।

परन्तु तीसरा मार्ग जो गीता द्वारा प्रतिपादित अपूर्ण सिद्धान्त है 'ज्ञान भक्तियुक्त—कर्मयोग' का सम्पादन इसका भी अन्तिम इष्ट सिद्धि वही है जो उपर्युक्त अन्य दो मार्गो की है, परन्तु यह मार्ग उनसे कई मायने मे सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होता है क्योंकि परम मुक्ति के अतिरिक्त इस मार्ग के अनुसरण से, हमारे व्यावहारिक जीवन के विभिन्न समस्याओ का हल ढूढ़ने मे मदद मिलता है जिसके द्वारा समाज मे जनमानस लोगो का पोषण तो होता ही है पारिवारिक धर्म, सामाजिक धर्म आदि विधाओ का परिमार्जन एव सवर्धन होता है ।

विभिन्न भाष्यकारो में विशेषकर आचार्य शकर एवं आचार्य रामानुज द्वारा प्रतिपादित भाष्य मे जो गीताके सम्पूर्ण भावार्थ का तात्पर्य स्पष्ट किया गया है वह एकांगी एवं आग्रहयुक्त प्रतीत होता है । गीता मे ज्ञान योग और भक्ति योग मार्ग की विवेचना भी की गयी परन्तु इसे ही समस्त ग्रन्थ का केन्द्रीय विचार कहा जाय तो उचित नही लगता । अगर गीता के उपदेश का तात्पर्य स्पष्ट करना हो तो निष्पक्ष रूप से 'ज्ञान भक्ति युक्त कर्मयोग की शिक्षा का उल्लेख किया जा सकता है । मैं समझता हूँ कि सुधीजनों के लिए भी यह स्वीकार्य होगा । यह अवधारणा एकांगी इसलिए नही कही

जा सकती, क्योकि इसके द्वारा विभिन्न देश-काल परिस्थिति एव विभिन्न स्वभाव वाले मानव समाज के वैविध्य समस्याओं का निराकरण सम्भव है और अगर सामान्य जीवन मे देखा जाय तो ये तीनो विधायें, न्यूनाधिक रूप मे मानव जीवन को आपादित एव निर्देशित करती है।

कर्म के बिना मात्र मनुष्य ही नही, अन्य सभी प्राणियों का जीवन दुर्लभ है। परन्तु मानवीय कर्म की यह योजना बिना ज्ञान के सम्भव नही है। इस प्रकार ज्ञान नेत्र की भाँति व्यक्ति को अच्छे-बुरे का ज्ञान कराता रहता है। जिसके फलस्वरूप वह अपने जीवन रूपी पथ की यात्रा सम्पन्न करता है और भक्ति मार्ग से तात्पर्य है जीवन मे श्रद्धा एवं भावना का सम्पुट, जिसके द्वारा हमारा जीवन सरस एवं सुन्दर होता है। भावहीनता की स्थिति मे हमारा तर्क ज्ञान शुष्क एव दिशा विहीन हो सकता है। अतएव जीवन के विकास के लिए यह आवश्यक है कि आन्तरिक शक्तियो को स्व केन्द्र मे स्थापित किया जाय। इसके द्वारा वही गीता द्वारा प्रतिपादित दिव्य जीवन को अपने व्यवहार मे साकार किया जा सकता है।

यद्यपि गीता पूर्व साहित्यो मे भी कर्म मार्ग के महत्वो को स्वीकार किया गया है। जैसे कि मीमांसको के कथनानुसार 'केवल श्रोत--स्मार्त कर्मों को सदैव करते रहना चाहिए, परन्तु ज्ञान रहित केवल तान्त्रिक क्रिया से ज्ञानी पुरुष सन्तुष्ट नही हो सकता तथा इसके अतिरिक्त इन कर्मो के सम्पादन से जीवन तथा समाज की समस्याओ की गुत्थी को भी नही सुलझाया जा सकता, फिर ऐसे कर्म सम्पादन का महत्व, मनुष्य के जीवन मे क्या रह जाता है। इसी प्रकार उपनिषद् प्रतिपादित विचारधारा निवृत्तोमुखी होने के कारण लोकसग्रह मे बाधा है तथा दूसरे प्रकार से सामान्य जन के लिए कष्ट साध्य भी है। इसलिए भगवान ने ऐसे ज्ञानयुक्त भक्ति प्रधान निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन गीता मे किया है जिसका पालन जीवन मे आमरण किया जाय। गीता के समस्त प्रतिपादन मे कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, का उपदेश कारण सहित स्पष्ट किया गया है। इसी कारण गीता का आचार दर्शन नैतिक नियमो का संकलन मात्र न होकर इन नियमों का कारण सहित एक विशद् विश्लेषण भी है। अतएव इस आधार पर गीता को व्यवहार शास्त्र की सज्ञा दी जा सकती है। फिर भी इस सज्ञानात्मक सम्बोधन को प्रचलित अन्य व्यवहारिक शास्त्रों के समतुल्य समझना भारी भूल होगी, क्योकि यह शास्त्र हमारे जीवन सम्बन्धी, सभी समस्याओ का समाधान आध्यात्मिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे करती है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है ? क्या धर्म-अधर्म, अच्छा-बुरा का निर्णय मानवीय मस्तिष्क से सम्भव नही है ? जब मानवीय बुद्धि प्रकृति के अनुकूल एवं प्रतिकूल वैज्ञानिक चमत्कारो का सृजन कर सकती है तो क्यों यह व्यवहारिक समस्याओ के समाधान मे सामर्थ्य (समर्थ) नही हो सकती ? इन्ही प्रश्नो के समाधान मे हमे आध्यात्मिक तत्वो की शरण लेनी पड़ती है। कारण स्पष्ट है सभी व्यक्तियो की बुद्धि एक समान नही होती एव इसके अतिरिक्त बुद्धि सदैव निरपेक्ष एवं स्वतत्र निर्णय नही ले पाती, क्योकि इसके साथ 'मनस' तत्व की भूमिका भी महत्वपूर्ण हो जाती है। मन की स्थिरता एवं चंचलता के आधार पर बुद्धि की प्रकृति निर्मित होती है। यथा सात्त्विक बुद्धि राजसिक बुद्धि, तामसिक बुद्धि। मन तत्व अमूर्त एवं अदृश्य है बुद्धि एवं हृदय की तरह शरीर के अन्दर इसकी उपस्थिति कही दिखाई नही देती। यह विभिन्न प्रकार के सहायक घटकों जैसे जैवकीय तत्व (जीन) वाह्य पर्यावरण एव पूर्ण कर्मादि जनित संस्कार इस सूक्ष्म तत्त्व का निर्धारण करते हैं। यही कारण है कि एक विशेष घटना के दृश्यमान होने

पर उपाश्रित विभिन्न व्यक्तियो मे असमान प्रतिक्रिया, अनुभूति एव अभिव्यक्ति दिखाई देती है। ऐसी स्थिति मे जब भी किसी विचारक अथवा समिति द्वारा नीति-निर्धारण के बारे मे चिन्तन किया जाता है तो वह कभी भी किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर नही पहुँच पाते। यद्यपि विशेष देश-काल के लिए वह स्थायी तौर पर स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी वह स्थायी एव सार्वभौमिक निदान देने में सदैव असमर्थ रहे है।

अतएव गीता मे, इस प्रकृति जन्य अथवा स्वभावानुसार मानवीय चरित्र एव आचरण का विश्लेषण किया गया है परन्तु इसे तर्क सगत एव लोकहित परक बनाने के हेतु अत: करण के शुद्धीकरण पर विशेष बल दिया गया है। प्रथम फलाकाक्षा रहित होना और दूसरा अहकार की प्रवृत्ति का निरसन। इस प्रकार यह सापेक्षिक दृष्टिकोण होते हुए भी सम्पूर्ण, मानवीय व्यवस्था को अपने उद्देश्य एव विचारधारा मे समाहित कर लेता है। परन्तु गीता मे जिस उच्चतम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है उसमे 'आत्मतत्त्व' ईश्वर एवं प्रकृति तीन तत्त्वो का यथोचित ज्ञान होना आवश्यक है। आध्यात्मिक ज्ञान एव विचारणा का मूल केन्द्र आत्मा है। यही कारण है कि गीता मे श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध मे प्रेरित करने के लिए सर्वप्रथम साख्य (ज्ञान योग) का उपदेश किया है जिसका प्रमुख विषय आत्म तत्त्व है। इस आत्म तत्व की अनुभूति एव ज्ञान के उपरान्त ही व्यक्ति प्रकृति प्रेरित कर्मो से छुटकारा पा सकता है। इस ज्ञान के फलस्वरूप वह दिव्य चेतना की प्रेरणा से कर्मो का संपादन करता है। इसीलिए यह कर्म बन्धनकारी नही माने जाते। इसमे समस्त अत:करण की गतिविधियाँ, इस केन्द्र द्वारा सचालित होने के कारण एक योग का स्वरूप धारण कर लेती है। इसमे मन, बुद्धि, हृदय का समकेत रूप से अभिव्यक्ति होती है और इस प्रकार गीता मे आचारमीमासा मे निहित सर्वोत्कृष्ट विचारधारा है जो स्वय मे अनूठा एव अद्वितीय विधि है जिसे 'कर्म योग' के नाम से गीता मे अभिहित किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि कर्मयोग का नैतिक एव मनोवैज्ञानिक आधार आध्यात्मिक भावना से युक्त है जो आध्यात्म का व्यवहार के साथ सुन्दर समायोजन है। वास्तव में अगर सूक्ष्मतालोकन किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि तार्किक अभिव्यक्ति की अवधारणा पर अवलम्बित वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्वय को एक बिन्दु पर अपने को सीमित ही पाता है। दूसरे अगर मनुष्य के अन्दर से आध्यात्मिक प्रवृत्ति का निरसन कर दिया जाय तो फिर वैज्ञानिक आविष्कार मानव के लिए अभिशप्त हो जायेंगे, क्योंकि मनुष्य अपने बुद्धि को 'स्वामी' मानने के कारण वह अधिनायकवादी विचारों से युक्त हो सकता है। उसमें मानव कल्याण की भावना कम होगी। अपेक्षाकृत स्वामी बनने के तो आज के समय मे आध्यात्मिक चिन्तन की महती आवश्यकता है भले ही हम वैज्ञानिक युग मे जी रहे हों। क्योकि आज मनुष्य के वैयक्तिक जीवन मे सर्वाधिक बेचैनी, अशान्ति, असुरक्षा आदि प्रतिकूलताएँ विद्यमान है। केवल बौद्धिक अथवा तार्किक आधार पर ही हमारे व्यवहारिक समस्याओ का निदान नही ढूँढा जा सकता, इसके लिए हमें भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर (आध्यात्मिक चिन्तन) का सहारा लेना ही पड़ेगा। इस आत्मानुभूति को अपने जीवन के हर क्षण के साथ जोड़ना होगा तभी हम व्यक्तिगत एव सामाजिक दोनो स्तर पर 'सुन्दर जीवन' की अभिव्यक्ति को साकार कर सकते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य नीति शास्त्री नैतिक निर्णय की सिद्धि हेतु विशुद्ध तर्कणा अथवा भौतिकवादी दृष्टि तक ही सीमित रहे हैं, यद्यपि कुछ विचारक अन्त:करण एवं सात्त्विक प्रवृत्तियों को मूल्य मीमांसा हेतु या व्यवहारिक समस्याओं के निदान में आधार माना है। यथा— काण्ट, स्पेन्सर, मिल एव कुछ अन्यादि। जबकि गीता मनुष्य को प्रकृति

की नियतृत्व शक्ति से ऊपर उठाना चाहती है। वह सत्व गुण की स्तर तक ही सीमित नही है बल्कि वह तो त्रिगुण मे भी ऊपर उठाना चाहती है जिसका अधिष्टान 'आत्मभूत चेतना' है। इस स्तर पर व्यक्ति कर्म की बन्धन प्रकृति से मुक्त हो जाता है अपने पराये का भेद मिट जाता है। मै, मम् की अहकारिक प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। सकारात्मक दृष्टिकोण से वह स्थित प्रज्ञ हो जाता है। सुख-दुख के परिणाम के प्रति सवेगात्मक अनुभूति समाप्त हो जाती है। उसका एकमात्र उद्देश्य ईश्वरीय प्रेरणा मे निष्काम भाव से लोकहित के लिए कर्मो का सम्पादन करना होता है। इस प्रकार वह अन्तरात्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेता है जहाँ उस समस्त व्यवहारिक समस्याओं का निदान मिल जाता है। गीता कहती है कि 'वह मुक्त रूप से अपनी सत्ता के ईश्वर रूप द्वारा अपने भूत काल के कर्म का आश्रय बन सकता है।'

यद्यपि शब्दो अथवा तार्किक युक्तियो के माध्यम से आध्यात्म के बारे मे अधिक कुछ नही कहा जा सकता, फिर भी जीवन और जगत् को समझने मे अध्यात्मवादी अवधारणा का महत्व चिरस्थायी है। गीता मे भी ईश्वरीय शक्ति को अधिष्ठान स्वरूप स्वीकार कर, चराचर जगत की व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। अध्यात्म ज्ञान से तात्पर्य है 'आत्म-अनात्म का सूक्ष्म विचार'। इसके द्वारा ही कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ के नीति धर्म की गुत्थी को हम सुलझा सकते है। यही कारण है कि भारत मे, धर्म नीति दर्शन आदि वर्तमान के विभिन्न विषयो की विवेचना अलग-अलग न कर एक ही विषय के अन्तर्गत होता रहा है। अर्थात् जीवन की समस्याओ का समाधान अधिभौतिकवादी दृष्टि से असम्भव है। हमारे दृश्य सृष्टि के व्यवहारो का संपादन किस तरह हो ? इसका समाधान वर्तमान समय मे अधिभौतिकवादी दृष्टि से ही ढूढा जाता है जिसका परिणाम हमारे समक्ष है। वह विकसित देश हो या विकासशील मानव जीवन से सम्बन्धित व्यवहारिक समस्याएँ घटने के बजाय बढ़ रही है। हमारे जीवन से, समाज के सभी वर्ग के मूल्यो का क्षरण हो रहा है जिसके फलस्वरूप वैयक्तिक समस्या, पारिवारिक समस्या सामाजिक एव राजनीतिक आदि समस्याओ की बाढ सी आ गयी है।

ऐसी स्थिति मे उस गीता प्रतिपादित आचार-मीमांसा का अनुसरण आवश्यक हो जाता है जिसमे आध्यात्मिक आधार पर नीति धर्म की विवेचना की गयी है, जो मनुष्य को बाहर से निर्देशित नही करती, बल्कि वह तो मनुष्य को, उसकी आन्तरिक चेतना को जागृत कर उसे दिव्य जीवन की ओर प्रेरित करती है, जिसमे व्यक्ति कर्म करते हुए, दबाव या तनाव नही अपार आनन्द की अनुभूति करता है।

(सहायक ग्रन्थ-सूची)

सहायक ग्रन्थ-सूची

१.	गीता रहस्य	-	तिलक बाल गगाधर पूना १९२५
२.	भगवद् गीता	-	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (स०) लेखमाला १९३३
३.	भगवद् गीता (हिन्दी अनुवाद)	-	डॉ० राधाकृष्णन, प्रथम सस्करण, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १९६२
४.	लेक्चर्स ऑन गीता (हिन्दी अनुवाद)	-	अरविन्द
५.	अनासक्ति योग	-	महात्मा गॉधी
६.	गीता प्रवचन	-	विनोबा भावे
७	श्रीमद् भगवद्गीता (प्रथम खण्ड)	-	श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल प्रकाशक- हिन्दी प्रकाशन समिति, भागलपुर
८.	श्रीमद् भगवद्गीता (द्वितीय खण्ड)	-	श्री भूपेन्द्र नाथ सान्याल प्रकाशक - हिन्दी प्रकाशन समिति, भागलपुर
९.	गीता रहस्य	-	लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, माधव राज प्रेस, पूना, १९६९
१०.	भगवद्गीता लेखमाला (प्रथम)	-	दामोदर सातवेलकर
११.	भगवद्गीता लेखमाला (द्वितीय)	-	दामोदर सातवेलकर
१२.	भगवद्गीता लेखमाला (तृतीय)	-	दामोदर सातवेलकर
१३.	भगवद्गीता लेखमाला (चतुर्थ)	-	दामोदर सातवेलकर
१४.	भगवद्गीता लेखमाला (पंचम)	-	दामोदर सातवेलकर
१५.	भगवद्गीता लेखमाला (षष्ठी)	-	दामोदर सातवेलकर
१६.	भगवद्गीता लेखमाला (सप्तम)	-	दामोदर सातवेलकर
१७.	भगवद्गीता	-	रामदुलार सिंह

१८	कर्मयोगशास्त्र	-	बाल गगाधर तिलक
१९	भगवद्गीता मे स्थित प्रज्ञ का आदर्श	-	आर० पी० मित्र
२०	भगवद्गीता की भाषा	-	हरिवल्लभ
२१.	भगवद्गीता दर्पण	-	वासुदेव प्रसाद श्रीवास्तव
२२	भगवद्गीता के कुछ जानने योग्य विषय	-	जय दयाल गोयनका
२३	भगवद्गीता की समालोचना	-	सोऽह स्वामी
२४.	भगवद्गीता की बुद्धिवादी समीक्षा	-	आनन्द कौसल्यायन
२५.	महाभारत का उपसहार	-	भारताचार्य श्रीयुत् चिन्तामण राव जी वैद्य
२६.	मनुस्मृति - प० हर गोविन्द शास्त्री, चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस	-	वाराणसी, १९६५
२७.	महाभारत	-	भण्डारकर, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, १९६७
२८	गीता	-	गीता प्रेस, गोरखपुर
२९.	Essays on Gita & Life Divine	-	Aurbindo, Pandicherry (Sri Aurbindo Ashram)
३०.	Upnisada, Gita &Bible	-	Parriender Geoffney Faver & Faver 24 (Russell Square,
३१.	गीता ॥शांङ्कर भाष्य॥	-	गीता प्रेस, गोरखपुर सं० २०१८
३२.	गीता ॥रामानुज भाष्य॥	-	गीता प्रेस, गोरखपुर २००८
३३.	गीता ॥प्रथम खण्ड॥	-	प्रणवानन्द, प्रथम संस्करण, काशी प्रणवाश्रम
३४	गीता ॥द्वितीय खण्ड॥	-	प्रणवानन्द, प्रथम संस्करण काशी प्रणवाश्रम
३५.	गीता	-	अपूर्वानन्द प्रथम सस्करण, श्री हेरम्बवनन्द भट्टाचार्य सेक्रेटरी रामकृष्ण शिवानन्द, आश्रम, २४ परगना।
३६.	गीता प्रवचन	-	विनोबा भावे, अठाइसवॉ संस्करण, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी १९७४

३७. गीता - अनन्ता नन्दसरस्वती, बाबू रघुवंश सिह, गाँव पचरूखिया, पो० नगवागढ, गया, प्रथम संस्करण स० २०३०

३८ गीता - सत्यव्रत सिद्धालकार, आनन्द पेपर बैक्स, ३६ सी कनाट प्लेस, नई दिल्ली, १९७७

३९ गीता - मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, अठाइसवाँ सस्करण, स० - २०३०

४०. गीता - जयत पाल गोयन्दका, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, एकादश सस्करण, सं० २०३०

४१. गीता माता ॥प्रथम भाग। - महात्मा गाँधी, मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली द्वितीय सस्करण १९६०

४२. गीता माता ॥द्वितीय भाग॥ - महात्मा गाँधी, मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली द्वितीय संस्करण १९६०

४३. गीता प्रबन्ध ॥प्रथम भाग॥ - श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, तृतीय सस्करण १९५४

४४. गीता प्रबन्ध ॥द्वितीय भाग॥ (प्रथम खण्ड) - श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी प्रथम सस्करण, १९५५

४५. गीता प्रबन्ध ॥द्वितीय भाग॥ (द्वितीय खण्ड) - श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, प्रथम सस्करण १९५९

४६. भक्ति योग - विवेकानन्द, रामकृष्ण आश्रम, नागपुर १९८०

४७ ज्ञान योग - विवेकानन्द रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, १९७५

४८. गीता प्रबन्ध - अरविन्द सोसायटी पाण्डिचेरी, १९६९

४९. गीता नवनीत - वासुदेवशरण अग्रवाल, (गीता की नवीन व्याख्या, मूल और अनुवाद) श्री गोपीनाथ अग्रवाल कोठी, शिवाजी मार्ग, लखनऊ १९६४

५०. गीता नवनीत, भाग-१ - सुरणवश लाल, श्री अरविन्द पुस्तकालय, रेलवे रोड, पो० हापुड, मेरठ १९५५

५१ ज्ञान योग का तत्त्व - जयदयाल गोयन्दका गीता प्रेस, गोरखपुर

५२. गीता तत्त्वबोध (पहला भाग) - बालकोवा भावे सर्व-सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी, १९७२

५३ गीता विज्ञान भाष्य भूमिका - मोतीलाल शर्मा, भारद्वाज द्वितीय खण्ड, 'ग' विभाग कर्मयोग परीक्षा, सेठ सूरजमल जालान, स्मृति भवन पुस्तकालय न० १८६ चितरजन एवेन्यू, कलकत्ता, वि० स० १९९९

५४. गीता का व्यवहार दर्शन - सेठ राम गोपाल मेहता, किताब महल प्रा० लिमिटेड, रजिस्टर्ड आफिस, जीरो रोड, इलाहाबाद १९३७

५५. गीता विज्ञान भाष्य-भूमिका - मोतीलाल गौड, शर्मा प्रथम खण्ड - दि न्यू एशियाटिक वैदिक रिसर्च सोसायटी, प्रकाशन विभाग, विज्ञान मन्दिर, जयपुर सिटी ॥इण्डिया ॥ १९३९

५६. श्रीमद्.भगवद्गीता - श्रीकृष्ण पन्त अच्युत ग्रन्थ माला, कार्यालय, ललिताघाट वाराणसी, वसत पं० सं० २०२३

५७. श्रीमद्भगवद्गीता - हिन्दी व्याख्याकार – स्वामी श्री सनातन

५८. गीता परिशीलन - रामवतार

३९. गीता तात्पर्य - ईश्वरानन्द

६० गीता का व्यवहार दर्शन - आर० पी० मेहता, किताब महल, ५९ ए जीरो रोड, इलाहाबाद

६१. गीता तत्त्व विवेचनी - गीता प्रेस, गोरखपुर सं० २०२७

६२. गीता तत्त्वबोध - (श्रीमद्भगवद्गीता का सरल विवेचन) - बालकोवा भावे, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी, १९७३

६३. गीता तात्पर्य बोधिनी - शंकरानन्द अच्युत ग्रन्थमाला : काशी।

६४	भगवद्गीता एक नया अध्ययन	-	भगीरथ दीक्षित
६५.	रामचरित मानस	-	गोस्वामी तुलसीदास
६६.	श्रीमद्भागवत्	-	गोरखपुर गीता प्रेस
६७.	श्रीमद्भगवद्गीता का जीवन दर्शन	-	ब्रज विहारी निगम
६८.	श्रीमद्भगवद्गीता	-	एक यौगिक व्याख्या - शैलेन्द्र शर्मा, यूनिवर्सल केशव डांगरे जी महाराज ठाकुर प्रसाद, बुक सेलर, चौक, वाराणसी, १९८८
६९	श्रीमद्भगवद्गीता का योग	-	श्रीकृष्ण प्रेम, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागज, नई दिल्ली १९८९ ई०
७०.	भगवद्गीता	-	तैलंग
७१.	विष्णु विस्म, शेवविस्म एण्ड अदर सेक्सटस	-	भण्डारकर
७२.	डी० भगवद्गीता	-	डॉ० राधाकृष्णन
७३.	भारतीय दर्शन (भाग १ व २)	-	डॉ० राधाकृष्णन
७४.	द गीता एकार्डिग टु महात्मा गॉधी	-	महादेव देसाई
७५.	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	-	एम० हिरियन्ना
७६.	भारतीय दर्शन	-	चन्द्रधर शर्मा
७७.	गीता एण्ड इट्स कमेन्टेटर्स	-	एस० एच० ज्ञानवाला
७८.	कर्मयोग	-	स्वामी विवेकानन्द
७९.	भगवद्गीतोपनिषद्	-	मायानन्द चैतन्य
८०.	भारतीय दर्शन	-	डॉ० बी० एन० सिंह
८१	नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण	-	प्रो० संगम लाल पाण्डेय
८२.	वेद, वेदान्त और गीता	-	डॉ० अमरेन्द्र मिश्र

८३ सेन आयडिलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ - डॉ० राधाकृष्णन

८४ द भागवत गीता - ए० जे० बाम

८५. साख्यकारिका

८६ द थीइज्म ऑफ भगवद्गीता - राधाकृष्णन

८७ सिक्स सिस्टम ऑफ इण्डियन फिलासफी - मैक्समूलर

८८. आर्टिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलासफी - सी० डी० शर्मा

८९. गीतारवाणी का हिन्दी अनुवाद (गीतोपदेश) - अनिल वरुण राय

९० द भगवद्गीता - डब्ल्यू० डोवगल्स पी० हिल

९१. सर्वदर्शन संग्रह - रामानुज

९२. द भगवद्गीता एण्ड मार्डर्न स्कालरशिप - एम० सी० राय

९३. द भागवद्गीता - फ्रेंकलीन एडगरटन

९४. सर्वधर्म संग्रह - उमाशंकर शर्मा

९५. एस्से ऑन द गीता - अरविन्द

९६. नैतिक शिक्षा और बाल विकास - सुरती, उर्वशी

९७. दी कानसेप्टस ऑफ रिलीजन इन महाभारत - त्रिखा, उषारानी

९८. मनुस्मृति - मनु

९९. बौद्ध दर्शन और वेदान्त - सी० डी० शर्मा

१००. भारतीय दर्शन - एन० के० देवराज

१०१ भारतीय सस्कृति और साधना (प्रथम खण्ड) - महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

१०२ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन - भरत सिंह उपाध्याय

१०३. भारतीय दर्शन का इतिहास - एस० एन० दास गुप्त

१०४. बौद्ध दर्शन मीमासा (भाग १ व २) - बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्या भवन, चौंक, बनारस, १९५४

१०५. बौद्ध दर्शन - राहुल साकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद

१०६. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन, राजस्थान, प्राकृत भारती सस्थान, जयपुर १९८२

१०७. बौद्ध दर्शन और वेदान्त - चन्द्रधर शर्मा स्टूडेन्ट्स फ्रेण्डस, वाराणसी

१०८. बौद्ध दर्शन - आचार्य नरेन्द्र देव बिहार, राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, वि० स० २०१३

१०९ बौद्ध दर्शन मीमासा - प० बल्देव उपाध्याय चौखम्भा, विद्या भवन, वाराणसी, १९७८

११०. विनय पिटक ॥अनु० ॥ - राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ वाराणसी, १९३५

१११. धम्म पद (हिन्दी संस्करण) - डॉ० राधाकृष्णन, कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस, १९५०

११२. धम्मपद - राहुल साकृत्यायन

११३. धम्मपद - धर्मानन्द कौशाम्बी

११४. धम्मपद - अनु० संपा० भिक्षु धर्म रहित प्रका० मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी

११५. निर्वाण - लुइ द वाले पुसे कृत सन् १९२५

११६. धम्मपद - अनु० सपा० भिक्षु धर्म रहित प्रका० मोतीलाल, बनारसी दास, वाराणसी

११७. धम्मपदट्ठकथा - बुद्ध घोष

११८. निर्वाण - लुई द वाले पुसे सन् १९२५

११९. बौद्ध धर्म दर्शन - आचार्य नरेन्द्र देव बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, वि० स० २०१३

१२० बौद्ध धर्म दर्शन - राहुल, किताब महल, इलाहाबाद

१२१. धम्मपद - अनु० स० भिक्षु धर्म रहित, प्रका० मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी

१२२ बुद्धिज्म - वासिलीफ कृत

१२३. बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेसन - वारन कृत

१२४. बुद्धिस्ट कास्मोलॉजी - मेक गवर्न कृत

१२५. बुद्धिज्म स्टडी एन्ट मटीरिया - पुर्से कृत

१२६. मूल माध्यमिक कारिका - नागार्जुन, सपा० पूसीन, बुद्धिस्ट ग्रन्थमाला-४

१२७. मज्झिम निकाय पट्ठ कथा - बुद्ध घोष

१२८. धम्म पदं - भदत्त आनन्द कौसल्यायन, मन्त्री, भिक्ख प्रकाशन, दीक्षा भूमि, नागपुर

१२९. धम्म पदं - त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्म रक्षित, प्रका० मेसर्स खेलाडी लाल, संकठा प्रसाद, के० ६१/८२ बुलानाला, वाराणसी

१३०. धम्म पद - कन्छेदी लाल गुप्त १९६८ प्रका० चौखम्भा भवन वाराणसी सस्करण-प्रथम, वि० सवत् २०२५

१३१ धम्म पद - विनोद चन्द्र पाण्डेय, सिद्धार्थ पब्लिकेशन्स, डी० सी० स्कीम (ओखला इन्डस्ट्रीज एरिया फेज), नई दिल्ली

१३२. धम्म पदं (नव संहिता) - सम्पादक विनोबा भावे, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी

१३३. प्राकृत धम्मपद - सम्पादक, डॉ० भाग चन्द्र जैन 'भाष्कर' प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

१३४. परमानन्द प्रकाश - संकलन कर्ता एवं व्याख्याकार प्रो० राम कुमार त्रिपाठी कुलपति महात्मा गॉधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी १९९६

१३५ मैनुवल ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म - डॉ० केर्न

१३६. लक्ष्मी तन्त्र धर्म और दर्शन - ले० डॉ० अशोक कुमार कालिया

१३७ मीमासा दर्शन - प० श्रीराम शर्मा आचार्य

१३८ धम्मपद - त्रिपिटकाचार्य भिक्षुधर्म रक्षित

१३९ खुद्दक पाठ-धम्मपद - उदान पालि-धम्मगिरि

१४०. धम्मपद अट्ठकथा - प्रथमो भागो विपश्यना शोध सस्थान इगतपुरी १९९५

१४१ धम्म पद-अट्ठकथा - नथमल टाटिया

१४२. धम्म पद - सम्पादक एव भाषान्तरकार छिमेद रिग जिन लामा

अंग्रेजी सहायक ग्रन्थों की सूची

1	A History of Dhammpada	–	P.B. Kane
2.	A Manual of Buddhi	–	Mrs Rhys & Davids
3.	The Central Conception of Buddhism–Th. Stcherbatsky		
4	The Soul Theory of the Buddhists	–	(Bharatiya Vidya Prakashan Varanasi)
5.	Aurbindo	–	Essays on Gita & Life Divine, Pandicherry (Sri Aurbindo Ashram)
6.	Eliot (Sir) Charles	–	Hinduism & Buddhism, 3 Vols, Rauledge - Kegan Paul, London 1954
7	Parriender Geoffney	–	Upnisada, Gita & Bible faver & Faver, 24 Russell Square London.
8.	Radha Krishnan	–	The Bhagwat Gita London George Allen & Unwin Ltd. 1948
9.	Winster, L. King	–	Buddhism & Christianity, Some Bidges of Unders George Allen & Unwin Ltd. London 1962
10.	Bhave, Vinoba	–	Talks on the Gita . Ruskin, House George Allen & Unwin Ltd. Museum Street, 1960
11.	Janwalla, Jayantilal S.	–	Gita The Science of Living Motilal Banarasi Das. Chawk, Varanasi, 1984

12	Neel Alexandra David	–	Buddhist
13	Keith, A.B	–	Buddhist Philosophy
14	Mookerjee	–	Satkari – Buddhist Philosophy Calcutta University 1935
15	Sogen Yamakami Stcherbatsky		
			(i) Buddhist Logic–Two Vols 1935 New Yark
			(ii) Central Conception of Buddhist London 1923
			(iii) conception of Budhist Nirvana Ceningrad 1927
16	Bhattacharya Siddheshwer	–	The Philosophy of Srimad Bhagwatgita (2 Vols)
			Vshwa Bharti Shanti Niketan 1960-1962
17	Coomar Swami Anand, K	–	Hinduism and Buddhism, New Yark
			The Philosophical Library, (Ins)
18.	De Nicola Artorio, T.	–	The Problem of Self and Body in Bhagwatagita In
			Philosophy East and West 29, 1979
19.	Devtsch Eliot	–	The Bhagwatgita, New Yark, Hott Rinehart and Winston 1968
20.	Methur, D.C.	–	The Concept of Action in Bhagwadgita In Philosophy
			and Phenamenalogical Research, 35, 1974
21.	**Indian Philosophy**	–	Dr. C D Sharma
22	Concepts of Dhamma in		
	Dhammapada	–	Bhikkuni T.V. Tinlien
23	The Dhammapada	–	Nikunja Vihari Banerjee
24.	Prakrit Dhammapada	–	Benimadhav Baruna
25.	Dhammapada	–	Narada Thera

26 The Dhammapada – Thomas Cleary

27 Dhammapada – O Von Hinuber & K R. Norman

28 The Dhammapada – Verses & Stories translated by Daw My a Tin

29. Dhammapada – Vanerable Achary

30 The Dhammapada – Verses & Stories Translated by Daw Myatin

31. The Dhammapada – Tolk Austin

32. Dhammapada – (Wisdom of the Buddha) Translation by Haris chand Kaviratna

33 The Dhammapada – K. Sri Dhammananda

34 Dhammapada – P Khantipalo

35 Dhammapda – L K. Raja

36. Dhammapada – T. Byrom

37. The Buddhist Hybrid
Sanskrit Dharmapada – N.S Shukla

38 Dhammapada – Somuel Beal

39. DhammapadarthaKatha Vol. I – H C Nosman

40. DhammapadarthaKatha Vol II – H.C. Norman

41 DhammapadarthaKatha Vol III – H C. Norman

42 The Dhammapad Translated by P. Lal

43. The Dhammapada – Narada Thera

44. The Dhammapada – S. Radha Krishanan

45. The Bhagavadgita – Abhay Krishna Bandyopadhyay

46 Lal R.B. - The Gita in the Light of Modern Science,

Somai Publication Pvt Ltd Bombay, 1970

47 More, Dr S B - The Gita A Theory of Human Action

Sri Satguru Publications, Delhi - 110007, 1990

JOURNALS

1. The international Journal of Ethics- Vol XL,III, 1932, 33 Jan 1933, 33 The University of Chicago

2 Canney - Encyclopaedia of Religion & Ethics London, George Routled & Son's Ltd

New Yark E P Dutton & ED. 192

3 Edward Paul (edt) - The Encyclopedia of Philosophy

The Macmillan Co. & The Free Press New Yark, 1967

4. Hasting James - Encyclopedia of Religion & Ethics Endinbirgh T & T Clark, 38 George St

New Y0rk. Charles Scribner's sons, 574, 7th Avenue, 1955

5. The Journal of the Order of Buddhist Contemplatives Valume 14 Number 1 2543 B E

(Spring 1999) U.S.A.

6 Buddhist Studies Review Vol 16 No 2 (1999)

Linh - So'n Buddhist Association 76 Beulah Hill Upper Narwood London SE 19 3 EW

7 Journal of the International Asociation of Buddhist Studies - Volume-21 Number-2, 1998

8. Buddha Dhyana Dana Review Volume-9 No 3, 1999 ISSN 0818-8254 (Australia)

9 Buddhism - Rhye onvids.

सहायक कोष ग्रन्थ

१ Dictionary of Pali Proper Names Vol I

२. दर्शन कोष — प्रगति प्रकाशन मास्को

३. भगवद्गीता विवेचनात्मक शब्दकोष — प्रहलाद

पत्र-पत्रिकायें

१. कल्याण-सन्त अक सं० १९९४, गीता प्रेस, गोरखपुर

२ कल्याण, परलोक और पुनर्जन्माङ्क, १९६९

३. कल्याण भक्ति अक, स० २०१४

४. कल्याण-हिन्दू सस्कृति अक-सं० २००६

५ कल्याण-उपनिषद् अंक, स०-१ वर्ष १५

६. कल्याण-निष्काम कर्मयोग १९८०

संक्षेप-संकेत

अरण्य	-	अरण्य काण्ड
अयोध्या	-	अयोध्या काण्ड
आदि	-	आदि पर्व
ईश	-	ईशोपनिषद्
उत्तर	-	उत्तर काण्ड
क० पर्व	-	कर्ण पर्व
कठ०	-	कठोपनिषद्
किष्कि०	-	किष्किन्धा काण्ड
गीता०	-	श्रीमद्भगवद्गीता
छा० उ०	-	छान्दोग्योपनिषद्
ता० ब्रा०	-	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० आ०	-	तैत्तिरीयारण्यक
तै० स०	-	तैत्तिरीय सहिता
दक्ष०	-	दक्ष स्मृति
वृह० उ०	-	वृहदारण्यकोपनिषद्
मनु०	-	मनुस्मृति

म० भा० शा०	-	महाभारत शान्ति पर्व
मुण्ड०	-	मुण्डकोपनिषद्
याज्ञ०	-	याज्ञवल्क्य स्मृति
युद्ध०	-	युद्ध पर्व
शान्ति०	-	शान्ति पर्व
स० म० भा०	-	सक्षिप्त महाभारत
ऋक्	-	ऋग्वेद
भ० गी०	-	भगवद् गीता
क० प्र०	-	कप्प माणव प्रच्छा
न० प्र०	-	नन्द माणव प्रच्छा
पा० व०	-	पाटिलिगसिप वग्गो
महा० सु०	-	महावियूह सुत्त
माग० सु०	-	मागन्दिय सुत्त
म० त०	-	महेश्वर तन्त्र
श्वे० उप०	-	श्वेताश्वतरोपनिषद्
तै० उ०	-	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० ब्रा०	-	तैत्तिरीय ब्राह्मण
श्रीमद्०	-	श्रीमद्भगवद्गीता
यो० सू०	-	योग सूत्र
ल० त०	-	लक्ष्मी तन्त्र
सा० का०	-	सांख्य कारिका
ब्र० सू०	-	ब्रह्म सूत्र

उप०	-	उपनिषद्
वि० पु०	-	विष्णु पुराण
भा०	-	भागवत
शुक्र०	-	शुक्रनीति
सु० नि०	-	सुत्त निपात
शु० य०	-	शुक्ल यजुर्वेद
शा० प०	-	शान्ति पर्व
ई० उ०	-	ईशावास्योपनिषद्
मज्झिम०	-	मज्झिम निकाय
सयुक्त०	-	सयुक्त निकाय
दीघ०	-	दीघ निकाय
धम्म०	-	धम्मपद